भारत सरकार के शिक्षा मंत्रणालय के लिए
हिन्दी-समिति, उत्तर-प्रदेश शासन द्वारा प्रस्तुत

शासन पर दो निबन्ध

मूल लेखक
जॉन लॉक

अनुवादिका
श्रीमती सरला मोहनलाल

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

भारतीय संविधान के अनुसार हिन्दी इस देश की राजभाषा घोषित हो चुकी है। धीरे-धीरे राजकार्य हिन्दी में होने लगा है, पर जब तक राजभाषा का वाङमय समुन्नत न हो राष्ट्रीय और अन्ताराष्ट्रीय कामों में कठिनाई पड़ती ही रहेगी। पिछले कई वर्षो से भारत सरकार का शिक्षा मंत्रणालय हिन्दी को प्रोत्साहन देने तथा उसकी संवृद्धि में सहायता करने के लिए प्रयत्न करता रहा है। हिन्दी वाङमय के विविध अंगों की पूर्ति तभी हो सकती है जब हमारे विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली ऊँची से ऊँची शिक्षा हिन्दी के माध्यम से हो। पर यह तभी सम्भव हो सकता है जब अध्यापकों और अध्येताओं को प्रत्येक विषय की पुस्तकें हिन्दी मे उपलब्ध हों। इस उद्देश्य की पूर्ति और ऐसी ही सुविधा प्रदान करने के लिए शिक्षा मंत्रणालय ने एक योजना बनायी है जिसके अनुसार अंग्रेजी के कुछ चुने हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद कराने तथा उसे प्रकाशित करने का कार्य कतिपय विश्वविद्यालयो और राज्य सरकारों के सुपुर्द कर दिया गया है। इस संबंध में होनेवाला सारा व्यय भी भारत सरकार का शिक्षा मंत्रणालय वहन कर रहा है। योजना के अनुसार लगभग २०० पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का निश्चय हुआ है। इन दो सौ पुस्तकों में से ५० पुस्तकों के अनुवाद और प्रकाशन का काम उत्तर प्रदेश शासन की देखरेख में यहाँ के विश्वविद्यालयों और उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी-समिति के सहयोग से होगा।

भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि हिन्दी वाङमय की यह प्रगति आगे चलकर किसी भी दशा में अवरुद्ध न हो जाय इसलिए पुस्तक प्रकाशन की इस योजना की अपनी एक अलग निधि होगी और इस प्रकार प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री की आय बराबर इसी कोष में जमा होती रहेगी। आशा है, कालान्तर में यह कोष इस कार्य के लिए स्वयं समर्थ कोष सिद्ध हो सकेगा। हम यह भी आशा करते है कि भारत सरकार के इस निश्चय की सराहना होगी और हिन्दी-भाषी जनता और देश के विश्वविद्यालय इससे लाभ उठायेंगे।

दो शब्द प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में भी कहना आवश्यक जान पड़ता है। जॉन लॉक की पुस्तक "सिविल गवर्नमेंट" की ख्याति और उपयोगिता सर्वविदित है।

प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में यह पुस्तक अनिवार्यतः राजनीति के विद्यार्थियों द्वारा पढ़ी जाती है। ऐसी उपयोगी पुस्तक का हिन्दी में अभाव खटकनेवाली बात है। अनुवाद की इस योजना में हमारा यह पहला प्रकाशन है। हम इसके माध्यम से हिन्दी जनता के सम्मुख अपनी योजना और प्रकाशन की उपयोगिता तथा उसकी उत्तमता को स्पष्ट करने में समर्थ होंगे, ऐसी आशा करना अनुचित न होगा।

भगवतीशरण सिंह,
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

भूमिका

जीवन और काल

जॉन लॉक का जन्म इंग्लैण्ड के सॉमरसेट काउन्टी में रिगटन नामक स्थान में २९ अगस्त, सन् १६३२ ई० को हुआ था। उसकी मृत्यु सन् १७०४ में हुई। लॉक के जीवन-काल में इंग्लैण्ड का गृह-युद्ध (Civil War) रेस्टोरेशन, रक्तहीन क्रांति और उसके पश्चात् संवैधानिक शासन की स्थापना जैसी प्रसिद्ध राजनीतिक घटनाएँ हुई। जॉन के पिता की मृत्यु जॉन की युवावस्था में हो गयी। अपने जीवन में जॉन का स्वास्थ्य अधिकांशतः अच्छा नही रहा। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा वेस्ट मिस्टर स्कूल में हुई यहाँ उसने क्लैसिक्स का अध्ययन किया और विज्ञान में रुचि उत्पन्न की जो उसके जीवन पर्यन्त कायम रही। इसके पश्चात् सन् १६५२ मे वह क्राइस्टचर्च आक्सफोर्ड में उच्च शिक्षा के लिए गया। वहाँ उसने सन् १६५५–५६ में बी० ए० और सन् १६५८ में एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। छः मास पश्चात् वह क्राइस्टचर्च में 'सीनियर स्टूडेन्ट' नियुक्त हो गया। सन् १६६० में उसे ग्रीक का और सन् १६६२ में काव्यशास्त्र (Rhetoric) का रीडर नियुक्त किया गया। १६६३ में वह १६६४ के लिए नीतिदर्शन का सेन्सर नियुक्त हुआ।

बौडलीयन लाइब्रेरी, ऑक्सफोर्ड, में लवलेस कलेक्शन (Lovelace collection) के नाम से प्रसिद्ध लॉक के जीवन तथा रचनाओं से संबधित अत्यन्त बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है। यह सामग्री अबतक लार्ड किंग (जो रिश्ते में लॉक का भाई लगता था) के वंशजों के अधिकार में थी। इस संग्रह से लॉक के जीवन तथा उसके दर्शन के विषय में हमारे ज्ञान की विशेष अभिवृद्धि हुई है। लॉक के जीवन-काल में प्रकाशित उसकी कई कृतियाँ मिली हैं जिनसे उसके दार्शनिक और राजनीतिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है।[1] उसके द्वारा तैयार किये गये तर्कशास्त्र और चिकित्सा शास्त्र पर नोट भी प्राप्त हुए है, जो चिकित्सा-शास्त्र में उसकी प्रारम्भिक अभिरुचि प्रकट करते हैं।

1. देखिए Dr. W. Von Leyden द्वारा सम्पादित Essays on the Law of Nature (Oxford, 1954)

चिकित्सा-शास्त्र में लॉक की यह रुचि आगे चलकर और भी अधिक प्रबल हुई और उसने इस विषय का विश्वविद्यालय में विस्तृत अध्ययन किया। लवलेस कलेक्शन में कुछ ऐसे भी पत्र हैं जो लॉक के विश्वविद्यालय सम्बन्धी प्रारम्भिक दिनों में स्त्रियों के साथ प्रेम-व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं। १६६० के बाद आक्सफोर्ड में लॉक दर्शन एवं तर्कशास्त्र का अध्ययन करता रहा। अपने विद्यार्थियों को वह सिसरो, बोदाँ और ग्रोशस पढ़ने की सलाह देता था। स्वयं उसने स्पिनोजा का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त वह अपने मित्र राबर्ट बॉयल के प्रकाशनों को ध्यानपूर्वक देखता रहा। इसके बाद उसने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। समय-समय पर वह चिकित्सा का कार्य करता रहा, किन्तु उसने कभी इसे स्थायी पेशा नहीं बनाया।

इसी बीच लॉक ब्रैडेनबर्ग को भेजे गये Diplomatic mission का सचिव नियुक्त किया गया। इस मिशन से लौटने पर लॉक को एक दूसरा राजनयिक पद दिया गया, किन्तु उसने इन्कार कर दिया। इसके पश्चात् वह लार्ड ऐशले के सम्पर्क मे आया जो आगे चलकर प्रथम अर्ल आफ शैफ्ट्स्बरी (Shaftesbury) हुआ। यह मित्रता शैफ्ट्स्बरी के जीवन पर्यन्त रही और दोनों के जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। लॉक ऐशले का चिकित्सक रहा। कहा जाता है कि लॉक ने आपरेशन के द्वारा ऐशले के सीने के फोड़े को अच्छा किया। कारोलीना (Carolina) के नये उपनिवेश के लिए लॉक ने एक संविधान भी तैयार किया। इसके अतिरिक्त वह ऐशले के पुत्र का शिक्षक भी था और उसने उसके लिए एक पत्नी भी तलाश की। सन् १६७२ में ऐशले इंग्लैण्ड का लार्ड चान्सलर हुआ। उसने अपने अधीन चर्च सम्बन्धी विषयों में सलाह के लिए लॉक को सचिव नियुक्त कर लिया। एक साल बाद शैफ्टसबरी इस पद से अलग कर दिया गया।

लॉक भी अपने पद से हटा दिया गया। किन्तु शैफ्ट्स्बरी की मदद से उसको कोई आर्थिक कष्ट नहीं हुआ। क्राइस्टचर्च में वह अध्ययन, अध्यापन का कार्य करता रहा।

१६७५ में स्वास्थ्य की खराबी के कारण लॉक को इंग्लैण्ड छोड़कर फ्रांस जाना पड़ा। वह चार वर्ष फ्रांस में भ्रमण और अध्ययन करता रहा। वहाँ उसने प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट के विचारों का विशेष अध्ययन किया और उसके अनुयायियों के सम्पर्क में आया। दूसरा फ्रांसीसी दार्शनिक जिसका लॉक पर प्रभाव पड़ा गैसेन्डी था, पेरिस में जिसके शिष्य बर्नियर से लॉक की मित्रता हो गयी।

सन् १६७८ में शैफ्टस्बरी ने पुनः राजनीतिक शक्ति प्राप्त की और प्रिवी काउन्सिल के लार्डप्रेसीडेन्ट के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। लॉक ने फ्रांस से लौटने के बाद फिर

शैफ्ट्स्बरी की नौकरी की। आधुनिक विशेषज्ञों का कहना है कि लॉक शैफ्ट्स्बरी की मदद के लिए ही फ्रांस से १६७९ में बुलाया गया। किन्तु शीघ्र ही शैफ्ट्स्बरी फिर पदच्युत कर दिया गया। कुछ दिनों तक वह सरकार का विरोध करता रहा। अन्त में उसे हालैण्ड में शरण लेनी पड़ी जहाँ सन् १६८३ में उसकी मृत्यु हो गयी। इस बीच लॉक को भी सरकार शंका की दृष्टि से देखती रही। लॉक ने सतर्कता से अपने को किसी प्रकार के षड्यंत्र में पकड़े जाने से बचाया। अपने राजनीतिक विचारों को उसने खत्म नहीं किया, किन्तु शैफ्ट्स्बरी की अनुपस्थिति में उसने अपने जीवन को अरक्षित पाया और हालैण्ड भागकर शरण ली। इसी बीच क्राइस्टचर्च से उसका नाम काट दिया गया। इसके बाद लॉक राजद्रोहियों की सूची में दर्ज हो गया और डच सरकार से प्रार्थना की गयी कि उन ८५ अंग्रेजों को जिनमें लॉक भी सम्मिलित था और जिन्होंने अपने राजा के विरुद्ध षड़यंत्र किया था, लौटाया जाय। डच सरकार को इंग्लैण्ड की कैथोलिक सरकार से सहानुभूति नहीं थी, अतः उसने इन तथाकथित अपराधियों को पकड़ने का प्रयत्न नही किया। अतः लॉक के लिए विशेष खतरा नहीं था। किन्तु वह बहुत डर गया और कुछ दिनों तक दूसरा नाम (Dr. Vander Linden) धारण किये रहा। बाद को उसका नाम राजद्रोहियों की सूची से निकाल दिया गया। किन्तु फिर भी लॉक ने अपनी सतर्कता कायम रखी।

इस बीच जेम्स को गद्दी से हटाने का प्रयत्न हो रहा था। लॉक ने भी उस तैयारी में भाग लिया। सन् १६८८ की क्रांति के साथ ही लॉक पुनः इंग्लैण्ड वापस आ गया। दो वर्ष तक वह वेस्टमिन्स्टर में रहा जहाँ वह अपनी दार्शनिक कृतियों के प्रकाशन की तैयारी करता रहा। इन्ही दिनों वह कई सरकारी पदों पर भी रहा। अपने जीवनके अंतिम दिन उसने ओट्स में लेडी मैसन और उसके परिवार के साथ व्यतीत किये।

रचनाएँ

लॉक पश्चिम के दार्शनिक और राजनीतिक चिंतकों में अत्यन्त उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक An Essay Concerning Human Understanding सन् १६९० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का यूरोप के दर्शन शास्त्र के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बर्कले, ह्यम, कांट, रीड जैसे दार्शनिकों पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। उसके द्वारा उठाये गये प्रश्नों ने उसके बाद के दर्शन-शास्त्र के विकास की दिशा निर्धारित की।

लॉक की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी टू ट्रीटिजेज़ ऑफ़ सिविल गवर्नमेंट' सन् १६९०

में ही अशुद्ध संस्करण में प्रकाशित हुई। उस पर लेखक का नाम नही था। यद्यपि लॉक के समकालीन कई व्यक्तियों को यह ज्ञात था कि यह कृति उसी की है, किन्तु वह इसको गुप्त रखने का प्रयत्न बहुत दिनों तक करता रहा। इसका कारण यह था कि उसे यह आशंका थी कि यदि स्टुअर्ट राजा पुनः शासनारूढ हो जायेंगे तो 'दी टू ट्रीटिज़ेज आफ सिविल गवर्नमेंट' के लेखक को दण्ड भोगना पडेगा। १६९४ में पहले संस्करण की सब प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और दूसरा संस्करण निकला, किन्तु लॉक को वह पहले संस्करण से भी अधिक असन्तोषप्रद जान पड़ा। १६९८ में तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, किन्तु लॉक उससे भी संतुष्ट नहीं था। जब उसको यह स्पष्ट हो गया कि उसके जीवन-काल में पूर्णरूप से सन्तोषजनक संस्करण प्रकाशित नहीं हो पायेगा तो उसने यह व्यवस्था कर दी कि 'मेरी मृत्यु के बाद लोगों को मेरी पुस्तक का शुद्ध रूप प्राप्त हो सके।' प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति को उसने ध्यानपूर्वक ठीक किया। सन् १७१३ में चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें लॉक के द्वारा वांछित सुधार समाविष्ट (incorporate) कर लिये गये। अठारहवीं शताब्दी के अन्य प्रकाशन धीरे-धीरे इस प्रामाणिक पाठ से दूर होते गये, किन्तु १७६५ में छठा संस्करण निकला जो लॉक द्वारा सुधारे गये पाठ पर आधारित था। अब तक जितने संस्करण प्राप्त हुए है उनमें यही सबसे प्रामाणिक समझा जाता है।

'दी टू ट्रीटिजेज़ ऑव सिविल गवर्नमेंट' के प्राक्कथन में लेखक ने यह मत प्रकट किया है कि यह पुस्तक सम्राट् विलियम के सिंहासनारूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसके साथ-साथ पुस्तक के प्रकाशन की तिथि और उसमें वर्णित कुछ घटनाओं के आधार पर यह परम्परागत धारणा बन गयी है कि इसकी रचना सन् १६८८ के बाद की है। राजनीतिशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में प्रायः यह लिखा हुआ पाया जाता है कि लॉक का राजनीतिक चिन्तन १६८८ की क्रांति का ही सैद्धान्तीकरण (theorization) है। किन्तु आधुनिक विशेषज्ञ इस मत को भ्रमपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि यह सत्य है कि इस पुस्तक के कतिपय अंश सन् १६८९ में लिखे गये थे, किन्तु उसकी मौलिक कल्पना इस क्रान्ति के बहुत पहले की है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० पीटर लास्लेट के अनुसार टू ट्रीटिज़ेज़ वास्तव में भावी क्रांति की माँग है, न कि घटित क्रांति को उचित सिद्ध करने का सिद्धान्त।[1] इस विद्वान् के

1. "Two Treatises in fact turns out to be a demand for revolution to be brought about, not the rationalization of a revolution in need of defence" John Locke, *Two Treatises of Government*. प्रस्तुत लेखक प्रो०

अनुसन्धान, जो केम्ब्रिज हिस्टारिकल जर्नल (मार्च, सन् १९५६) में प्रकाशित हो चुके है, यह सिद्ध करते हैं कि कुछ अंशों को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण पुस्तक सन् १६८३ के पूर्व तैयार हो चुकी थी। पुस्तक का प्रारम्भ सन् १६७९ में हुआ था। किन्तु लॉक ने पहले सेकेन्ड ट्रीटिज लिखना प्रारम्भ किया न कि फर्स्ट। सन् १६८० में उसने फर्स्ट ट्रीटिज़ लिखना आरम्भ कर दिया। इसका कारण यह था कि जनवरी सन् १६८० में फिलमर कीं पैट्रीआर्का प्रकाशित हुई।

लॉक को यह प्रतीत हुआ कि फिलमर का प्रभाव बढ़ रहा है, अतः उसके विचारों का खण्डन आवश्यक है। लॉक ने फर्स्ट ट्रीटिज में विस्तारपूर्वक फिलमर के सिद्धान्तों की आलोचना करने का निश्चय किया। सन् १६७९ में भी सेकेण्ड ट्रीटिज़ के लिखने का तात्कालिक ध्येय फिलमर की आलोचना ही था, किन्तु बाद में लॉक को वह पर्याप्त नही जान पड़ी। लॉक के मित्र जेम्स टीरेल ने भी इसी समय फिलमर के सिद्धान्तों के खण्डन करने का संकल्प किया। जैसा प्राक्कथन से ज्ञात होता है, लॉक की प्रकाशित पुस्तक में बहुत से अंश नहीं हैं। दूसरे शब्दों में प्राप्त पुस्तक अपूर्ण है, यद्यपि उसमें मुख्य-मुख्य बातें आ गयी हैं।

उपर्युक्त प्रसिद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त लॉक की अन्य कृतियाँ भी है। १६८९–९३ के बीच उसने (Letters Concerning Toleration)प्रकाशित किया। लेडी मैंडम के साथ रहते हुए उसने Thoughts Concerning Education लिखा। आंग्ल शिक्षा-पद्धति पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। लॉक की मृत्यु के बाद उसकी कई कृतियां संकलित करके प्रकाशित की गयीं। हाल मे बहुत-सी रचनाएं लवलेस कलेक्शन में प्राप्त हुई है जिनमें लॉक की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं। इन प्रारम्भिक रचनाओं में प्रमुख Essays on the law of Nature है जिन्हें श्री डब्ल्यू० वान लीडन ने विस्तृत भूमिका के साथ सम्पादित किया है। (आक्सफोर्ड, १९५४)।

राजदर्शन

जैसा पहले कहा गया है, फर्स्ट ट्रीटिज़ में लॉक ने सर रॉबर्ट फिलमर के सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक खण्डन करने का प्रयत्न किया है। सेकण्ड ट्रीटिज़ में उसने अपने निजी सिद्धान्त की अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से स्थापना की है। अतः हम कह सकते हैं कि फर्स्ट ट्रीटिज प्रधान रूप से आलोचनात्मक है और सेकण्ड ट्रीटिज़ सर्जनात्मक।

लास्लेट का आभारी है जिन्होंने शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली अपनी इसी पुस्तक की डमी उसके पास भेजने की कृपा की है।

किन्तु यह स्पष्ट है कि अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भी लॉक ने एक सिद्धान्त विशेष के विरोध में ही किया। नवीनतम अनुसन्धानों से यह पता चलता है कि इस पुस्तक के दोनों भाग एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। प्रायः कहा जाता है कि लॉक का वास्तविक शत्रु हाब्स था जिसका खण्डन उसने फिल्मर की ओट में किया। फिल्मर को इसलिए चुना गया कि हाब्स की अपेक्षा उसको धराशायी करना आसान था। आधुनिक लेखकों को यह तर्क मान्य नहीं है।[1] उनका कहना है कि जिस समय लॉक ने अपनी पुस्तक की रचना की उस समय फिल्मर का प्रभाव अधिक था, न कि हाब्स का। लॉक ने सोच-समझकर फिल्मर को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया क्योंकि उस समय प्रश्न यह था कि संवैधानिक राजतन्त्र को दैवी अधिकार युक्त राजतन्त्र के विरुद्ध उचित ठहराया जाय। फिल्मर ही दैवी अधिकार के सिद्धान्त का सबसे प्रबल समर्थक था। इसके अतिरिक्त लॉक का यह ढंग नहीं था कि वह जिसकी आलोचना करे उसका नाम न दे। जहाँ कहीं भी उसने किसी विपक्षी का खण्डन किया है वहाँ विस्तारपूर्वक उसके वाक्यों को उद्धृत किया है। वह प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना चाहता था। इसके लिए हाब्स की आलोचना युक्तिसंगत नहीं थी, क्योंकि हाब्स ने भी इसी सिद्धान्त के आधार पर निरंकुशता का समर्थन किया था। यद्यपि यह सत्य है कि जहाँ तक संवैधानिकता के विरोध या निरंकुशता के समर्थन का प्रश्न है, हाब्स और फिल्मर एक ही कोटि में आते हैं और इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि लॉक ने फिल्मर और हाब्स दोनों के सिद्धान्तों का विरोध किया। किन्तु जिस रूप में उसने निरंकुशता का खण्डन किया उसको ध्यान से देखने से स्पष्ट होता है कि उसके सामने फिल्मर के ही तर्क विद्यमान थे। लॉक ने फिल्मर की धार्मिक आस्थाओं और उसकी रहस्यवादिता तथा परम्परावादिता के विरुद्ध अपने बुद्धिवाद को सामने रखा। इन सब बातों के अतिरिक्त उस समय लॉक को उपलब्ध पुस्तकों तथा उसके लिखे हुए नोटों से यह नहीं प्रतीत होता कि उसने हाब्स का विस्तृत अध्ययन किया था। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि न केवल फर्स्ट ट्रीटिज़ में अपितु सेकण्ड ट्रीटिज़ में भी लॉक की आलोचना का विषय प्रधान रूप से फिल्मर ही था।

प्रायः कहा जाता है कि फिल्मर के विचार बिल्कुल तर्कहीन और निरर्थक थे। उसका नाम केवल इसीलिए जीवित है कि लॉक जैसे महान् विचारक ने उसे अपनी आलोचना का विषय बनाया। यह कथन भी अतिरञ्जित और भ्रामक है। फिल्मर

1 देखिए Thomas I. Cook, *Two Treatises on Government*, New York, 1947, Introduction. तथा Peter Laslett, *op. cit*.

की पुस्तक में बहुत-सी बातें अवश्य ही सारहीन थीं और लॉक ने उनको सदैव के लिए नष्ट कर दिया। उसका यह कहना बिलकुल ठीक था कि राजसत्ता पैतृकसत्ता से भिन्न है और आदम के अपनी सन्तानों पर असीमित अधिकार के आधार पर आधुनिक शासकों की निरंकुशता को उचित सिद्ध करने का प्रयास हास्यास्पद है। यदि राज-सत्ता और पैतृक अधिकार का तादात्म्य स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह जानना बड़ा कठिन है कि कौन राजा आदम की वंश परम्परा में आयेंगे। फिर संस्थाओं की ऐतिहासिक उत्पत्ति से उनका नैतिक औचित्य नहीं सिद्ध होता। किन्तु उसके अन्तर्गत कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी थे जिन पर लॉक ने ध्यान नहीं दिया, जैसे समाज का ऐतिहासिक तारतम्य और व्यक्ति तथा समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध इत्यादि।

सत्रहवीं और अठारहवीं शती के अन्य विचारकों की भाँति लॉक राजसत्ता के आधार की खोज प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) के वर्णन से प्रारम्भ करता है। प्राकृतिक अवस्था मूलतः राज्य के पूर्व की कल्पित अवस्था है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी अवस्था ऐतिहासिक तथ्य हो। हाब्स ने भी ऐसी अवस्था की कल्पना की है, किन्तु उसके लिए प्राकृतिक अवस्था ऐतिहासिक वास्तविकता न होकर केवल तार्किक प्रमेय (Logical Postulates) है। लॉक के कुछ वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि वह प्राकृत अवस्था की ऐतिहासिकता में विश्वास करता था, किन्तु ऐसा विश्वास उसके सिद्धान्त के विकास के लिए अनावश्यक है। प्राकृतिक अवस्था लॉक के लिए मुख्य रूप से राजनीतिक अवस्था का विलोम (anti thess) है।[1]

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर हैं और सब एक ही सर्वशक्तिमान और अनन्त बुद्धिसम्पन्न स्रष्टा की कृतियाँ हैं। समानता के अतिरिक्त प्राकृतिक अवस्था की दूसरी विशेषता मानव की स्वतन्त्रता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता नहीं है। प्राकृतिक अवस्था को नियंत्रित करनेवाला प्राकृतिक विधान है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नियमित करता है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकारी नहीं है, उसी प्रकार वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नही कर सकता। जहाँ उसका अपना जीवन संकट में नहीं है, उसे चाहिए कि यथाशक्ति दूसरों की जीवन-रक्षा का प्रयत्न करे। स्वतन्त्रता का

1. "The Concept of the state of natur is a normative device used by Locke to in dicate the deficiencies of all formes of social organization save that of civil society", G. W. Yolton, 'Locke on the Law of Nature', *Philosophical Review*, Vol. 67, 1958.

आधार बुद्धि है जो मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह प्राकृतिक विधान के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। लॉक के तम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का यही सार है।

चूँकि प्राकृत अवस्था प्राकृत विधान से नियमित है, इसलिए यह अवस्था हाब्स की प्राकृत अवस्था की भाँति अत्यन्त भयानक और संघर्षमय नहीं है। मनुष्य में स्वभावतः सामाजिकता विद्यमान है। यह अवस्था शान्ति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था है। इस अवस्था मे व्यक्ति के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य होते है। ये अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं। इन अधिकारों में लॉक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की चर्चा करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक विधान के अन्तर्गत इन अधिकारों का अपहरण करनेवालों को दण्ड देने का अधिकारी है। इस प्रकार प्राकृत अवस्था में कार्यकारिणी संबंधी अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। किन्तु मुआविजा (Compensation) लेने का अधिकार उसी व्यक्ति को प्राप्त है जिसके अधिकारों का अपहरण हुआ है।

प्राकृतिक विधान तथा मनुष्य की सामाजिकता के फलस्वरूप यद्यपि प्राकृतिक अवस्था शान्तिमय है तथापि प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृत विधान के लागू करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण न्याय में निष्पक्षता के अभाव की सम्भावना रहती है। दूसरे, प्राकृतिक विधान स्वयं अमूर्त है, जिसके कारण उसे पहचानने में कठिनाई होती है, जबकि व्यवहार में स्पष्टतः व्यक्त विधान की आवश्यकता है। तीसरे, प्राकृत विधान तथा उसके अनुरूप निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए कोई निर्दिष्ट संस्था नहीं है। ये ही प्राकृत अवस्था की असुविधाएँ हैं जिनके कारण उसकी शान्ति निरन्तर संकट में रहती है और उसका परित्याग करना पड़ता है। साथ ही, मनुष्य का जन्म अकेले रहने के लिए नहीं हुआ, वरन् ईश्वर ने उसे आवश्यकता, सुविधा एवं प्रवृत्ति के प्रबल बन्धनों के अन्तर्गत रख समाज की ओर प्रेरित किया तथा उसे बनाये रखने और उससे आनन्द प्राप्त करने के लिए मनुष्य को बुद्धि और भाषा से विभूषित किया।

प्राकृतिक अवस्था का जो वर्णन ऊपर किया गया है उसमें दो धारणाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी थोड़ी विस्तृत विवेचना यहाँ आवश्यक है। पहली धारणा प्राकृत विधान की है। प्राकृत विधान लॉक के राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है। राजनीति शास्त्र के इतिहास में यह धारणा अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वान इसका उद्गम प्लेटो और अरिस्टाटल से भी पूर्व बताते हैं, किन्तु स्टोइक (Stoic) विचारकों ने इस सिद्धान्त को सर्वदा के लिए राजदर्शन की परम्परा में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित कर दिया है। सिसरो (Cicero), सेन्ट टामस (S.T. Thomas), बोदां (Bodin),

ग्रोशियस (Grotius), हाब्स (Hobbes) तथा प्यूफेनडार्फ़ (Pufendorf) प्रभृति विभिन्न प्रकार के विचारको के दर्शन में यह सिद्धान्त भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राकृतिक विधान की धारणा लॉक के Essay Concerning Human understanding में प्रस्तुत उसके दार्शनिक विचारों से असंगत है। उनका कहना है कि Essay में लॉक ने सहज प्रत्ययों (innate ideas) का खण्डन किया है जिससे अनुमानत: प्राकृत विधान का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि प्राकृत विधान सहज प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि लॉक इस तर्क से सहमत नहीं था। Essay में उसने स्पष्ट कहा है कि सहज प्रत्ययों के खण्डन का यह अर्थ कदापि नही है कि प्राकृतिक विधान का भी अस्तित्व नही है।[1] लॉक की शब्दावली में सहज प्रत्ययों का अर्थ उन विचारो से है जो जन्मजात है, जो किसी प्रकार के ऐन्द्रिय अनुभव के पूर्व मानव मस्तिष्क के अभिन्न अङ्ग के रूप में विद्यमान रहते है, जन्म से ही मनुष्य के मस्तिष्क अथवा हृदय पटल पर अङ्कित रहते हैं। प्राकृतिक विधान ऐसा नही है। इससे हम पहले अनभिज्ञ रहते हैं और केवल अपनी स्वाभाविक शक्तियों (Natural faculties) के समुचित उपयोग से ही इसे जान सकते है। इसके ज्ञान में इन्द्रिय और बुद्धि दोनों की सहायता अपेक्षित है।

लॉक के इस स्पष्टीकरण के बावजूद भी आलोचक निरन्तर इस तथाकथित विरोध को दुहराते आये हैं। इसका कारण स्पष्ट है। Essay की प्रथम पुस्तक मे सहज प्रत्ययों की आलोचना की गयी है और द्वितीय पुस्तक में सम्पूर्ण ज्ञान का प्रारम्भ अनुभव से

1. "I would not here be mistaken as if, because I deny an innate law, I thought there were none but positive laws. There is a great deal of difference between an innate law and a law of nature; between something imprinted on our minds in their very original, and something that we, being ignorant of, may attain to the knowledge of, by the use and due application of our natural faculties. And I think they equally forsake the truth who, running into contrary extremes, either affirm an innate law or deny that there is a law knowable by the light of nature, *i.e.*, without the help of positive revelation." *Essay* (I. 2.13), Fraser's edition, Oxford, 1894. अन्यत्र लॉक revelation को प्राकृतिक विधान तथा नैतिकता के पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। देखिए Reasonableness of Christianity तथा Letter to Molyneux (Fraser, Vol. I, p.65, Note 2)

माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि लॉक के दर्शन के अनुसार कोई सत्य स्वत:स्पष्ट नहीं है या, दूसरे शब्दों में, ऐन्द्रिय अनुभव के बिना उसकी सत्यता नहीं स्थापित की जा सकती। लॉक के विषय में यह धारणा नितान्त भ्रान्तिमूलक है। वह प्रत्यय और ज्ञान में स्पष्ट रूप से भेद करता है। ज्ञान प्रत्यय से प्रारम्भ होता है, किन्तु उसकी परिणति विभिन्न प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्ध—उनके साम्य या विरोध—के दर्शन में होती है।[1] जहाँ यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से, निश्चयपूर्वक, बिना किसी अन्य प्रत्यय की सहायता से, स्पष्ट दिखाई देता है वहाँ हमारा ज्ञान Intuitive होता है। यही सबसे उच्च कोटि का ज्ञान है। गणित और नीतिशास्त्र की स्थापनाएँ इसी प्रकार के ज्ञान पर आश्रित हैं, इसलिए वे निश्चित तथा सार्वभौम होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी प्रत्यय जन्मजात नहीं है। लेकिन इससे प्रत्यक्ष या स्वत:स्पष्ट (Self-evident) बौद्धिक ज्ञान की बात नहीं कटती। बुद्धि के बिना निश्चयात्मकता, जो ज्ञान की कसौटी है, नहीं प्राप्त हो सकती।[2] Essay की प्रथम पुस्तक में कोई ऐसी बात नहीं है जो स्वत:स्पष्ट (Self-Evident) प्रतिज्ञाओं पर आश्रित नीति विज्ञान की निगमनात्मक (Deductive) धारणा के प्रतिकूल है अथवा चतुर्थ पुस्तक में प्रस्तुत ज्ञान के बुद्धिवादी सिद्धान्त (Rationalist Theory of Knowledge)

1. "Knowledge consists in the perception of agreement or disagreement of ideas. Now where that agreement or diagreement is perceived by itself, without the intervention or help of any other, there our knowledge is self-evident." This kind of knowledge is intuitive in which "the mind is at no pains of proving or examining, but perceives the truth as the eye doth light only by being directed towards it......It is on this intuition that depends all the certainty and evidence of all our knowledge. Certainty depends so wholly on this intuition that, in the next degree of knowledge which I call demonstrative, this intuition is necessary in all the connections of the intermediate ideas, without which it cannot attain knowledge and certainty." *Essay* (IV. 2.1)

2. "...it is not the ideas that make us certain without the understanding," although "it is as true that it is not reason, it is not the understanding that makes us certain without ideas. Nor is it one idea by itself that in any case makes us certain." Second Letter to the Bishop of Worcester.

से असंगत है। वास्तव में Essay की प्रथम और द्वितीय पुस्तकें चतुर्थ पुस्तक के लिए भूमिका प्रस्तुत करती है जिसमें ज्ञान के मूल तथा उसकी निश्चयात्मकता और सीमा को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। लॉक के अनुसार उसके Essay का यही मुख्य ध्येय है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर Essay के अनुभववाद (Empiricism) और टू ट्रीटिज़ेज़ के बुद्धिवाद (प्राकृतिक विधान की धारणा सम्बन्धी) का जो विरोध प्रायः प्रदर्शित किया जाता है वह अतिरञ्जित और भ्रामक है, क्योंकि वह Essay के बुद्धिवादी स्वरूप की उपेक्षा करता है।[1]

प्राकृतिक विधान को लॉक बुद्धि का विधान मानता है। इसका ज्ञान गणित या ज्यामिति के ज्ञान की ही तरह प्राप्त होता है। किन्तु गणित और नीतिशास्त्र में एक विशेष अन्तर है। नैतिकता की कल्पना ईश्वर के अस्तित्व के बिना नहीं की जा सकती। कारणवाद के सिद्धान्त के आधार पर हम अपने अस्तित्व के ज्ञान से ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। प्राकृतिक विधान उसी की सृष्टि है। ईश्वर और प्राकृतिक विधान के सम्बन्ध के विषय में राजदर्शन के इतिहास में दो प्रसिद्ध मत रहे हैं। मध्ययुग के कुछ विचारकों के अनुसार प्राकृतिक विधान की उत्पत्ति ईश्वर में व्याप्त बुद्धि से है। ईश्वर अपनी इच्छामात्र से इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। प्राकृतिक विधान इसलिए ठीक नहीं है कि वह ईश्वर का आदेश है बल्कि ईश्वर ने उसे इसलिए समादिष्ट किया है कि वह स्वतः ठीक है। ये विचारक Realists कहे जाते हैं। विधानशास्त्र (Jurisprudence) में यह सिद्धान्त बुद्धिवाद (Intellectualist Theory of Law) के नाम से प्रचलित है जिसके अनुसार विधान संप्रभु (Sovereign) की आज्ञा (Command) नही है, बल्कि प्रकृति एवं मानव में निहित बुद्धिसंगत व्यवस्था की अभिव्यक्ति है। इसीलिए वह शासक तथा शासित दोनों को बाध्य करता है। इसके विपरीत Nominalists कहे जानेवाले विचारकों का मत यह है कि प्राकृतिक विधान ईश्वर की इच्छा का द्योतक है। दैवी इच्छा पूर्ण स्वतन्त्र है। वह बौद्धिकता

1. लाक के दर्शन के बुद्धिवादी पहलू को महत्त्व देनेवाली कृतियों में ये मुख्य हैं--A. C. Fraser, *An Essay Concerning Human understanding*, (Oxford, 1894) Introduction and Notes; James Gibson., *Locke's Theory of Knowledge and its Historical Relations* (Cambridge, 1917); Pringle Pattison, *Essay Concerning Human Understanding* (abridged edition, Oxford, 1924) Introduction; A. C. Ewing, 'Some Points in the Philosophy of Locke,' Philosophy, 1937.

के भी बन्धन से मुक्त है। ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से नैतिक-अनैतिक या उचित-अनुचित की सृष्टि करता है। वह स्वेच्छा से प्राकृतिक विधान में परिवर्तन कर सकता है। राजनीतिक विधान के स्तर पर इसका तात्पर्य यह हुआ कि संप्रभु की इच्छा ही विधान है। उसकी इच्छा को कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वही औचित्य-अनौचित्य का स्रोत है। इसे Voluntarist Theory of Law की संज्ञा दी गयी है।[1]

लैटिन में लॉक के लिखे हुए प्राकृतिक विधान पर जो आठ निबन्ध लवलेस संकलन में प्राप्त हुए हैं, उनके अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि लॉक प्रधान रूप से बुद्धिवादी परम्परा का अनुयायी था।[2] प्राकृतिक विधान को वह मानव के बौद्धिक स्वभाव के अनुरूप मानता है। उसके अनुसार यह विधान क्षणिक एवं परिवर्तनीय इच्छा पर नहीं बल्कि वस्तुओं की शाश्वत व्यवस्था पर आश्रित है, क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि वस्तुओं के कुछ आवश्यक रूप नित्य और अनश्वर हैं। मानव के लिए कुछ कर्त्तव्य अनिवार्य हैं और वे जिस रूप में हैं उससे भिन्न नहीं हो सकते। मनुष्य के स्वभाव से यह उसी प्रकार सिद्ध है कि उसे प्राकृतिक विधान का अनुसरण करना आवश्यक है जैसे त्रिभुज की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उसके तीनों अन्तःकोणों का योग दो समकोण के बराबर है (*Essays* op., cit., pp. 199-200)। दूसरे स्थान पर लॉक यह कहता है कि ईश्वर की पूर्णता आवश्यक और अपरिवर्तनीय है (Examination of Malebranche, Sect. 53) और वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो असगत है। अतएव नैतिकता के नियम भी शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं। ईश्वर उस वस्तु को नहीं ग्रहण कर सकता जो अनुचित है। वह वही कार्य करता है जो सर्वोत्तम है और इससे उसकी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पड़ती (*Essay*, II. 21-50)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि लॉक की प्राकृतिक विधान सम्बन्धी धारणा स्टोइक और क्रिश्चियन विचारकों की क्लैसिकल परम्परा के अनुकूल है जिसके प्रतिनिधि सिसरो और सेन्ट टामस हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है।

1. देखिए Gierke, *The Political Theories of the Middle Age*, Translated with an introduction by Maitland (Cambridge, 1951), p. 172.

२. डा० वान लीडन (Von Leyden) का मत इससे भिन्न है। वे कहते हैं, "Locke adopts the position of the nominalists represented by the so-called 'voluntarist theory', though he shifts and inclines toward the 'intellectualist theory' of the Realists." *op. cit.*, p. 51.

लॉक के अनुसार दैवी आज्ञा या दैवी इच्छा के बिना प्राकृतिक विधान की कल्पना नहीं की जा सकती। उसका कथन है कि यह विधान मनुष्य को नैतिक रूप से तभी बाध्य कर सकता है जब ईश्वर अपने इच्छानुसार उसके साथ पुरस्कार या दण्ड (Reward or Punishment) संयुक्त कर दे। इसी पुरस्कार या दण्ड को वह नैतिक शुभ या अशुभ (Moral gool and evil) भी कहता है (*Essay*, op. cit, p. 474)। यद्यपि प्राकृतिक विधान का विषय (Content) ईश्वर में व्याप्त बुद्धितत्त्व से प्राप्त है, किन्तु उसमें मनुष्य को बाध्य करने की शक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त होती है। प्राकृतिक विधान के साथ पुरस्कार या दण्ड जोड़ कर ईश्वर मनुष्य को उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करता है (*Essay*, Book I, p. 70)।

विशेष रूप से अपनी उत्तरकालीन कृतियों में नैतिक शुभाशुभ (good and evil) को लॉक सुख-दुःख अथवा किसी वस्तु की सुख-दुःख उत्पन्न करने की प्रवृत्ति बतलाता है।[1] इस आधार पर विद्वानों ने उसे उपयोगितावादी (Utilitarian) या सुखवादी (Hedonist) कहा है। डा० वॉन लीडन का कहना है कि प्राकृतिक विधान सम्बन्धी अपने पूर्वकालीन निबन्धों में लॉक का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है, किन्तु बाद को वह सुखवादी सिद्धान्त को ग्रहण कर लेता है। उसके चिन्तन की इन दो धाराओं में सामञ्जस्य नही स्थापित हो पाता। नित्य एवं सार्वभौम नैतिक विधान के निरपेक्ष अस्तित्व में आस्था तथा शुभाशुभ को सुख या दु.ख उत्पन्न करने की क्षमता का पर्याय बतलाना, इनमें यदि परस्पर विरोध नहीं है तो अस्पष्टता और द्विविधा अवश्य है। सुखवाद के उसके नैतिक चिन्तन का निश्चित अंग हो जाने के कारण लॉक की प्रौढ़ कृतियों में नैतिक विधान सम्बन्धी उसके प्रारम्भिक विचारों का समावेश नहीं हो पाया। जेम्स टीरेल (Jamcs Tyrrell) के आग्रह के वाद भी उसने न तो अपने प्राकृतिक विधान सम्बन्धी निबन्धों को प्रकाशित कराया और न अपनी आलोचनाओं का उत्तर दिया। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि लाक के विचार से सुख और दुःख नैतिक रूप से ठीक या गलत कार्यो के परिणाम मात्र होते हैं, ये उनके वास्तविक रूप को नही निर्धारित करते। वे केवल व्यक्ति को नैतिकता की ओर प्रेरित करते है और अनैतिक कर्मो से बचाते हैं। नैतिकता का तत्त्व तो विधान निर्माता की श्रेष्ठता और उसके कानून बनानें के अधिकार में निहित है (Formal Cause of obligation)। इसके साथ ही सत्य के बौद्धिक ज्ञान से ही उसका वास्तविक रूप निर्दिष्ट किया जा सकता है (Material Cause of Obligation)। हम स्पष्ट

1. देखिए, Lord King Of *Ethics in General*. और *Essay*, II. 20.2

रूप से कह सकते हैं कि यद्यपि लॉक शुभ और अशुभ को सुख और दुःख के रूप में ग्रहण करता है, किन्तु नैतिकता उसके लिए सुख-दुःख से तत्त्वतः निरपेक्ष है। नीतिशास्त्र के कुछ आधुनिक विचारको ने उचित (The Right) और शुभ (The Good) के अन्तर को स्पष्ट किया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक विधान का नित्य एवं सार्वभौम स्वरूप लॉक के तथाकथित स्वेच्छावाद (Voluntarism) या सुखवाद से खण्डित नही होता।

प्राकृतिक विधान के ही अनुसार व्यक्ति को कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते हैं जिनमें सम्पत्ति का अधिकार मुख्य है। लॉक का कथन है कि ईश्वर ने पृथ्वी और पृथ्वी की सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। किन्तु उनका उपभोग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार अलग-अलग करता है। जब वह ईश्वरप्रदत्त वस्तुओं में अपना श्रम मिश्रित कर देता है तब वैयक्तिक सम्पत्ति का जन्म होता है। मनुष्य का शरीर उसकी सम्पत्ति है जिस पर उसका एकमात्र अधिकार है। सामूहिक रूप से उपलब्ध वस्तुओं में अपने श्रम को मिलाकर व्यक्ति उन्हें अपने व्यक्तित्व का अङ्ग बना लेता है (II S 26)। इस प्रकार श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है। उसी से वस्तुओं का मूल्य (Value) निर्धारित होता है (II S 40)। यहाँ मूल्य के श्रम सिद्धान्त की ओर संकेत है जिसे समाजवादी विचारकों ने विशेष रूप से विकसित किया। लॉक सम्पत्ति या श्रम के सिद्धान्त पर विस्तृत रूप से विचार नहीं करता। वह यह भी भूल जाता है कि मूल्य के सर्जन में केवल व्यक्ति का ही हाथ नहीं होता बल्कि सामाजिक सहयोग भी आवश्यक होता है।

लॉक का यह भी कहना है कि व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए जिसका वह उपभोग कर सके। सम्पत्ति को नष्ट करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। अतएव यह कहना अनुचित होगा कि लॉक असीमित वैयक्तिक सम्पत्तिके अधिकार को माननेवाला है। किन्तु जहाँ वह भूमि के स्वामित्व का वर्णन करता है वहाँ स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने मौलिक सिद्धान्त से दूर हट गया है और तत्कालीन ह्विग (Whig) भूमिपतियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को उचित ठहरानेका प्रयास कर रहा है। उसका कहना है कि व्यक्ति अपनी शक्ति और परिश्रम के अनुसार भूमि पर अधिकार कर सकता है, यदि वह उसकी उपज का उपयोग कर सके। यहाँ उपज के उपभोग में उसे भविष्य के उपयोग के लिए एकत्र करना भी सम्मिलित है। चूँकि बहुत-सी वस्तुएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं, अतएव सम्पत्ति के कानून के अनुकूल द्रव्य का प्रयोग

1. देखिए W. D. Ross, *Foundations of Ethics.*

प्रारम्भ हो जाता है जिसे व्यक्ति उन वस्तुओं के स्थान पर रख लेता है। इस प्रकार सम्पत्ति उपभोग्य वस्तु (Consumer goods) न रहकर भूमि के रूप में पूँजी (Capital goods) बन जाती है और वैयक्तिक सम्पत्ति की असमानता तथा उसके संचय को सैद्धान्तिक आधार प्राप्त हो जाता है। इतना अवश्य है कि लॉक भूमि के स्वामित्व को समाज के सामान्य हित के हेतु मानता है। वह यह भी कहता है कि समाज की वृद्धि के साथ-साथ सम्पत्ति के सामाजिक विधानों का निर्माण सर्वसम्मति से होता है। इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार वैधानिक (Legal) हो जाता है। यह स्पष्ट है कि यह निष्कर्ष लॉक की प्रारम्भिक प्रतिज्ञा से बिलकुल भिन्न है।

सम्पत्ति का श्रम-सिद्धान्त बीज रूप में विद्यमान होने के बावजूद लॉक के विचारों में समाजवादी तत्त्वों को ढूँढ़ना व्यर्थ है। किन्तु सन् १६६७ में लिखित *Essay on Toleration* में उसने कहा है कि मजिस्ट्रेट सम्पत्ति को हस्तान्तरित (Transfer) करने के लिए कानून बनाने का बहुत सीमा तक अधिकारी है। सेकण्ड ट्रीटिज़ में इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि सेकण्ड ट्रीटिज़ के सिद्धान्तों के साथ सम्पत्ति का अत्यधिक नियंत्रण असंगत नहीं है।[1] वास्तव में लॉक न तो पूँजीवाद का प्रतिपादक या समर्थक है और न समाजवाद का, यद्यपि उसमें दोनों के तत्त्व आंशिक रूप से विद्यमान है। उसका सम्पत्ति सिद्धान्त अपूर्ण और अस्पष्ट है।

प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की उत्पत्ति होती है। उसकी स्थापना व्यक्तियों की सम्मति (Consent) से होती है (II S 127)। सर्वसम्मति से निश्चय किया जाता है कि राज्य की स्थापना की जाय। इस निश्चय के साथ ही व्यक्ति अपने दो अधिकारों का परित्याग कर देते है जो उन्हें प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे (II S 128)। (१) प्राकृतिक विधान के अन्तर्गत स्वेच्छापूर्वक आचरण करने का अधिकार। (२) प्राकृतिक विधान के विरुद्ध आचरण करनेवालों को दण्ड देने का अधिकार। प्रथम अधिकार का परित्याग वह उस सीमा तक समाज द्वारा निर्मित विधान से नियंत्रित होने के हेतु कर देता है जितना उसकी तथा समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है। समाज के ये विधान उसकी प्राकृत अवस्था की स्वतन्त्रता को बहुत कुछ सीमित कर देते हैं। दण्ड देने का अधिकार वह पूर्ण रूप से छोड़ देता है। यह निर्णय सर्वसम्मति से होता है, किन्तु इसके बाद के सभी निर्णय बहुमत (Majority) से किये जाते हैं। बहुमत का सिद्धान्त (Majority principle) इस-

1. P. Laslett, *op. cit.*, p. 104.

लिए माना गया है कि इसके बिना समाज किसी एक दिशा में नहीं संचालित हो सकता। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह तर्क ठीक है, किन्तु इससे सरकार के जनता की सम्मति पर आश्रित होने की बात कट जाती है। एक अन्य प्रकार से भी लॉक सम्मति-सिद्धान्त से विचलित होता है। वह कहता है कि किसी भूमि खण्ड में निवास मात्र ही व्यक्ति की सम्मति का प्रमाण हो सकता है। यदि वह तर्क मान लिया जाय तो निरंकुशता से रक्षा कठिन हो जायगी। ऐसा जान पड़ता है कि अपने युग में प्रचलित धारणा को लाक बिना छान-बीन किये ही स्वीकार कर लेता है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि जनता के हितों की अवहेलना करनेवाली सरकार को शासन करने का अधिकार नही है।

इस प्रकार मूल प्रसंविदा (Original Contract) से राज्य (Civil Society) की उत्पत्ति होती है। कुछ लेखकों का विचार है कि लॉक ने सरकार की उत्पत्ति के लिए कतिपय महाद्वीपीय विचारकों की भाँति एक दूसरी प्रसंविदा की भी कल्पना की है। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। सरकार का जन्म ट्रस्ट के रूप में होता है। लॉक के राजनीति दर्शन में जनता और सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रसंविदा की अपेक्षा ट्रस्ट की कल्पना अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। प्रसंविदा की शर्तें दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू होती हैं, किन्तु ट्रस्टी ट्रस्ट की स्थापना करनेवाले के समक्ष समता का दावा नहीं कर सकता। लॉक सरकार को स्पष्ट रूप से जनता के अधीन रखता है, क्योंकि उसकी स्थापना का ध्येय जनताके अधिकारों की रक्षा करना है।

राज्य की उत्पत्ति के बाद सर्वप्रथम व्यवस्थापिका (Legislative) की स्थापना होती है। व्यवस्थापिका को लॉक सर्वोच्च सत्ता कहता है। वह जनता की सम्मति के बिना हस्तान्तरित नही की जा सकती। यद्यपि व्यवस्थापिका सर्वोच्च सत्ता है, किन्तु जनता के जीवन और उसकी सम्पत्ति पर उसका अधिकार अनियंत्रित और स्वेच्छानुकूल नहीं है। सामाजिक हित से उसकी सीमाएँ निर्धारित होती हैं। इसके द्वारा निर्मित विधान प्राकृतिक विधान के अनुकूल होना चाहिए (IIS134, 135) प्राकृतिक विधान सभी व्यक्तियों पर चाहे वे व्यवस्थापक हों या अन्य लोग हों, शाश्वत नियम के रूप में लागू होते हैं। प्राकृतिक विधान के विरुद्ध कोई भी कानून वैध नहीं है। किसी देश के कानून वही तक उचित हैं जहाँ तक वे प्राकृतिक विधान पर आधारित है, जिनके द्वारा वे संचालित होते है और जिनसे उनकी व्याख्या होती है (II,S12)। ये विधान कई प्रकार से व्यवस्थापिका के अधिकारों को सीमित करते हैं—

१——व्यवस्थापिका को तात्कालिक आदेशों (Extemporary decrees) के द्वारा शासन करने का अधिकार नहीं है। यह आवश्यक है कि उसके द्वारा बनाये गये कानून उचित रूप से घोषित किये जायँ। शासन का संचालन Standing laws के द्वारा होना चाहिए और न्याय मान्य तथा प्रमाणित न्यायाधीशो के हाथ में होना चाहिए, (II S 136)।

२——व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों का ध्येय जनता की भलाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए (II S 142)।

३——सर्वोच्च सत्ता व्यक्ति की सम्मति के बिना उसकी सम्पत्ति का कोई अंश नहीं ले सकती (II S 38)।

४——व्यवस्थापिका कानून बनाने का अधिकार किसी अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकती (II S 141)।

सर्वोच्च सत्ता पर लगाये गये इन प्रतिबन्धों के आधार पर आलोचक प्राय: यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लॉक के राजदर्शन में संप्रभुता का सर्वथा अभाव है। यहाँ तक कहा गया है कि लॉक न केवल हाब्स के द्वारा प्रतिपादित संप्रभुता का विरोधी है, बल्कि उसके तर्क संप्रभुता की कल्पना पर ही प्रहार करते है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि हाब्स और लॉक के राजसत्ता सम्बन्धी विचार एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। हाब्स के अनुसार संप्रभुता ही विधान का स्रोत है। यहाँ संप्रभुता की कल्पना विधान निरपेक्ष शक्ति के रूप में की गयी है। लॉक मध्ययुग की परम्परा के अनुकूल राजसत्ता को शुद्ध भौतिक शक्ति से भिन्न मानता है और इसी आधार पर राजा और आततायी (Tyrant) में अन्तर बतलाता है (II SS 199,200)। संप्रभुता सबसे प्रबल भौतिक शक्ति नहीं है बल्कि सर्वोच्च वैधानिक सत्ता है (Supreme legal authority)। दूसरे शब्दों में वह विधान से सीमित है, क्योंकि उसका अस्तित्व विधान पर ही आश्रित है। यहाँ विधान शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ तक व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधान (Positive law) का सम्बन्ध है, व्यवस्थापिका का स्थान ऊँचा है। किन्तु, व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार एक उच्चतर एवं मौलिक विधान (Fundamental Law) से प्राप्त होता है। लॉक की शब्दावली में यह उच्चतर विधान प्राकृतिक विधान है। इस विधान के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के अधिकार स्पष्टत:

1. देखिए, Vaughan, *Studies in the History of Political Philosophy* (Manchester, 1925) तथा Figgis, *The Divine Right of Kings* (Cambridge, 1914).

सीमित होंगे। इस सीमा के अन्तर्गत व्यवस्थापिका सर्वोच्च है। अन्य सत्ताएँ इसके अधीन है (II S 149) और इसके विरोध मे बनाया गया कोई कानून वैध नही है (II S 134)। हाब्स और आस्टिन के अनुयायियों को सीमित संप्रभुता का यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक प्रतीत होगा। किन्तु संप्रभुता को यदि शक्ति (Power) न मानकर सत्ता (Authority) के रूप में ग्रहण किया जायगा, तो उसकी कुछ सीमाएँ अवश्य होंगी। यह कहना कि इन सीमाओं को विधान की संज्ञा नहीं दी जा सकती, विधान शब्द को अत्यन्त संकुचित अर्थ में प्रयुक्त करना होगा। जर्मन और फ्रेंच भापाओं में विधान के संकुचित और व्यापक अर्थ को व्यक्त करने के लिए अलग-अलग शब्द हैं (Recht, Gesetz, Droit, Loi)। इस दृष्टि से विचार करने पर लॉक और बोदाँ के संप्रभुता-सिद्धान्त मूलतः एक हैं।[1]

लॉक के अनुसार यदि व्यवस्थापिका जनता के हित में कार्य नहीं करती और ट्रस्ट के प्रतिकूल आचरण करती है तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सम्प्रभुता जनता में ही निहित है। लॉक को राजनीतिक संप्रभुता (Political or Popular Sovereignty) का प्रतिपादक मानना ग़लत है क्योंकि उसका कहना है कि जनता को यह शक्ति तभी प्राप्त होती है जब सरकार समाप्त हो जाती है। जब तक सरकार कायम है, व्यवस्थापिका सर्वोच्च है (II SS 149,150)। वास्तव में राजनीतिक सम्प्रभुता का सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है। यह भ्रान्ति संप्रभुता को भौतिक शक्ति के रूप में देखने से उत्पन्न होती है। चूंकि आधुनिक राज्य में अन्तिम शक्ति विशेष रूप से जनता के हाथ में होती है इसलिए यह मान लिया जाता है कि सर्वोच्च सत्ता जनता या राष्ट्र में ही निहित है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है संप्रभुता वैधानिक धारणा है और इसे विधान से अलग वास्तविक शक्ति (actual power) के रूप में ग्रहण करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने योग्य है। लॉक के विचार से जब कभी समाज में राजनीतिक जागरूकता आती है तो वह प्राकृत विधान के ही नाम पर तथा उसी के अनुकूल कार्य करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तिम निर्णय जनता के हाथ में नहीं है।

व्यवस्थापिका के अधीन सरकार के दो अन्य अङ्ग है। एक कार्यकारिणी (Executive) है जो प्रायः व्यवस्थापिका से अलग होती है। इसका प्रथम कारण तो यह

1. इस विषय की विस्तृत विवेचना के लिए देखिए Raghuveer Singh, 'John Locke and the Idea of Sovereignty.' *Indian Journal of Political Science*, Vol. XX, 1959.

है कि एक ही हाथ में दोनों सत्ताओं के होने से शक्ति का दुरुपयोग होने की सम्भावना रहती है। दूसरे, कार्यकारिणी का अस्तित्व निरन्तर रहता है, जबकि व्यवस्थापिका के लिए यह आवश्यक नहीं है। सरकार का दूसरा अंग Federative है जिसका संबंध परराष्ट्रनीति से होता है। प्रायः यह भी कार्यकारिणी के अन्तर्गत होता है। यह कहा जा सकता है कि लॉक में शक्तियों के विभाजन (Separation of Powers) का सिद्धान्त पाया जाता है। किन्तु यह परम्परागत सिद्धान्त से भिन्न है, जिसमें व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी और न्यायपालिका इन तीन अङ्गों की चर्चा होती है। न्यायपालिका को लॉक कार्यकारिणी के ही अन्तर्गत रखता है। फिर वह व्यवस्थापिका को स्पष्ट रूप से सर्वोच्च बतलाता है। इंग्लैंड के संविधान को विशेष रूप से दृष्टि में रखते हुए वह यह भी कहता है कि जहाँ व्यवस्थापिका निरन्तर कार्य नहीं करती और कार्यकारिणी शक्ति उस व्यक्ति के पास होती है जिसका विधिनिर्माण में भी हाथ रहता है, वहाँ वह व्यक्ति एक अर्थ में संप्रभु कहा जा सकता है। किन्तु वह इस बात पर भी ज़ोर देता है कि यदि कार्यकारिणी शक्ति उस व्यक्ति के अतिरिक्त जिसका विधिनिर्माण में भी हाथ है कहीं अन्यत्र है, तो वह स्पष्ट रूप से व्यवस्थापिका के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी है। कार्यकारिणी सत्ता को धारण करनेवाले व्यक्ति को कुछ विवेकात्मक अधिकार (Discretionary powers) भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका प्रयोग केवल जनता के हित में होना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है अपने हित के विरुद्ध कार्य करनेवाली सरकार को जनता हटा सकती है। किन्तु सरकार के भंग होने पर भी राज्य (Civil Society) कायम रहता है (II S 211)। उसे केवल बाह्य आक्रमण नष्ट करता है। ऐसी अवस्था में सरकार स्वयं समाप्त हो जाती है। किन्तु केवल सरकार के परिवर्तन से प्राकृतिक अवस्था की पुनरावृत्ति नहीं होती। किन्तु लॉक के विचार इस सम्बन्ध में विलकुल स्पष्ट नहीं हैं। वह ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करता है जिनसे प्रतीत होता है कि सरकार के भंग होने पर मनुष्य प्राकृतिक अवस्था के सन्निकट पहुँच जाता है। सत्य यह है कि प्राकृतिक और राजनीतिक अवस्था का अन्तर पूर्ण स्पष्ट नहीं है। वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। सरकार या तो व्यवस्थापिका के अधिकारों के स्थानान्तरित होने से भंग होती है या जनता के द्वारा सौंपे हुए ट्रस्ट के विरुद्ध कार्य करने से। यद्यपि लॉक के अनुसार जनता को सरकार परिवर्तित करने का अन्तिम अधिकार है, किन्तु इस अधिकार की एक सीमा है। जब तक सरकार जनता के हितों की अवहेलना नहीं करती, उसके अधिकार उससे नहीं छीने जा सकते। इस

प्रकार यद्यपि सरकार समाज के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु उसके अपरिहार्य अधिकार भी हैं। सन् १६८८ की क्रान्ति का समर्थक होते हुए भी लॉके क्रान्तिवादी नहीं था।

जान लॉक ने न केवल आधुनिक यूरोपीय दर्शन को बल्कि समस्त आंग्ल-सैक्सन संविधान-परम्परा को विस्तृत रूप से प्रभावित किया। वह संवैधानिकता (Constitutionalism), व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जनतन्त्रात्मक चेतना, धार्मिक सहिष्णुता, तथा राजनीतिक बुद्धिवाद का प्रतीक बन गया। अमेरिका की क्रान्ति पर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है। स्वतन्त्रता की घोषणा (Declaration of Independence) को सेकण्ड ट्रीटिज से प्रेरणा मिली। फ्रांस की क्रान्ति पर भी अप्रत्यक्ष रूप से उसका प्रभाव पड़ा क्योंकि बौद्धिक जागरण-युग (Age of Enlightenment) के विचारकों (वाल्टेयर, मान्टेस्क्यू, रूसो) ने उसके विचारों से बहुत कुछ ग्रहण किया। दर्शन तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में लॉक का प्रभाव विशेष रूप से अनुभववाद की दिशा में पड़ा। फ्रांसीसी दार्शनिकों ने उसके सम्पूर्ण चिन्तन में से ज्ञान के संवेदनात्मक उद्गम को ग्रहण किया और तदनुकूल मानव-व्यवहार में सुख-दुःख को प्रेरणात्मक शक्ति मानकर नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मूल्यों के उपयोगितावादी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में प्राकृतिक विधान एवं प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का ह्रास होने पर भी लॉक का चिन्तन बेन्थम तथा उसके अनुयायियों को प्रेरणा प्रदान करता रहा। बर्कले का अनुसरण करके ह्यूम ने लॉक के दर्शन के अनुभववादी पहलू को चरम सीमा तक पहुँचाया। इसीलिए लॉक अनुभववादी परम्परा का जन्मदाता कहा जाता है और उसके विचार ह्यूम के संवेदनवाद के प्रथम चरण के रूप में देखे जाते हैं। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी उसे घोर व्यक्तिवादी समझते हैं। यहाँ तक कहा जाता है कि हाब्स और लॉक के विचारों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही सुखवादी (Hedonist) और अहंवादी (Egoist) हैं।[1]

इस भूमिका में जो कुछ कहा गया है उसके अनुसार लॉक के संबंध में यह धारणा एकाङ्गी तथा भ्रान्तिपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि लॉक के विचारों में अस्पष्टता एवं असंगतियाँ अन्य महान् विचारकों की अपेक्षा अधिक हैं। उसके दर्शन के विभिन्न पहलुओं और तत्त्वों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं दिखाई देता। आधार-

1. देखिए Strauss, *Natural Right and History.*

भूत सिद्धान्तों की सम्यक विवेचना नहीं की गयी है। किन्तु किसी दार्शनिक के चिन्तन के अनेक पहलुओं में से किसी एक को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर उसको किसी पूर्वनिश्चित विचार-कोटि या वादविशेष में ठूसने का प्रयास सर्वथा अनुचित है। ज्ञान-सिद्धान्त के सम्बन्ध में लॉक के बुद्धिवाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके विचार ह्यूम और मिल के संवेदनवाद (Sensationalism) की कोटि में नहीं आ सकते। नीतिशास्त्र में लॉक को उपयोगितावादी या सुखवादी कहना ठीक नहीं है। ये सिद्धान्त उसके दर्शन के धरातल पर दिखाई देते हैं, किन्तु उसके आधार को नहीं स्पर्श करते। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके अधिकारों पर ज़ोर देने के कारण उसे व्यक्तिवादी अवश्य कहा जा सकता है। किन्तु यह व्यक्तिवाद हाब्स का व्यक्तिवाद नहीं है। लॉक सामाजिक हित को यथेष्ट महत्त्व प्रदान करता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं उसके अधिकार सदैव प्राकृत विधान से नियमित हैं। विधान के अभाव में स्वतन्त्रता असंभव है (II S 57). प्राकृत अवस्था की स्वतन्त्रता प्राकृत विधान के अनुकूल आचरण करने से प्राप्त होती है। राजनीतिक अवस्था में स्वतन्त्रता व्यक्तियों की सम्मति से स्थापित व्यवस्थापिका के कानून का पालन करने से मिलती है (II S 22)। विधान का ध्येय स्वतन्त्रता की रक्षा और उसकी वृद्धि करना है न कि उसको नष्ट या सीमित करना (II S 57)। राजसत्ता भी विधान की ही देन है और वही उसकी मर्यादा निर्धारित करती है। विधान की सर्वोच्चता, राजसत्ता की नैतिक तथा वैधानिक सीमाएँ, सरकार का जनता के प्रति उत्तरदायित्व ये लॉक के राज-दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ हैं जो उसका मध्यकालीन परम्परा से सम्बन्ध प्रदर्शित करती हैं। मध्यकालीन परम्परा और लॉक के बीच की कड़ी रिचर्ड हूकर है।

राजनीति विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय।

रघुवीर सिंह

सहायक ग्रन्थों तथा निबन्धों की सूची

लॉक की कृतियों तथा उनपर लिखे गये आलोचनात्मक ग्रन्थों एवं निबन्धों का पूर्ण विवरण स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा सकता। इसके लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की आवश्यकता है। नीचे केवल कुछ पुस्तकों और निबन्धों की सूची दी जा रही है—

दर्शन

1. A. C. Fraser, *Essay Concerning Human Understanding* (Oxford, 1894).

2. James Gibson, *Lockes' Theory of Knowledge and Its Historical Relations* (Cambridge), 1917)

3. A. Seth Pringle Pattison, *Essay Concerning Human Understanding* (Cambridge edition, Oxford, 1924).

4. Richard I. Aaron, *John Locke*, 2nd edition (Oxford, 1955.

5. A. C. Eving, 'Some Points in the Philosophy of Locke' in *Philosophy*, 1937.

6. J. W. Yolton, *John Locke and the Way of Ideas*. (Oxford, 1956)

नीतिदर्शन और राजनीति

1. Sir Erest Barker, *Social Contract*, 1948.

2. C. H. Driver, 'John Locke' in Social and Political Ideas of the Augustan Age, edited by F. J. C. Hearnshaw, 1928.

3. J. W. Gough, *John Locke's Political Philosophy: Eight Studies* (Oxford), 1950.

4. J. W. Gough, Second Treatise of Government and the letter Concerning Toleration.

5. Sir Frederick Pollock, 'Locke's Theory of the State,' Proceedings of British Academy, 1903-4.

6. W. M. Simon., 'John Locke, Philosophy and Political Theory' American Political Science Review, 1951

7. Leo Strauss, *Natural Right and History* (Chicago, 1953)

8. G. H. Sabine, *A History of Political Theory* (Lond. 1951)

9. C. E. Vaughan, *Studies in the History of Political Philosophy before and after Rousseau* (Manchester, 1925).

9. W. Von Leydon, *John Locke, Essays on the Law of Nature* (Oxford, 1954)

11. W. Von Leydon, 'John Locke and Natural Law *Phitosophy*, 1956.

12. J. W. Yolton, 'Locke on the Law of Nature', Philosophical Review, 1958.

प्रथम खण्ड

कुछ मिथ्या सिद्धान्त

अध्याय १

दासता और प्राकृतिक स्वतन्त्रता

१. दासता इतनी घृणित और दयनीय दशा है और हमारे राष्ट्र की स्वाभाविक प्रकृति तथा साहस के इतनी प्रतिकूल है कि इसकी कल्पना करना भी कि कोई अंग्रेज, और वह भी कोई संभ्रान्त व्यक्ति, इसका समर्थन करेगा कठिन है। सच तो यह है कि मैं सर रॉबर्ट फिलमर के निबंध को, या किसी अन्य निबन्ध को, जो युक्ति से यह प्रमाणित करते हों कि मानव जाति दास है और उसे दास बने रहना चाहिए, गम्भीर तर्क न समझकर, नीरो की प्रशंसा के लेख के समान चतुराई का केवल एक अभ्यास मात्र समझता। परन्तु सर रॉबर्ट की पुस्तक का शीर्षक, पुस्तक की गम्भीरता, उसके मुखपृष्ठ का चित्र और पुस्तक की ख्याति से मुझे यह विश्वास करना ही पड़ा कि लेखक और प्रकाशक, दोनों, वास्तव में अपने कथन को सत्य मानते हैं। अतः मैंने सर रॉबर्ट द्वारा लिखित पैट्रिआर्का (Patriarcha) नामक पुस्तक को उत्सुकतापूर्वक पढ़ना आरम्भ किया और पूरे ध्यान से उसे पढ़ा, जैसा कि ऐसी प्रशंसाप्राप्त पुस्तक के लिए उचित है। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस पुस्तक में, जो सम्पूर्ण मानव जाति को दासता की बेड़ियों में बाँधना चाहती है, मुझे केवल बालुकारज्जु के अतिरिक्त कुछ न मिला। यह शायद उनके लिए उपयोगी हो जो धोखा देने में दक्ष हैं और जिनका काम ही धोखा देना है, जिससे जनता को अन्धेरे में डालकर वे उसे सरलता से गुमराह कर सकें। परन्तु उनको बन्धन में बाँधने के लिए जिनकी आँखें खुली हैं और जो हर प्रकार के बन्धनों को अनिष्ट मानते हैं, चाहे वे बन्धन सोने के ही क्यों न हों, इस पुस्तक में कुछ शक्ति नहीं है।

२. यदि कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मैं निरंकुश सत्ता के एक प्रबल समर्थक, निरंकुश शासन के समर्थकों के मान्य नेता के प्रति कुछ कहने में अनुचित धृष्ठता दिखला रहा हूँ, तो उनसे मैं प्रार्थना करूँगा कि वे केवल एक बार मुझ जैसे व्यक्ति को क्षमा प्रदान करें जो सर रॉबर्ट की पुस्तक को पढ़ने के बाद भी अपने को एक स्वतन्त्र व्यक्ति मानता है, जैसा कि वह विधान के अनुसार है भी। इस धारणा में मुझे कोई अपराध प्रतीत नहीं होता जब तक कि अधिक प्रतिभासम्पन्न विचारक यह समाधान न कर दे कि यह

निबन्ध, जो इतने समय से निष्क्रिय अवस्था में था, प्रकाशित होने के बाद, अपने तर्क द्वारा इस संसार में सब स्वतन्त्रता समाप्त कर देगा और हमारे लेखक का यह छोटा-सा निबन्ध आगामी राजनीति का आदर्श माना जायगा ! उसके मूल विचार संक्षेप में इतने ही है —

शासन मूलतः निरंकुश राजतन्त्र है; और इसका आधार लेखक के अनुसार है कि मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र नही है।

३. संसार में ऐसे भी व्यक्ति है जो राजाओ की प्रशंसा में यह विचारधारा प्रस्तुत करते है कि राजाओं को निरंकुश सत्ता दैवी अधिकार द्वारा प्राप्त है। राजाओं की सत्ता के आधार जो भी विधान हों, जिनके अनुसार शासन होना हो और जिन विधानों के आधार पर उन्हें सत्ता प्राप्त हुई हो और जिन विधानों का पालन करने की उन्होंने प्रतिज्ञा की हो; उनको न देखते हुए, ये व्यक्ति समस्त मानव जाति को नैसर्गिक स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित करते हैं। इस चेष्टा से उन्होंने अपनी पूर्ण सामर्थ्य द्वारा, न केवल समस्त प्रजा को अत्याचार से अपार दुखी बनाया है, वरन् सब व्यवस्थाओं को अस्तव्यस्त और राजाओं के सिंहासनों को भी इतना अस्थिर कर दिया है, (क्योंकि इन व्यक्तियों के सिद्धान्तानुसार, स्वयं इन्होंने भी, केवल एक को छोड़कर, दास के रूप में जन्म लिया है और दैवी अधिकार के अनुसार वे आदम के सच्चे उत्तराधिकारी के दास हैं। मानो वह समस्त राज व्यवस्था के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर रहे हों और मानव समाज का आधार ही विनष्ट करना चाहते हों।

४. हमें उनके शब्दों पर ध्यान देना पड़ेगा जब वे यह कहते हैं कि हम सबने दास के रूप में जन्म लिया है, और इसका कोई उपचार नहीं है तथा हमें दास बना रहना पड़ेगा; जन्म होते ही हम दासता में बँध जाते हैं और जब तक हम जीवित रहेंगे, इससे हमें छुटकारा नही मिलेगा। यद्यपि धर्मग्रन्थ या तर्क कहीं भी यह नही कहते, तथापि इन व्यक्तियों के अनुसार, दैवी सत्ता ने हमें राजा की निरंकुशता के अधीनस्थ बनाया है। मानव समाज को इसका अब तक पता तक न था। विपरीत विचारधारा की नवीनता की सर रॉबर्ट फिलमर चाहे कितनी ही आलोचना करें, परन्तु मेरा विश्वास है कि उन्हें संसार में कोई और ऐसा युग या देश नहीं मिलेगा जहाँ राजतन्त्र के दैवी अधिकार का दावा किया गया हो। वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि सम्राटों के अधिकार का समर्थन करनेवाले हेवर्ड (Heyward), ब्लैकवुड (Blackwood), बार्कले (Barclay) तथा अन्य ने कभी इस ओर नहीं सोचा था और सबने एक कण्ठ से मनुष्यों की जन्मजात (नैचुरल) स्वतन्त्रता तथा समता को स्वीकार किया था।

५. इस सिद्धांत का सर्वप्रथम किसने प्रतिपादन किया और हमारे देश में प्रचार

किया तथा इसके क्या दुष्परिणाम हुए; यह मैं इतिहासकारों या सिब थार्प (Sibth-orp) और मैनवेरिंग (Manwering) के समकालीन व्यक्तियों की स्मरण शक्ति पर छोड़ता हूँ। इस समय मेरा उद्देश्य केवल यही विचार करना है कि सर रॉबर्ट फ़िलमर ने, जिन्होंने इस सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया है और इसे अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, इसकी पुष्टि किस आधार पर की है, क्योंकि उन्हीं से अन्य व्यक्तियों ने राजनीति का यह संक्षिप्त सिद्धान्त ग्रहण किया है—मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र नही है और इसलिए उसे शासक या शासन-प्रणाली चुनने की कभी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती; राजाओं की सत्ता निरंकुश और दैवी अधिकार पर आधारित है क्योंकि राज्य के प्रति दासों का सम्बन्ध अनुबन्ध अथवा समर्थन पर आधारित नहीं है; आदम निरंकुश शासक था, अतः सब राजा भी निरंकुश शासक हैं।

अध्याय २

पैतृक और राजकीय सत्ता

६. सर रॉबर्ट फ़िलमर के तर्क का मूल आधार यह है कि "मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र नहीं है।" यही निरंकुश राजतन्त्र की आधारशिला है जिस पर उन्होंने राजसत्ता के लिए अपरिमित शक्ति का दावा स्थापित किया है जिसके सम्मुख अन्य सत्ताएँ नगण्य प्रतीत होती हैं। समस्त लौकिक और मानवीय सम्बन्धों में यह सत्ता इतनी श्रेष्ठ है कि विचार भी वहाँ तक पहुँच नही सकते। परमेश्वर को भी जो शपथें और वचन बाँधते हैं, वे राजसत्ता को सीमित नही करते। परन्तु यदि यह आधार ही मिथ्या प्रमाणित हो, तो सर रॉबर्ट का सारा सिद्धान्त ही झूठा साबित हो जायगा। तब हमें राज्य का वही पूर्ववत् आधार मानना पड़ेगा, जिसमें मनुष्य, अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए, समाज में संगठित होकर उपाय और सहमति से राज्य की स्थापना करते हैं। अपने इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए रॉबर्ट फ़िलमर कहते हैं कि मनुष्य जन्मतः अपने माता-पिता के अधीनस्थ होता है, अतः वह स्वतन्त्र नहीं होता। माता-पिता के इस अधिकार को "राजकीय सत्ता", "पैतृक सत्ता" या "पितृत्व का अधिकार" कहते हैं। आप शायद यह सोचते होंगे कि अपने इस निबन्ध के आरम्भ में, जिस पर राजाओं की सत्ता तथा प्रजा का आज्ञापालन आधारित है, लेखक हमें स्पष्टतया बतायेगा कि पैतृक सत्ता क्या है, और उसकी परिभाषा देगा। यद्यपि वह सत्ता की कोई सीमा नहीं बाँधेगा; क्योंकि अपने किसी अन्य निबन्ध में उसने कहा है, "यह सत्ता असीमित है और सीमित नहीं की जा सकती।[१] कम से कम, वह उसका ऐसा वर्णन तो हमारे सामने प्रस्तुत करता जिससे हम उसके लेखों में जहाँ कहीं 'पितृत्व' या 'पैतृक सत्ता' का उल्लेख पाते, यह पूर्णतया समझ सकते कि इस सत्ता से लेखक का क्या अभिप्राय है। पैट्रियार्का के प्रथम अध्याय में मुझे ऐसी परिभाषा मिलने की आशा थी। परन्तु[२] इसके विपरीत,

१. "परमेश्वर और प्रकृति से जो अनुदान या सत्ता प्राप्त होती है, जैसे पिता की सत्ता (अपनी सन्तान पर) है, उसे मनुष्य सीमित नहीं कर सकता, उनके प्रतिकूल विधान नहीं बना सकता।"—ऑवज़रवेशन्स, पृ. १५८

२. "धर्म ग्रंथ बतलाते हैं कि अपरिमित सर्वोच्च सत्ता, प्रारम्भ में, पिता की ही थी।"—ऑवज़रवेशन्स, पृ. २४५

उसने सर्वप्रथम सम्राट् की सर्वोच्च सत्ता का अभिवादन किया है; उसके बाद, "इस या अन्य राज्यों के अधिकारों और स्वतन्त्रता" का अभिवादन किया है, जिनका वह शीघ्र ही खण्डन कर देता है; और फिर, उन विचारकों का, जो उसके समान दृष्टिकोण नहीं रखते, उपहास करते हुए, वह बैलारमीन (Bellarmine) की आलोचना करने लगता है और उस पर विजय प्राप्त करके "पैतृक सत्ता" को निश्चित रूप से स्थापित कर देता है। बैलारमीन के तर्क, स्वयं उसकी आत्मस्वीकृति से खण्डित हो जाते हैं। आगे लेखक को और तर्क की आवश्यकता प्रतीत नही होती और उसकी विजय हो जाती है। मै देखता हूँ कि इसके बाद वह न तो उक्त समस्या को प्रश्न के रूप में हमारे सम्मुख रखता है और न अपने मत के समर्थन में कोई तर्क ही प्रस्तुत करता है, वरन्, इस "पितृत्व" नामक कल्पित, आश्चर्यजनक और निरंकुश सत्ता का वर्णन, जिन शब्दों में वह उचित समझता है उन्हीं में करता है। जिसे भी यह सत्ता प्राप्त हो, उसे सारा साम्राज्य और निरंकुश असीमित सत्ता प्राप्त हो जाती है। वह हमें विश्वास दिलाता है कि इस "पितृत्व" की उत्पत्ति आदम से हुई, और जल-प्रलय के समय तक, परिवारपतियों के काल में, यह सिद्धान्त संसार में व्यवस्था स्थापित करता रहा। नोआ और उसके पुत्रों के साथ "पितृत्व" का यह सिद्धान्त भी प्रलय से बच गया और पृथ्वी के सब सम्राटों की सत्ता का मिस्र में यहूदियों (Israelites) के निष्कासन तक समर्थन करता रहा। तदनन्तर, "परमेश्वर ने यहूदियों को राजा प्रदान करके, शासन में पैतृक उत्तराधिकार का प्राचीन और प्रधान अधिकार पुनःस्थापित किया।" ऐसा रॉबर्ट फ़िलमर का विचार है। इसके बाद एक आपत्ति से अपने को बचाकर, और एक-दो कठिनाइयों का अपूर्ण तर्क से सामना कर, "राजकीय सत्ता के प्राकृतिक अधिकार" की पुष्टि कर उन्होंने प्रथम अध्याय समाप्त कर दिया है। मेरी धारणा है कि अपूर्ण उद्धरण को अपूर्ण तर्क कहने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि परमेश्वर ने कहा है, "अपने पिता और माता का आदर करो।" परन्तु हमारे लेखक ने इसके केवल प्रथम भाग से ही सन्तोष कर लिया और 'माता' शब्द को छोड़ दिया। इससे स्वयं उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता, पर इस विषय पर आगे चलकर मैं और कुछ कहूँगा।

७. मेरे विचार से हमारे लेखक इस प्रकार के निबंध लिखने में इतने अदक्ष नहीं हैं या उक्त प्रश्न के सम्बन्ध में इतने असावधान नहीं हैं कि उनसे यह गलती भूल से हुई हो। उन्होंने स्वयं अपने एक निबन्ध, "मिश्रित राजतन्त्र की अराजकता" (Anarchy of a Mixed Monarchy) में श्री हन्टन की इन शब्दों में आलोचना की है, "प्रथम, मैं उन पर यह दोष लगाऊँगा कि···उन्होंने राजतन्त्र की व्यापक परिभाषा

या वर्णन प्रस्तुत नहीं किया है, जो रीति के अनुसार उन्हें करना चाहिए था।" उसी रीति के अनुसार, सर रॉबर्ट को भी पहले यह बतलाना चाहिए था कि "पितृत्व" या "पैतृक सत्ता" क्या है और वह यह बाद में बतलाते कि यह सत्ता किसको प्राप्त होनी चाहिए। शायद, सर रॉबर्ट के विचारानुसार, यदि वह उसे उस बृहत्काय रूप में, जिसे उन्होंने अपनी कल्पना में चित्रित कर रखा है, एक साथ प्रस्तुत करते, तो इस "पैतृक सत्ता"—पिता और सम्राट् की सत्ता—(क्योंकि उनके अनुसार दोनों एक ही सदृश हैं) का बहुत असाधारण और भयानक रूप होता, तथा उससे बहुत भिन्न होता, जो बच्चों की कल्पना में पिता का, या प्रजा की कल्पना में राजा का होता है। अतः उन्होंने अपने तर्क इस प्रकार दिये हैं जिस प्रकार सतर्क चिकित्सक अपने रोगी को कोई कड़वी और तेज़ दवा पिलाने के लिए, उसमें बड़ी मात्रा में पानी मिला देता है जिससे वह इतनी बुरी न लगे।

८. अतः हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि उनके लेखों के विभिन्न भागों में बिखरा हुआ "पितृत्व की सत्ता" का सिद्धान्त क्या है? उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम, वह सत्ता आदम में निहित थी, पर "केवल आदम ही नहीं, वरन् उत्तरवर्ती परिवार-पतियों के पास भी, पितृत्व के अधिकार के कारण, अपनी सन्तानों पर राजकीय अधिकार था।" "यह आधिपत्य, जो आदम को परमेश्वर के आदेशानुसार समस्त संसार पर प्राप्त था, और उससे, वंशानुगत, परिवार-पतियों को प्राप्त हुआ, उतना ही विशाल और विस्तृत था जितना सृष्टि के रचनाकाल से किसी भी निरंकुश सम्राट् को अपने राज्य पर प्राप्त हुआ।" "जीवन और मृत्यु पर अधिकार; युद्ध और शान्ति स्थापित करने का अधिकार।" "आदम और परिवार-पतियों को प्रजा के जीवन और मृत्यु पर निरंकुश अधिकार प्राप्त थे।" "सम्राट्, पितृत्व के अधिकार के कारण, इस सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करने के उत्तराधिकारी हैं।" "चूंकि, राजकीय सत्ता स्वयं परमेश्वर के विधान द्वारा स्थापित है, अतः उसे कोई निम्न कोटि का विधान सीमित नहीं कर सकता।" "आदम का सब पर आधिपत्य था।" "परिवार का पिता, अपनी इच्छा के अतिरिक्त और किसी विधान के आधार पर शासन नहीं करता।" "राजाओं की श्रेष्ठता विधानों के क्षेत्र के परे है।" "राजाओं के असीमित अधिकारों का सैमुएल ने समुचित वर्णन किया है।" "विधान राजाओं को वाधित नहीं करते।" यही अभिप्राय बोदाँ (Bodin) के शब्दों में और स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है जिन्हें हमारा लेखक उद्धृत करता है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजाओं के सब विधान, विशेषाधिकार और अनुदानों को, उनके जीवनकाल के बाद कोई बल प्राप्त नहीं होता

है। यदि उनके लिए—विशेषतया विशेषाधिकारों के लिए—आगामी शासक स्पष्ट सहमति या मौन अनुमति न दे।" "राजाओं द्वारा विधान बनाने का कारण यह है—जब राजा युद्ध में व्यस्त हों, या उनका ध्यान सार्वजनिक कार्यों में लगा हो, जिसके कारण साधारण व्यक्ति उनसे प्रत्यक्ष मिलकर उनकी इच्छा न जान सके, उस समय, विधानों के निर्माण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रजा को विधान द्वारा, अपने राजा की इच्छा ज्ञात हो सकती है।" "राजतन्त्र में यह आवश्यक है कि राजा का स्थान विधान से ऊपर हो।" "आदर्श राज्य में, राजा सब पर अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार शासन करता है।" "लोकविधि अथवा निर्मित विधि, दोनों सम्राट् के व्यापक अधिकारों को कम नही कर सकतीं जो उसे अपनी प्रजा के ऊपर, पितृत्व के आधार पर प्राप्त होते है।" "आदम अपने परिवार का पिता, सम्राट् और शासक था; आरम्भ में पुत्र, सेवक, प्रजा और दास के एक ही अर्थ थे। पिता को अपनी सन्तान तथा सेवकों को इच्छानुसार बेचने या हस्तान्तरित करने का अधिकार था। धर्मग्रन्थों में प्रमाण है कि सम्पत्ति की गणना में, अन्य वस्तुओं के साथ, सेवक और सेविकाएँ भी स्वामी की सम्पत्ति में गिनी जाती थीं।" "परमेश्वर ने पिता को यह भी अधिकार दिया है कि वह अपनी सन्तान पर प्राप्त अपने अधिकारों को किसी अन्य को हस्तान्तरित कर दे। इसीलिए, हम सृष्टि के आरम्भ में, सन्तानों को बेचने या उपहार में दे देने की आम प्रथा देखते है। उस समय सेवक सम्पत्ति के रूप में होते थे जो उत्तराधिकारी को विरासत के साथ प्राप्त होते थे। अतः उस समय नपुंसक करके षंड बनाने के अधिकार का बहुधा प्रयोग किया जाता था।" "विधान सर्वोच्च पिता के अधिकार-प्राप्त-व्यक्ति की केवल इच्छा मात्र है।" "यह परमेश्वर का आदेश था कि आदम की सर्वोच्च सत्ता असीमित हो और उसकी इच्छानुसार सब विधान बने। जैसी व्यवस्था उसके लिए थी, वही व्यवस्था सर्वोच्च सत्ता प्राप्त अन्य सबके लिए भी है।"

९. मैं लेखक के शब्दों से पाठकों को परेशान कर रहा हूँ, परन्तु मैं लाचार हूँ; बात यह है कि इसी से उन्हें हमारे लेखक की "पितृत्व की सत्ता" का आभास मिलना सम्भव है। उनके अनुसार वह सत्ता सर्वप्रथम आदम में निहित थी और उसके बाद राजाओं में। यह "पितृत्व की सत्ता" या "पितृत्व का अधिकार", हमारे लेखक के अनुसार संप्रभुता का अपरिवर्त्तनशील दैव अधिकार है जिसके कारण पिता या राजा को अपनी सन्तान या प्रजा के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर पूर्ण, निरंकुश तथा असीमित अधिकार प्राप्त होता है। वह उनकी सम्पत्ति छीन सकता है या हस्तान्तरित कर सकता है और उनके शरीर को बेच सकता है, या नपुसक बना सकता है या अपनी इच्छा-

नुसार जो चाहे कर सकता है। वह सब उसके दास हैं, जिनका वह मालिक और प्रभु है और उसकी असीमित इच्छा उनका विधान है।

१०. चूँकि हमारे लेखक ने आदम को इतनी अपार सत्ता प्रदान की है जिस पर शासन और राजाओं की सत्ता आधारित की जाती है, अतः यह आशा करना युक्तिसंगत है कि वह विषय का महत्त्व देखते हुए, इसे स्पष्ट तर्क द्वारा सिद्ध करे। हमारे लेखक के सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति के पास और कोई अधिकार नहीं बचते, अतः कम से कम दासत्व की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए, इतने अकाट्य तर्क आवश्यक हैं कि व्यक्ति की अन्तरात्मा को भी सन्तोष हो और वह शान्तिपूर्वक राजाओं की निरंकुश सत्ता स्वीकार कर ले, जिसका राजाओं को प्रजा पर प्रयोग करने का अधिकार है। इसके बिना इतनी निरंकुश सत्ता के निर्माण का लेखक का उद्देश्य केवल कुछ व्यक्तियों के स्वाभाविक अहंकार और महत्वाकांक्षा की प्रशंसा करना मात्र हो जाता है। सत्ता की वृद्धि के साथ-साथ अहंकार और महत्त्वाकांक्षा तो स्वयं ही बढ़ती जाती है। हमारे लेखक के तर्क उन व्यक्तियों को, जो अपनी प्रजा की सहमति से बड़ी परन्तु सीमित-सत्ता का प्रयोग कर रहे हैं, यह प्रलोभन देते हैं कि प्राप्त सत्ता के आधार पर उन्हें वे अधिकार भी प्राप्त हैं जो उन्हें प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि उनके पास औरों से अधिक सत्ता है। इस प्रकार, लेखक उनको ऐसे कार्य करने की ओर आकर्षित करता है जिसमें न उनका लाभ है और न उनके अधीनस्थ प्रजा का। इससे अनिष्ट की आशंका है।

११. चूँकि हमारे लेखक ने अपने निरंकुश राजतन्त्र का निश्चित आकार आदम की संप्रभुता को माना है, अतः मुझे आशा थी कि अपनी पुस्तक पैट्रिआर्का में वह अपने इस मुख्य आधार को तर्क द्वारा प्रमाणित करेगा, जैसा कि ऐसे मौलिक सिद्धान्तों के लिए आवश्यक होता है, और जिस विश्वास के साथ यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, उसके समर्थन में पर्याप्त तर्क प्रस्तुत करेगा। परन्तु सारे निबन्ध में मुझे इस ओर बहुत कम प्रयत्न दिखलाई दिया। यह सिद्धान्त बिना प्रमाण के स्वीकार कर लिया गया है। यह कोई प्रशंसा की बात नहीं है कि इस निबंध में वह "आदम की सत्ता" के आधार पर ही व्यक्ति की "प्राकृतिक स्वतन्त्रता" के "भ्रमपूर्ण सिद्धान्त" को खंडित करता है, यद्यपि वह इस सत्ता के लिए कोई प्रमाण उपस्थित नहीं करता। वह विश्वासपूर्वक कहता है, "आदम को राजकीय सत्ता," "जीवन और मृत्यु पर पूर्ण आधिपत्य और स्वतन्त्रता," "विश्व-व्यापी राजतन्त्र" "जीवन और मृत्यु की निरंकुश सत्ता प्राप्त थी।" ऐसे निश्चित तथ्य वह बार-बार दोहराता है। आश्चर्य तो यह है कि उसकी समस्त पुस्तक पैट्रिआर्का में शासन की इस महत्त्वपूर्ण नींव को स्थापित करने के लिए एक भी तर्क देने का प्रयास

नहीं किया गया है। केवल ऐसे शब्द कहे गये हैं जो तर्क बिलकुल प्रतीत नहीं होते, जैसे—"हमें डीकालोग (Decalogue) में राजकीय सत्ता के इस प्राकृतिक अधिकार की पुष्टि में प्रमाण मिलता है जिसमें सम्राटों के आज्ञापालन करने का आदेश इन शब्दों में दिया गया है, "अपने पिता का आदर करो" मानो सब सत्ता, आरम्भ में, पिता में ही थी ? परन्तु मै कहता हूँ कि डीकालोग में रानियों के आज्ञापालन करने का आदेश इन शब्दों में दिया है, "अपनी माता का आदर करो।" इसके क्या यह अर्थ हैं कि सारी सत्ता आरम्भ में माँ में निहित थी ? सर रॉबर्ट द्वारा प्रस्तुत यह तर्क यदि एक के लिए ठीक है तो दूसरे के लिए भी ठीक माना जाय। इस पर मै और अधिक आगे चलकर उपयुक्त स्थान पर लिखूँगा।

१२. यहाँ पर मैं केवल इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता हूँ कि लेखक ने अपने प्रथम और परवर्ती अध्यायों में अपने मूल सिद्धान्त 'आदम की निरंकुश सत्ता', को प्रमाणित करने के लिए केवल इतना ही कहा है। फिर भी, वह द्वितीय अध्याय इन शब्दों से प्रारम्भ करता है, "धर्मग्रन्थों की व्यवस्था पर आधारित प्रमाणों और तर्कों की बुनियाद पर"—मानो उसने यह सिद्धान्त निश्चित साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित कर दिया हो। आदम की संप्रभुता के यह "प्रमाण और तर्क" केवल 'पिता का आदर करो" को छोड़कर कहाँ हैं, मुझे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। क्या लेखक के इन शब्दों को "बेलारमीन के इन शब्दों में कि 'सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य को भावी सन्तान का शासक बनाया, इस सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति मिलती है", क्या लेखक के इस कथन को धर्मग्रन्थ में से लिया प्रमाण या तर्क या किसी भी प्रकार का तर्क माना जाय ? इन शब्दों के बाद शीघ्र ही लेखक एक विचित्र तर्क से इस निष्कर्ष पर आ जाता है, "और वास्तव में (जैसा कि लेखक का निष्कर्ष) आदम की राजकीय सत्ता" पर्याप्त रूप से उसमें निविष्ट हो गयी।

१३. यदि इस अध्याय में, या सारे निबन्ध में, किसी भी स्थान पर लेखक ने "आदम की राजकीय सत्ता" का, केवल इन्हीं शब्दों को बारबार दोहराने के अतिरिक्त जो कुछ व्यक्तियों की दृष्टि से तर्क बन जाता है—कोई और भी प्रमाण दिया है, तो मैं उसके समर्थकों से प्रार्थना करूँगा कि वे मुझे वह स्थान और पृष्ठ दिखलायें जिससे मुझे अपनी गलती का निश्चय हो जाय और मैं अपनी भूल स्वीकार कर लूँ। यदि ऐसा कोई तर्क नहीं मिलता, तो मै उनसे प्रार्थना करूँगा, जिन्होंने इस पुस्तक की इतनी प्रशंसा की है, कि क्या यह संशय उचित नहीं है कि वे तर्क के आधार पर नहीं, वरन् किसी और स्वार्थ के कारण, निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन कर रहे हैं ? अतः जो

लेखक इस सिद्धान्त के समर्थन में कुछ लिखते हैं, चाहे वह उसके समर्थन में तर्क उपस्थित न करें, वह उसकी प्रशंसा अवश्य करते हैं। परन्तु उन्हें ऐसी आशा तो न होगी कि विवेकपूर्ण और निष्पक्ष व्यक्ति भी उनके मत को स्वीकार कर लेंगे। क्योंकि आदम की "निरंकुश राजकीय सत्ता" को स्थापित करने में, तथा मानव जाति की "प्राकृतिक स्वतन्त्रता" का विरोध करने में, इस महान् विचारक ने अपने निवन्ध में उसे सिद्ध करने का इतना कम प्रयास किया है कि उससे स्वभावत. यही निष्कर्ष निकलता है कि उसके समर्थन में बहुत कम कहा जा सकता है।

१४. इस विचार से कि मैं लेखक का पूरा तात्पर्य समझने में कुछ भूल न करूँ, मैंने उसकी अन्य पुस्तकों—"हॉब्स, एरिस्टोटल आदि पर विचार" (Observations on Hobs, Aristotle etc.) को भी देखा कि शायद दूसरों का विरोध करते समय, उसने अपने प्रिय सिद्धान्त "आदम की संप्रभुता" के समर्थन में कुछ अन्य तर्क दिये हों। अपने निबन्ध "सम्राटों के स्वाभाविक अधिकार" (Natural Power of Kings) में उसने प्रायः कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किये हैं। दूसरे निबन्ध, "श्री हॉब्स के 'लेविएथन' पर कुछ विचार" (Observation on Mr. Hobs's Leviathian) में उसने अपने सब तर्कों को संक्षेप में इकट्ठा प्रस्तुत किया है, जिनका प्रयोग वह अपने लेखों में जगह-जगह करता है। उसके शब्द यह हैं; "यदि परमेश्वर ने केवल आदम की ही रचना की और उसके अंश से नारी को बनाया तथा उन दोनों से सारी मानव जाति की उत्पत्ति हुई और यदि परमेश्वर ने आदम को केवल नारी और उसकी सन्तानों पर ही नहीं, वरन् सारे संसार पर और उसके सब जीवों पर भी आधिपत्य प्रदान किया, जिससे आदम के जीवन-काल में कोई व्यक्ति किसी वस्तु पर अधिकार नहीं कर सकता जब तक वह उसे दान में या आदम की अनुमति से न मिले", आदि आदि। यही "आदम की संप्रभुता" के समर्थन में और "प्राकृतिक स्वतन्त्रता" के खण्डन में उसके समस्त तर्कों का संक्षेप है, जो मुझे अन्य निबन्धों में मिले। उसके अन्य निबन्ध "परमेश्वर द्वारा आदम की रचना" (God's creation of Adam), "आदम का ईव पर परमेश्वर प्रदत्त आधिपत्य" (The Dominion He gave him over Eve.) और "पिता होने के कारण आदम का सन्तान पर आधिपत्य" (The Dominion He had as Father over his Children) हैं। इन सब पर मैं आगे विचार करूँगा।

अध्याय ३

रचना के आधार पर आदम की संप्रभुता

१५. अपने निबन्ध, "अरस्तू की राजनीति पर कुछ विचार" (Observations on Aristotle's Politics) की प्रस्तावना में सर रॉबर्ट ने लिखा है, "मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ, आदम की रचना का निषेध है।" परन्तु आदम की रचना, जिसका अर्थ स्वयं सर्वशक्तिशाली परमेश्वर के हाथों से जीवन प्राप्त करना है, उसको कैसे और सबों के ऊपर संप्रभुता प्रदान करती है, मैं नहीं समझ पाया। इसीलिए मैं यह भी नहीं समझ पाता कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करने से आदम की रचना का निषेध क्यों होता है। मुझे प्रसन्नता होगी यदि कोई अन्य व्यक्ति (चूंकि हमारे लेखक ने इतनी कृपा नहीं की) इसे उसकी ओर से समझाये। यद्यपि मैं "आदम की रचना" में विश्वास करता हूँ, मुझे मानव जाति की स्वतन्त्रता में विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसका जन्म स्वयं परमेश्वर के हाथों से, बिना माता-पिता की मध्यस्थता के, मानव जाति के पूर्व, हुआ था। परमेश्वर की इच्छा से उसे अस्तित्व मिला। इसी प्रकार, आदम के पूर्व, जानवरों के राजा शेर की भी, परमेश्वर की उसी रचनाशक्ति से उत्पत्ति हुई थी। यदि उस शक्ति द्वारा, उस रीति से उत्पन्न होने के कारण ही, बिना किसी और कारण के, दूसरों पर आधिपत्य का अधिकार मिल जाता है, तो इस तर्क के अनुसार हमारे लेखक को, शेर को भी आदम की भाँति अधिकार देने चाहिए, क्योंकि वह निश्चित ही अधिक प्राचीन है। परन्तु नहीं,—हमारा लेखक एक और स्थान पर कहता है, "आदम को अपने पद पर स्वयं परमेश्वर ने नियुक्त किया" है। अतः केवल रचना के आधार पर ही आदम को अधिकार प्राप्त नहीं हुए। "आदम की रचना" का निषेध किये बिना हम मनुष्य की स्वतन्त्रता में विश्वास कर सकते हैं, क्योंकि आदम को सम्राट् पद परमेश्वर द्वारा नियुक्ति के कारण प्राप्त हुआ।

१६. परन्तु हम ध्यान दें कि वह इस "रचना" और "नियुक्ति" में कैसे सामञ्जस्य स्थापित करता है। सर रॉबर्ट के अनुसार "आदम की रचना के बाद, परमेश्वर ने उसे संसार का सम्राट् नियुक्त किया, यद्यपि उस समय उसकी कोई प्रजा नहीं थी। यों प्रजा के बिना वास्तविक शासन सम्भव नहीं है, तथापि प्राकृतिक अधिकार

के कारण, आदम अपनी भावी सन्तान का शासक बना, अतः व्यवहार में नहीं, बरन् स्वभाववश, अपनी रचना होते ही आदम सम्राट् बना।" अच्छा होता यदि वह इस स्थान पर यह बतलाते कि "परमेश्वर द्वारा नियुक्ति" से उनका क्या अर्थ है। क्योंकि जो कुछ भी विधाता आज्ञा देता है या प्राकृतिक विधान आदेश देता है या परमेश्वर की वाणी घोषित करती है, उनके द्वारा "परमेश्वर द्वारा नियुक्ति" का ज्ञान हो सकता है। लेकिन यहाँ इनमें से प्रथम अर्थ लागू नहीं होते—अर्थात् विधाता द्वारा। क्योंकि इसके अर्थ यह होंगे कि "जैसे ही आदम की रचना हुई", वह वस्तुतः सम्राट् बन गया—"क्योंकि प्राकृतिक अधिकार के कारण यह उचित था कि आदम अपनी भावी सन्तान का सम्राट् हो।" परन्तु विधाता द्वारा संसार का सम्राट् वह, वस्तुतः, नहीं बनाया जा सकता था जब, वास्तव में, कोई शासन ही नहीं था, और कोई प्रजा नहीं थी जिस पर शासन होता, जैसा हमारे लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है। लेखक 'संसार के सम्राट्' का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में भी करता है, क्योंकि कहीं-कहीं वह उसका उपयोग इस प्रकार करता है जिसका तात्पर्य, मनुष्य के अतिरिक्त सारे संसार के स्वामी से होता है। अतः पूर्वांकित प्रस्तावना के उसी पृष्ठ पर वह कहता है, "आदम को आदेश मिला कि वह अपने वंश की वृद्धि करके सारे संसार को आबाद और विजित करे। और उसे सब जीवों पर अधिकार दिये गये, अतः वह समस्त संसार का शासक बना। उसकी भावी सन्तानों में से किसी को भी सम्पत्ति का कोई भी अधिकार नहीं था केवल उसे छोड़कर जो उसे आदम से दान में या उसकी अनुमति से या उसके उत्तराधिकारी होने से प्राप्त हो।" (२) अतः हम सम्राट् के अर्थ 'संसार का स्वामी' और 'नियुक्ति' से परमेश्वर का वास्तविक अनुदान समझें, जिसके अनुसार "आदम को निश्चित अधिकार दिया गया है," (जेनेसिस, १,२८), जैसा सर रॉबर्ट ने उक्त प्रस्तावना में स्वीकार किया है; उनका तर्क इस प्रकार होगा, "परमेश्वर के निश्चित अनुदान से, आदम रचना-काल से ही संसार का स्वामी बना क्योंकि प्राकृतिक अधिकार के कारण यह उचित था कि आदम अपनी भावी सन्तान का स्वामी हो।" इस तर्क में दो असत्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम, यह असत्य है कि परमेश्वर ने रचना करते ही आदम को यह अधिकार प्रदान किया, क्योंकि यद्यपि धर्मग्रन्थ में यह रचनाकाल के बाद लिखा है, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह ईव के निर्माण तथा उसे आदम के पास लाने के बाद ही कहा गया होगा। तब आदम कैसे "अपनी रचना होते ही सम्राट् नियुक्त किया गया"। जब लेखक परमेश्वर के उन शब्दों को, (यदि मैं गलती नहीं कर रहा हूँ) प्रस्तुत करता है जो उसने पतन के बाद, बहुत बाद, ईव से कहे थे (जेनेसेस ३,१६)—"शासन का आदि अनुदान",

अतः, मैं नहीं समझ पाता कि हमारा लेखक यह कैसे कह सकता है कि "जैसे ही आदम की रचना हुई, परमेश्वर द्वारा नियुक्ति से वह संसार का सम्राट् बना"। दूसरे, यदि यह सच भी हो कि "परमेश्वर ने अनुदान द्वारा आदम की रचना करते ही उसे संसार का सम्राट् नियुक्त कर दिया", तो भी यहाँ पर दिया गया प्रमाण उसे सिद्ध नहीं करता, वरन् यह सदैव मिथ्या अनुमान होगा कि परमेश्वर ने निश्चित अनुदान द्वारा "आदम को संसार का सम्राट् नियुक्त किया, क्योंकि प्राकृतिक अधिकार द्वारा यह उचित था कि आदम अपनी भावी सन्तान का सम्राट् हो।" यदि उसे शासन का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त था, तो निश्चित अनुदान की कोई आवश्यकता नहीं थी। कम से कम यह इस प्रकार के अनुदान का प्रमाण तो कभी नहीं माना जा सकता।

१७. यदि हम "परमेश्वर द्वारा नियुक्ति" को प्राकृतिक विधान समझें (यद्यपि इस स्थान पर इसका प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है), और "संसार के सम्राट्" का अर्थ मानव जाति का शासक समझें, तो भी स्थिति में अधिक सुधार नहीं होता। तब विचाराधीन वाक्य का यह रूप होगा—"प्राकृतिक विधान के अनुसार, जैसे ही आदम की रचना हुई, वह मानवजाति का शासक बन गया, क्योंकि प्राकृतिक अधिकार के कारण यह उचित था कि आदम अपनी भावी सन्तान का शासक हो।" इसका निष्कर्ष यह होगा कि वह प्राकृतिक अधिकार के आधार पर शासक बना, क्योंकि वह प्राकृतिक अधिकार के कारण शासक था। यदि हम यह मान भी लें कि व्यक्ति "प्राकृतिक अधिकार के कारण अपनी सन्तान का शासक" होता है, तो हम आदम को अपनी रचना होते ही सम्राट् नहीं मान सकते। क्योंकि यह "प्राकृतिक अधिकार" उसे पिता होने के कारण प्राप्त होगा। पिता होने के पहले ही आदम को शासक बनने का यह "प्राकृतिक अधिकार" कैसे प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि पिता होने के नाते ही उसे यह "अधिकार" मिला। जब तक हम उसे पिता बनने के पहले ही पिता न मान लें और पद प्राप्त होने के पहले ही उसे वह पद प्रदान न कर दें, मुझे यह समझना कठिन प्रतीत होता है।

१८. इस आपत्ति का लेखक बड़ा तर्कपूर्ण उत्तर देता है, "वह स्वभाववश शासक था, व्यवहार में नहीं।" बिना शासन के शासक बनने, बिना सन्तान के पिता बनने, और बिना प्रजा के सम्राट् बनने का यह बड़ा अच्छा तरीका है! अतः, सर रॉबर्ट पुस्तक लिखने के पहले ही लेखक थे। यह सच है कि वह "व्यवहार में" नहीं पर "स्वभाववश", तो थे ही, क्योंकि, एक बार अपनी पुस्तक प्रकाशित कराने पर यह उनका "प्राकृतिक अधिकार" हो जाता है कि वह लेखक हों; जिस तरह "आदम को सन्तान उत्पन्न करने पर, उनका शासक होने का अधिकार" था। यदि "संसार का सम्राट्"—

एक निरंकुश सम्राट्, ऐसा ही है—"स्वभाववश, पर व्यवहार में नही," तो सर रॉबर्ट ने अपने जिस किसी भी मित्र को यह पद प्रदान किया हो, उससे हमें अधिक ईर्ष्या न होगी। यद्यपि "स्वभाव" और "व्यवहार" में यह भिन्नता लेखक के चातुर्य के अलावा और कुछ नहीं है, फिर भी वह लेखक का उद्देश्य इस स्थान पर पूरा नहीं करता। हमारे सम्मुख प्रश्न, आदम का शासनसत्ता के वास्तविक प्रयोग का नहीं है, वरन् उसके इस सम्राट् पद पर अधिकार का है। हमारे लेखक के अनुसार "आदम को शासन सत्ता, प्राकृतिक अधिकार द्वारा" प्राप्त हुई। यह प्राकृतिक अधिकार क्या है? ग्रोशस का अनुसरण करते हुए हमारा लेखक कहता है कि यह अधिकार पिता को अपनी सन्तान पर, उन्हें जन्म देने के कारण प्राप्त होता है। यह अधिकार सन्तान के जन्म होने के बाद प्राप्त हो सकता है, क्योंकि उसी के कारण यह अधिकार है। हमारे लेखक के तर्क और भेद उत्पन्न करने से निष्कर्ष निकलता है कि आदम की रचना होते ही उसे यह पद, "स्वभाववश प्राप्त हुआ और व्यवहार में नहीं।" साधारण भाषा में इसका अर्थ है कि आदम को, वास्तव में, कोई पद प्राप्त नहीं हुआ।

१९. पांडित्य का प्रदर्शन कम तथा विवेक का उपयोग अधिक करके, हम आदम के लिए यह कह सकते हैं, "चूंकि यह सम्भव था कि आदम सन्तानों को जन्म दे, अतः वह भविष्य में शासक होने की स्थिति में था, और इस प्रकार उसे सन्तान पर शासन करने का वह प्राकृतिक अधिकार—जो कुछ भी यह अधिकार हो—प्राप्त था जो सन्तान होने के कारण होता है।" परन्तु इसका "आदम की रचना" से क्या सम्बन्ध है? और हम यह कैसे कह सकते हैं कि अपनी "रचना होते ही आदम संसार का सम्राट् बन गया?" क्योकि फिर तो हम नोआ के लिए भी कह सकते हैं कि अपने जन्म से ही संसार का सम्राट् था क्योंकि सम्भावना थी कि वह समस्त मानवजाति की अपेक्षा, अपनी भावी सन्तानों के अतिरिक्त, सबसे अधिक काल तक जीवित रहेगा (जो हमारे लेखक के अनुसार, उसे सम्राट् बनाने के लिए काफी है—स्वभाववश सम्राट्)। मैं पूछता हूँ कि आदम की रचना, और उसके शासन करने के अधिकार में ऐसा क्या मार्मिक सम्बन्ध है जिसके कारण "आदम की रचना" का निषेध किये बिना "मानव जाति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता" स्वीकार न की जा सके? मैं स्वीकार करता हूँ कि कम-से-कम मुझे तो यह समझ में नहीं आता। "नियुक्ति द्वारा" आदि अन्य शब्दों को इकट्ठा करके कैसे कुछ युक्ति-पूर्ण अर्थ निकाला जा सकता है? और कम-से-कम ऐसा निष्कर्ष कैसे स्थापित किया जा सकता है, जैसा हमारे लेखक ने दिया है—"आदम अपनी रचनाकाल से ही सम्राट् था", सम्राट् वह "व्यवहार में नहीं, वरन् स्वभाववश था।" स्पष्ट है, वह सम्राट् था ही नहीं।

२०. मुझे भय है कि मैंने इस अंश पर इतना अधिक समय देकर, जो इसके किसी महत्वपूर्ण परिणाम के लिए आवश्यक प्रतीत नहीं होता, अपने पाठकों को धैर्यच्युत कर दिया होगा। परन्तु हमारे लेखक के लिखने के ढंग के कारण मुझसे न रहा गया। उसने कई आधारों को इस प्रकार सम्मिश्रित कर प्रस्तुत किया है और वह भी ऐसी सन्दिग्ध और व्यापक शब्दावली में कि उससे बहुत भ्रम और अस्पष्टता पैदा होती है। बिना उसके शब्दों के कई विभिन्न सम्भाव्य अर्थों पर विचार किये, और यह देखे कि हर अर्थ में उनमें कितना सत्य का अंश है, लेखक की त्रुटियों को स्पष्ट करना असम्भव है। उक्त विचाराधीन पद्यांश में हमारे लेखक ने कहा है कि "आदम अपने रचनाकाल से ही सम्राट् था"। इस तथ्य के विरुद्ध कोई कैसे तर्क कर सकता है, जब तक वह यह न जान ले कि इन शब्दों, "रचनाकाल से ही", के क्या तात्पर्य हैं? इनके माने उसके शासन के आरम्भ होने के काल से भी हो सकते है, जैसा इन शब्दों से प्रतीत होता है— "जैसे ही उसकी रचना हुई, वह सम्राट् बन गया"। या यह शासन प्रारम्भ होने का कारण माना जा सकता है, जैसा वह कहता है, "रचना द्वारा ही मनुष्य अपनी भावी सन्तान का शासक बना।" इसी प्रकार, आगे चलकर उसके इस प्रकार सम्राट् बनने की सत्यता पर कोई कैसे निर्णय कर सकता है जब तक सम्राट् शब्द का अर्थ ठीक से न समझ ले? इस पद्यांश के आरम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अपना निजी अधिकार था, जो परमेश्वर द्वारा निश्चित अनुदान में मिला था, "नियुक्ति द्वारा संसार का सम्राट्", या "पिता के अपनी सन्तान पर अधिकार" होने के कारण वह सम्राट् था, यह अधिकार "प्राकृतिक अधिकार" है। चाहे सम्राट् शब्द का प्रयोग ऊपर के दोनों अर्थों, या उनमें से एक अर्थ में, या किसी भी अर्थ में न किया गया हो, अर्थ यही होगा कि "रचना द्वारा", वह ऊपर लिखे दोनों आधारों से भिन्न आधार पर सम्राट् बना। यद्यपि लेखक के इन शब्दों, "अपने रचना-काल से ही आदम सम्राट् बन गया" में किसी भी दृष्टि से सत्य का अंश न हो, परन्तु पूर्ववर्त्ती शब्दों से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है। एक अप्रमाणित कथन के साथ एक अन्य उसी प्रकार का कथन प्रस्तुत कर और अस्पष्ट तथा अनिश्चित शब्दों को उसमें जोड़ देने से तर्क प्रतीत होने लगेगा, यद्यपि उनमें कोई प्रमाण या सम्बन्ध न हो, यही हमारे लेखक का सुपरिचित तरीका है, जिसका कुछ अंश मैंने अपने पाठकों के समक्ष यहाँ रखा है। आगे मैं जहाँ तक सम्भव होगा, इस सम्बन्ध में और कुछ न कहूँगा। यहाँ भी मैंने इसीलिए इसे प्रस्तुत किया है जिससे संसार देख ले कि प्रमाणहीन, असम्बद्ध कल्पनाएँ यदि उचित रूप से अच्छी शैली में प्रस्तुत की जायें, तो वे महत्त्वपूर्ण तर्क और सुबुद्धि का नमूना समझी जाने लगती हैं, यहाँ तक कि बाद में उनकी ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगता है।

अध्याय ४

आदम का अनुदान द्वारा प्राप्त संप्रभुत्व संबन्धी अधिकार

२१. पूर्वांकित अनुच्छेद में, तर्कों या विरोध की तीव्रता के कारण नहीं, वरन् शब्दों की जटिलता तथा अर्थ की अस्पष्टता के कारण इतना समय लगा। अब हम लेखक के दूसरे तर्क पर ध्यान देंगे—आदम की संप्रभुता पर। हमारा लेखक श्री सेल्डन (Selden) के शब्दों में हमें बतलाता है, कि "आदम को, परमेश्वर के अनुदान द्वारा, समस्त पदार्थों का शासक बनाया गया (जेनेसिस १,२८) और यह व्यक्तिगत अधिकार बिना उसके प्रदान किये हुए उसकी सन्तान को हस्तान्तरित नहीं हो सकता था। हमारा लेखक कहता है,"श्री सेल्डन का यह मत बाइबिल के इतिहास और प्राकृतिक तर्क के अनुरूप है।" "अरस्तू पर कुछ विचार" (Observations on Aristotle) नामक निबन्ध की प्रस्तावना में लेखक ने लिखा है, "संसार का सर्वप्रथम शासन राजतन्त्र था जो आदम—सबके पिता—से प्रारम्भ हुआ था। आदम को परमेश्वर द्वारा आदेश मिला था कि वह अपने वंश की वृद्धि करके, पृथ्वी को आबाद और अधीनस्थ करे; और उसे सब जीवों पर अधिकार मिले, अतः वह समस्त संसार का सम्राट् बना। उसकी भावी सन्तान को उस समय तक सम्पत्ति का कोई अधिकार नहीं था, जबतक वह उसे दान द्वारा, या अनुमति द्वारा, या उत्तराधिकारी होने के नाते प्राप्त न करे। पवित्र गीतिकार (Psalmist) ने कहा है, 'पृथ्वी मनुष्य की सन्तान को दी गयी', इससे पता चलता है कि यह स्वत्व पितृपद के नाते प्राप्त हुआ।"

२२. इसके पहले कि मैं इस तर्क की और उन मूल शब्दों की, जिन पर यह तर्क आधारित है, जाँच करूँ, पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना आवश्यक समझूँगा कि लेखक अपनी स्वाभाविक रीति के अनुसार आरम्भ में एक अर्थ और अन्त में दूसरे अर्थ का प्रयोग करता है। आरम्भ में उसने कहा, "आदम के स्वत्व और व्यक्तिगत अधिकार दान द्वारा" और निष्कर्ष में उसने लिखा "जिससे पता चलता है कि यह स्वत्व पितृ पद के नाते प्राप्त हुआ।"

२३. परन्तु पहले हम तर्क पर ध्यान दें। बाइबिल के शब्द ये हैं, "परमेश्वर ने उन्हें आशीर्वाद दिया और उनसे कहा—'सन्तान उत्पन्न करो और अपने वंश की वृद्धि कर पृथ्वी को आबाद तथा समृद्ध करो, और समुद्र की मछलियों पर तथा वायु के

पक्षियों पर, और पृथ्वी पर चलनेवाले सब जीवों पर प्रभुत्व स्थापित करो" (जिनेसिस १,२८)। इससे हमारे लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला कि "चूँकि आदम को यहाँ संसार के सब जीवों पर आधिपत्य प्राप्त हुआ, अतः वह समस्त संसार का सम्राट् बना।" इसके यही अर्थ है कि परमेश्वर ने अपने इस अनुदान द्वारा, आदम को सम्पत्ति प्रदान की, या जैसा हमारा लेखक कहता है, "समस्त पृथ्वी पर तथा सब निम्न कोटि के और अविवेकी जीवों पर निजी आधिपत्य प्रदान किया, जिसके कारण वह सम्राट् बना"। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि इसके कारण आदम को संसार के समस्त जीवों पर, अतः अपनी सन्तान पर भी शासन और आधिपत्य प्राप्त हुआ; यों वह सम्राट् बना। श्री सेल्डन ने उचित शब्दों में इस प्रकार कहा है, "आदम सब पदार्थों पर शासक बनाया गया।" यह कथन हमें स्पष्ट समझ में आता है। इसमें आदम को अनुदान द्वारा केवल सम्पत्ति प्राप्त हुई और यहाँ आदम के "सम्राट्" होने के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। परन्तु हमारा लेखक कहता है, "इस प्रकार, आदम संसार का सम्राट् बना", जिसके ठीक-ठीक अर्थ यह होंगे कि वह संसार के सब मनुष्यों का संप्रभु शासक बनाया गया और इस अनुदान द्वारा आदम को ऐसा शासक होना आवश्यक है। यदि हमारे लेखक का अर्थ यह नहीं है, तो उसे स्पष्टतया कहना चाहिए था कि "इस तरह आदम संसार का स्वामी बना"। परन्तु स्पष्ट कथन से उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। पाठकों को उससे, या श्री सेल्डन से, या ऐसे अन्य लेखकों से ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए।

२४. अतः, इस उद्धरण पर आधारित हमारे लेखक के इस सिद्धान्त के, कि "आदम समस्त संसार का सम्राट् था" विपरीत सिद्धान्त को मैं प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा—

प्रथम,—इस अनुदान द्वारा परमेश्वर ने, आदम को मनुष्यों पर, या अपनी सन्तान पर, या मानव जाति पर कोई तत्काल अधिकार प्रदान नहीं किये, अतः वह इस अनुदान द्वारा संसार का शासक या 'सम्राट्' नहीं बना।

द्वितीय,—इस अनुदान द्वारा परमेश्वर ने उसे निम्न श्रेणी के जीवों पर "निजी आधिपत्य' प्रदान नहीं किया, वरन् उसे, समस्त मानव जाति के साथ, समान अधिकार प्रदान किये। अतः इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति के आधार पर भी उसे सम्राट् का पद नहीं मिला।

२५. इस अनुदान (जेनेसिस, १,२८) द्वारा आदम को मनुष्यों पर कोई सत्ता प्राप्त नहीं हुई, यह उसके शब्दों पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा। चूँकि अनुदान में प्रयोग किये गये शब्दों द्वारा ही अनुदान का क्षेत्र निश्चित होता है, अतः हम देखें कि किन शब्दों के अर्थ समस्त मनुष्य जाति या आदम की भावी सन्तान हो सकते है। मेरे

विचार से यदि ऐसे कोई शब्द है तो वे ये हैं, "पृथ्वी पर चलने वाले सब जीवों पर"। पाँचवें दिन परमेश्वर ने मछलियों और पक्षियों की रचना की। छठे दिन के आरम्भ में परमेश्वर ने सूखी धरती के अविवेकी जीवों की रचना की; इनका वर्णन इस प्रकार है, "और परमेश्वर ने कहा--पृथ्वी पर जीवित जानवर हों जो अपने वंश की वृद्धि करें; पृथ्वी पर चौपाये और रेंगनेवाले जानवर और पशु हों जो अपने वंश की वृद्धि करें; और परमेश्वर ने पृथ्वी के पशु बनाये जो अपने वंश की वृद्धि करें और चौपाये जो अपनी वंश-वृद्धि करें और वे सब जानवर जो पृथ्वी पर रेंगते हैं, वे अपने वंश की वृद्धि करें।" यहाँ, पृथ्वी के पशुओं की रचना में परमेश्वर, सर्वप्रथम, सबको एक व्यापक संज्ञा--'जीवों'--से सम्बोधित करता है; फिर वह उनको तीन श्रेणियों में विभाजित करता है। (१) चौपाये, अथवा ऐसे पशु जो पाले जा सकते हैं, जिस कारण वे मनुष्यों की निजी सम्पत्ति बन सकते हैं। (२) पशु, जिन्हें हमारे धर्मग्रन्थ में पशु कहा गया है और जिन्हें सेप्टुआजिन्ट (Septuagint) में वन्य पशु कहा गया है और जिन्हें हमारे लेखक ने, जो आदम को विशेषाधिकार देता है, जीव कहा है। नोआ को पुनः अनुदान देते समय (जेनेसिस, ९,२) भी "जीव" शब्द का ही प्रयोग किया गया है। (३) तीसरी श्रेणी में रेंगनेवाले जानवर आते हैं, जिनको लेखक ने "चलनेवाले जीव" कहा है, जिनको धर्मग्रन्थ ने रेंगनेवाले, तथा *सेप्टुआजिन्ट ने उरग कहा है। अतः परमेश्वर के अनुदान में लेखक द्वारा अनुवादित "चलनेवाले जीव" शब्दों के अन्तर्गत दो श्रेणी के पृथ्वी पर निवास करनेवाले जीव आते हैं--जंगली पशु और उरग, तथा सेप्टुआजिन्ट में इनका यही अर्थ लगाया गया है।

२६. संसार के अविवेकी जीवों की रचना के बाद, जिन्हें तीन श्रेणियों में, उनके निवास के आधार पर, विभाजित किया गया है,--अर्थात् "समुद्र की मछलियाँ, वायु के पक्षी, और पृथ्वी के जीव", जो पुनः, "चौपाये, जंगली पशु, और रेंगनेवाले जीवों" में विभाजित किये गये हैं--परमेश्वर ने मनुष्य की रचना पर, और मनुष्य को सूखी पृथ्वी के जीवों पर क्या अधिकार दिये जायँ, इस पर विचार किया। परमेश्वर ने इन तीनों क्षेत्रों के निवासियों पर विचार किया, पर धरती के जीवों में उसने दूसरी श्रेणी के जीवों, अर्थात् वन्य पशुओं का जिक्र नहीं किया। परन्तु जहाँ वह अपना मन्तव्य वास्तव में कार्यान्वित करता है और मनुष्य को आधिपत्य देता है, वहाँ धर्मग्रन्थ में "समुद्र की मछलियाँ और वायु के पक्षियों" का उल्लेख मिलता है। यहाँ, पृथ्वी के

* यह यूनानी भाषा में बाइबिल का एक पाठ-विशेष है।

जीवों में, जिनसे तात्पर्य जंगली पशु और रेंगनेवाले जीवों से है,—यद्यपि उसका अनुवाद "चलनेवाले जीव" हुआ है,—चौपाये छूट गये हैं। एक जगह "जंगली पशु" छूट गये हैं और दूसरी जगह "चौपाये" छूट गये हैं। परन्तु इन दोनों उद्धरणों का अर्थ एक ही हो सकता है, क्योंकि परमेश्वर ने जो अभिप्राय एक स्थान पर घोषित किया है, उसी को दूसरे स्थान पर कार्यान्वित किया है। हमें यहाँ केवल यह बतलाया गया है कि पृथ्वी पर निवास करनेवाले अविवेकी जीव, जिनकी रचना हो चुकी थी, और रचना के समय ही उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया था,—"चौपाये", "जंगली पशु" और "रेंगनेवाले जीव",—किस प्रकार मनुष्य के अधीनस्थ हुए जैसा उनकी रचना के समय ही परमेश्वर का उद्देश्य था। इन शब्दों से हम किसी भी तरह यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि परमेश्वर ने एक मनुष्य को, सब मनुष्यों के ऊपर—आदम को अपनी भावी सन्तान पर अधिकार दिये।

२७. जेनेसिस ९,२ से यह और भी स्पष्ट हो जाता है, जहाँ परमेश्वर इसी अनुदान को पुनः नोआ और उसके पुत्रों को प्रदान करता है। वह उन्हें "वायु के पक्षियों" और "समुद्र की मछलियों" और "पृथ्वी के जीवों", के ऊपर जिन्हें वह "जंगली पशु और उरग कहकर सम्बोधित करता है, आधिपत्य प्रदान करता है। यह वही शब्द है (जेनेसिस, १,२८) जिनका पहले अनुवाद "पृथ्वी पर चलनेवाले सब जीव" किया गया है। इसमें मनुष्य, किसी भी अर्थ में, समाविष्ट नहीं होता। यह अधिकार नोआ और उसके पुत्रों को, जो उस समय शेष जीवित मनुष्य रह गये थे, दिया गया था। यह आगामी शब्दों से और भी स्पष्ट हो जाता है, जहाँ परमेश्वर (अध्याय १,२८) "हर चलनेवाले जीव" उन्हें भोजन के लिए प्रदान करता है। स्पष्ट है कि परमेश्वर ने आदम को जो अनुदान और पद दिया (अध्याय १,२८), तथा बाद में नोआ और उसके पुत्रों को जो अनुदान दिया, उनका तात्पर्य केवल उन जीवों से है जिनकी रचना परमेश्वर ने पाँचवें दिन और छँठवें दिन के प्रारम्भ में की तथा जिनका वर्णन प्रथम अध्याय के २० से २६ तक के पदों में है। इसमें पृथ्वी पर निवास करनेवाले सब अविवेकी जीव आ जाते हैं, यद्यपि सृष्टि रचना के इतिहास में उनके लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनका बाद के अनुदानों में प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ स्थान पर कुछ जीव और दूसरे स्थान पर कुछ अन्य जीव छूट गये हैं। मेरे विचार से निश्चित रूप से मनुष्य इस अनुदान में समाविष्ट नहीं है और न आदम को मानव जाति पर ही अधिकार दिये गये। पृथ्वी पर वास करनेवाले सब अविवेकी जीवों को, उनकी रचना के समय ही, विभिन्न वर्गों में बाँट दिया गया है जिनके नाम हैं, "पृथ्वी पर बसनेवाले जंगली पशु"। "चौपाये

और रेंगनेवाले जीव।" परन्तु, उस समय तक मनुष्य की रचना नहीं हुई थी। अतः उसका उल्लेख यहाँ नहीं आता। इसलिए चाहे हम हीब्रू शब्दों का ठीक अर्थ समझ लें या नहीं, यह स्पष्ट है कि उसी क्रम में मनुष्य को नही रखा गया है। इसके बाद की पंक्तियाँ, विशेषतः उस हीब्रू शब्द 'सब चलनेवाले जीव', के बाद जो आती हैं, मनुष्येतर प्राणियों को ही केवल ध्यान में रखती हैं, (जिनेसिस ६,२०; ७,१७, २१, २३; ८, १७, १९)। परन्तु इस आदम के अनुदान में उन्हें मनुष्य को भी अवश्य ही सम्मिलित करना चाहिए था। यदि परमेश्वर ने आदम को पृथ्वी पर चलनेवाले सब जीवों (अध्याय १,२८)पर आधिपत्य दिया, और सारी मानव जाति को उसका तथा उसके उत्तराधिकारियों का दास बना दिया, जैसा हमारे लेखक का कथन है, तो मेरे विचार से सर रॉबर्ट को अपनी राजकीय सत्ता को एक कदम और ऊँचा उठाकर संसार को यह विश्वास दिलाना चाहिए था कि शासक अपनी प्रजा का आहार भी कर सकते हैं, क्योंकि परमेश्वर ने नोआ तथा उसके उत्तराधिकारियों को पृथ्वी पर चलनेवाले सब जीवों का आहार करने का भी अधिकार दिया है।

२८. डेविड, धर्मग्रन्थ में लिखित परमेश्वर के इस अनुदान को, और सम्राटों के अधिकारों को, हमारे लेखक के समान ही समझनेवाला माना जा सकता है। उसने अपने पवित्र गीत ८ (Psalm viii) में राजतान्त्रिक सत्ता के ऐसे विशेषाधिकार का, विद्वान् आइन्सवर्थ (Ainsworth) के अनुसार, कहीं उल्लेख नहीं किया है। उसके शब्द यह हैं "तूने मनुष्य की अर्थात् जो मनुष्य की सन्तान है सृष्टि की है। तूने उसे देवदूतों की श्रेणी से तनिक ही निम्न श्रेणी में रखा है। तूने उसे अपने हाथों द्वारा बनायी गयी सृष्टि पर आधिपत्य दिया है। तूने उसे सब पर,—भेड़ और बैल, और वन के जीव, और वायु के पक्षी, और समुद्र की मछलियाँ और समुद्र के अन्य जीव—आधिपत्य दिया है"। इन शब्दों से यह अर्थ नहीं निकलता कि एक मनुष्य को, दूसरे के ऊपर राजकीय सत्ता प्राप्त हुई; बल्कि यह अर्थ स्पष्ट है कि समस्त मानव जाति को, निम्न कोटि के जीवों पर आधिपत्य प्राप्त हुआ। जिसका ऐसा विचार नहीं है वह अपनी इस असाधारण खोज के कारण, मेरे विचार से, सर रॉबर्ट द्वारा वर्णित, सम्राट् होगा। मुझे आशा है कि अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि जब परमेश्वर ने आदम को "पृथ्वी पर चलनेवाले सब जीवों" पर अधिकार दिया, तो उसने उसके द्वारा आदम को मनुष्य जाति का सम्राट् नहीं बनाया। आगे चलकर मैं इसे और भी स्पष्ट करूँगा।

२९. (२) जो कुछ भी परमेश्वर ने इस अनुदान के शब्दों (जेनेसिस १,२८) द्वारा दान दिया, वह, अन्य सब मनुष्यों को छोड़कर, केवल आदम को ही नहीं दिया गया।

इससे जो कुछ भी अधिकार आदम को प्राप्त हुए, वे उसके निजी अधिकार नहीं थे, वरन् समस्त मानव जाति के साथ सम्मिलित रूप में ही उसे प्राप्त हुए। यह अनुदान केवल आदम के लिए ही नहीं था, यह धर्मग्रन्थ के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि बहुबचन में सम्बोधन किया गया है—परमेश्वर ने "उन्हें" आशीर्वाद दिया और "उनसे" कहा किं राज्य करो। परमेश्वर ने आदम और ईव से कहा कि राज्य करो जिसके अनुसार हमारा लेखक कहता है कि आदम संसार का सम्राट् बना। यह शब्द ईव से भी कहे गये थे। बहुत-से टीकाकारों के अनुसार, यह शब्द आदम को, पत्नी प्राप्त होने के पूर्व नहीं, बाद में कहे गये थे। यदि वह संसार का सम्राट् हुआ तो ईव को भी संसार की सम्राज्ञी बनना चाहिए। यदि ईव को आदम के अधीनस्थ माना जाय तो वह कैसे समस्त जीवों पर, या दोनों संयुक्त रूप से सम्पत्ति पर आधिपत्य रख सकते है ? या, क्या यह अर्थ उचित है कि परमेश्वर ने दोनों को सम्मिलित रूप से अनुदान दिया, पर उसका लाभ केवल एक ही अर्थात् आदम ही उठा सकता था ?

३०. मान लीजिए, आप यह कहें कि ईव का तब तक निर्माण नहीं हुआ था। इसे स्वीकार कर लेने पर भी हमारे लेखक को क्या लाभ होगा ? तब तो धर्मग्रन्थ और भी उसके विपरीत साक्ष्य देंगे तथा यह स्पष्ट कर देंगे कि इस अनुदान द्वारा परमेश्वर ने समस्त मानव जातिको सम्मिलित रूप से संसार पर आधिपत्य दिया, केवल आदम को नहीं। धर्मग्रन्थ में 'उन्हें' शब्द में समस्त मानव जाति से अभिप्राय होगा, क्योंकि यह तो निश्चित है कि 'उन्हें' शब्द का उपयोग केवल आदम के लिए नहीं किया जा सकता। छब्बीसवें पद में, जहाँ परमेश्वर आधिपत्य प्रदान करने के इरादे की घोषणा करता है, यह स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय ऐसे जीवों की रचना करने से था जो इस पृथ्वी के अन्य जीवों पर राज्य करें। उसके शब्द यह है—"और परमेश्वर ने कहा कि अब हम अपने सादृश्य, अपनी ही शकल का जीव, मनुष्य बनायेंगे और उन्हें मछली, (इत्यादि)... पर आधिपत्य प्रदान करेंगे।" अतः आधिपत्य "उन्हें" प्रदान किया गया। किसे ? अर्थात् "उन्हें", जो परमेश्वर के सदृश थे —उस मनुष्य जाति के सदस्य, जिनकी वह रचना करनेवाला था। "उन्हें" का तात्पर्य, संसार में उसके सादृश्यवाली समस्त मानव जाति से नहीं, केवल आदम से हो, यह तर्क और धर्मग्रन्थ, दोनों के प्रतिकूल है। यदि उपर्युक्त पद के आरम्भ में "मनुष्य" शब्द, तथा उसके अन्त में "उन्हें" शब्द, एक के ही लिए प्रयुक्त न माने जावें, तो सारे पद का कोई अर्थ नहीं निकलता। पद के आरम्भ में "मनुष्य" का प्रयोग उसकी जाति के लिए हुआ है, और बाद में "उन्हें" का प्रयोग उस जाति के सदस्यों के लिए हुआ है। इसका कारण भी धर्मग्रन्थ में लिखा है।

क्योकि, परमेश्वर ने "उसे अपने सादृश्य और अपनी ही शकल का बनाया", अतः वह विवेकपूर्ण जीव था जो राज्य करने के योग्य था। परमेश्वर के सादृश्य के अर्थ विवेकपूर्ण होता है—ऐसी समस्त मानव जाति बनी और इसके कारण वह निम्न कोटिके जीवों पर आधिपत्य के योग्य हुई। इसलिए उद्धृत पवित्र गीत मे डेविड कहता है, "तूने उसे देवदूतों से तनिक ही निम्न श्रेणी में बनाया है। तू ने उसे सब पर आधिपत्य दिया है।" सम्राट् डेविड यहाँ, यह अकेले आदम के लिए नहीं, वरन् स्पष्टतया मनुष्य के लिए, उसकी सन्तान के लिए और मानव जाति के लिए कह रहा है।

३१. पवित्र गीतिकार के जिन शब्दों को स्वयं लेखक ने प्रमाण रूप प्रस्तुत किया है, उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अनुदान आदम और समस्त मानव जाति को दिया गया था। "पवित्र गीत में लिखा है, 'परमेश्वर ने पृथ्वी, मनुष्य की सन्तान को दी', जिससे यह पता चलता है कि यह पद पितृत्व के कारण प्राप्त हुआ," ऐसा सर रॉबर्ट ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है। लेखक ने आश्चर्यजनक निष्कर्ष निकाला है—चूँकि, परमेश्वर ने पृथ्वी मनुष्य की सन्तान को दी, परन्तु यह पद पितृत्व के आधार पर प्राप्त हुआ। दुःख है कि हीब्रू में मनुष्य जाति को अभिव्यक्त करने के लिए 'मनुष्य की सन्तान' का प्रयोग किया गया है, 'मनुष्य के पिता' का नहीं। यदि वहाँ 'मनुष्य के पिता' का प्रयोग होता, तो हमारे लेखक, कम-से-कम ध्वनि के आधार पर ही पृथ्वी पर आधिपत्य का आधार, यह पद पितृत्व कह देते। परन्तु यह निष्कर्ष कि पितृत्व के आधार पर पृथ्वी पर आधिपत्य प्राप्त हुआ क्योंकि परमेश्वर ने उसे मनुष्य की सन्तान को दिया, केवल हमारे लेखक के लिए ही सम्भव है। शब्दों की ध्वनि और अर्थ, दोनों के ही प्रतिकूल जाने के लिए बहुत हिम्मत होनी चाहिए। अपनी प्रस्तावना में आदम को सम्राट् सिद्ध करने के लिए लेखक ने यह तर्क अपनाया है—"परमेश्वर ने पृथ्वी, मनुष्य की सन्तान को प्रदान की, परन्तु आदम संसार का सम्राट् हुआ।" और विचार से कोई व्यक्ति इससे बेहतर निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। जब तक यह न प्रमाणित कर दिया जाय कि मनुष्य की सन्तान से तात्पर्य केवल आदम से है, जिसका कोई पिता नहीं था, तब तक इस कथन की स्पष्ट असंगति में कोई सन्देह नहीं होता। हमारे लेखक चाहे जो कहें, धर्मग्रन्थ कोई ऐसी मूर्खतापूर्ण बात नहीं कहते।

३२. आदम की सम्पत्ति और निजी आधिपत्य को बनाये रखने के लिए, हमारा लेखक, अपनी प्रस्तावना के अगले पृष्ठ पर, नोआ और उसके पुत्रों को, उसी स्थान पर (जेनेसिस ९.१,२,३) दिये गये समाधिकारों को नष्ट करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह दो तर्क उपस्थित करता है।

प्रथम—सर रॉबर्ट, धर्म ग्रन्थ के स्पष्ट अर्थ के प्रतिकूल, हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यहाँ जो अधिकार नोआ को प्रदान किया गया है, वह उसके साथ उसके पुत्रों को भी प्रदान नहीं किया गया है। लेखक के शब्द यह हैं, "नोआ और उसके पुत्रों के समानाधिकारों के लिए, जो श्री सेल्डन के अनुसार उन्हें प्राप्त हुए थे, (जेनेसिस ९.२) मुझे यह कहना है कि यह उक्ति धर्मग्रन्थ द्वारा प्रमाणित नहीं होती।" जब धर्मग्रन्थ के स्पष्ट शब्द, जिनका कोई दूसरा अर्थ नहीं लगाया जा सकता, हमारे लेखक को, जो बाइबिल को ही अपना आधार मानते हैं, सन्तुष्ट नहीं करते, तो यह कल्पना करना कठिन है कि वह किस प्रमाण को मानेंगे। बाइबिल में लिखा है, "परमेश्वर ने नोआ और उसके पुत्रों को आशीर्वाद दिया और उनसे कहा..."। पर हमारे लेखक का कहना है कि "उनसे कहा" के स्थान पर "उससे कहा" होना चाहिए। उनके अनुसार, "यद्यपि आशीर्वाद देते समय नोआ के साथ पुत्रों का उल्लेख किया गया है, पर यहाँ पुत्रों को नोआ के अधीनस्थ या उत्तराधिकारी के रूप में समझना सर्वोचित प्रतीत होता है।" हमारे लेखक को, निःसन्देह, यह सर्वोचित प्रतीत होगा, क्योंकि यही उनके उद्देश्य की सर्वोचित रूप से पूर्ति करता है। परन्तु किसी भी अन्य व्यक्ति को, जो सीधे-साधे शब्द-विन्यास और स्पष्ट अर्थ से परिचित हो, परमेश्वर के अनुदान में, नोआ के पुत्रों को अधीनस्थ और उत्तराधिकारी के रूप में समझना सर्वोचित नहीं प्रतीत होगा, जब परमेश्वर के कथन में ऐसी किसी सीमा का उल्लेख नहीं है। परन्तु अपने मत के लिए, हमारे लेखक के पास कई कारण हैं। वह कहता है, "यदि पुत्र अपने पिता के अधीनस्थ , या पिता की मृत्यु के बाद, निजी आधिपत्य प्राप्त करें, तो यह आशीर्वाद सच्चे रूप में पूर्ण होता है।" इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक अनुदान, जो स्पष्ट शब्दों में वर्तमान में संयुक्त पद प्रदान करे, क्योंकि धर्मग्रन्थ में लिखा है— "तुम्हारे हाथों में मैं इन्हें अर्पित करता हूँ" तो उससे यही समझना सबसे उचित होगा कि उसका अधीनस्थ या उत्तराधिकारी के रूप में उपभोग किया जाय, क्योंकि अधीनस्थ या उत्तराधिकारी के रूप में उसका उपभोग होने की सम्भावना है। या यों कहिए कि वर्त्तमान में जो अनुदान किया गया है, उसे भविष्य के लिए अनुदान समझना सबसे उचित होगा, क्योकि भविष्य में उसके उपभोग की सम्भावना है। यदि अनुदान पिता और उसके पुत्रों को दिया गया है और पिता अपने पुत्रों को, वर्त्तमान में, अपने साथ उसका उपभोग करने देता है, तो हम इसके लिए वास्तव में यह कह सकते हैं कि दोनों को समाधिकार मिला। परन्तु यदि शब्दों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि दोनों को संयुक्त रूप से सम्पत्ति पर अधिकार मिला, तो उसे भविष्य के लिए अनुदान समझना गलत

होगा। लेखक के सारे तर्कों का सारांश यह है; परमेश्वर ने नोआ के पुत्रों को, अपने पिता के साथ संयुक्त रूप से संसार पर आधिपत्य नहीं दिया, क्योंकि यह सम्भावना थी कि वे, उसके अधीनस्थ, या उसके बाद, उसका उपभोग करें। धर्मग्रन्थ के स्पष्ट आदेश के विरुद्ध यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत होता है। यद्यपि परमेश्वर ने स्वयं यह शब्द कहे हैं, पर क्योंकि यह सर रॉबर्ट के उद्देश्य के विपरीत हैं, अतः परमेश्वर का विश्वास न किया जाय।

३३. यह स्पष्ट है कि इस आशीर्वाद का कुछ अंश नोआ को नही, वरन्, उसके पुत्रों को सम्बोधित करके कहा गया होगा, यद्यपि लेखक उन शब्दों को कितना ही अलग करने की कोशिश करे, और उनका तात्पर्य उत्तराधिकारी के रूप में समझे। परमेश्वर ने इस आशीर्वाद में कहा है, "सन्तान उत्पन्न करो और अपने वंश की वृद्धि कर पृथ्वी आबाद करो।" जैसा आगे स्पष्ट होगा, यह अंश नोआ के लिए नहीं कहा गया था। जल-प्रलय के बाद हमें नोआ के कोई और सन्तान होने का उल्लेख नहीं मिलता। अगले अध्याय में, जहाँ उसके वंश का हिसाब लगाया गया है, वहाँ भी उसके नवीन सन्तान होने का उल्लेख नहीं है। क्या जलप्रलय के ३५० वर्ष बाद तक, यह आशीर्वाद उत्तराधिकारियों के लिए फलीभूत नहीं हो सकता था? हमारे लेखक के कल्पनामय राजतन्त्र के अनुसार ३५० वर्ष तक, पृथ्वी के आबाद होने को स्थगित करना पड़ेगा। जब तक हमारा लेखक यह न कहे कि नोआ के पुत्रों को, अपने पिता की, अपनी पत्नियों के साथ शयन करने की अनुमति माँगना आवश्यक था, इस अंश के लिए आशीर्वाद का अधीनस्थ रूप भी समझ में नहीं आता। परन्तु इस एक विषय पर हमारे लेखक अपने सब निबन्धों में अचल हैं। उनकी सारी चिन्ता यही है कि संसार में सम्राट् बने रहें; मनुष्य बने रहें, इसकी चिन्ता उन्हें बहुत कम है। सच तो यह है कि उनकी शासन-पद्धति संसार को आबाद करने की साधन नहीं है। निरंकुश राजतन्त्र कितनी मात्रा में परमेश्वर के इस प्राथमिक और महान् आशीर्वाद को कार्यान्वित करने में सहायता देते हैं कि "सन्तान उत्पन्न करो और अपने वंश की वृद्धि करके, पृथ्वी आबाद करो", जिसमें कला, और विज्ञान और जीवन की सुविधाओं की उन्नति का भी समावेश है। राजतन्त्र का परिणाम उन बड़े और धनी देशों में दृष्टिगोचर होता है जो तुर्की के अधीन हैं और जहाँ पहले की अपेक्षा एक तिहाई, या उनके अधिकांश भागों में १/३० या शायद १/१००, जनसंख्या भी नहीं रह गयी है। यह प्राचीन इतिहास और वर्त्तमान समय की गणना की तुलना करने से पता चल सकता है। इस विषय पर मैं आगे कुछ कहूँगा।

३४. इस आशीर्वाद या अनुदान के दूसरे अंश इस रूप में कहे गये हैं कि वह नोआ के

पुत्रों के लिए ही उपयुक्त होते हैं—उनके अधीनस्थ या उत्तराधिकारी के रूप में नहीं, वरन् नोआ के समानाधिकारी के रूप में। परमेश्वर ने कहा, "हर पशु को तुमसे भय हो" आदि आदि. . .। क्या हमारे लेखक के अलावा और कोई यह अर्थ लगा सकता है कि इन जीवों को केवल नोआ से भय था और उसके पुत्रों से नहीं—बिना उसकी अनुमति के या उसकी मृत्यु होने तक ? इसके बाद ये शब्द आते हैं, "उन्हें तुम्हारे हाथों में अर्पित करता हूँ।" क्या इसके यह अर्थ हैं, जैसा हमारे लेखक का मत है, 'तुम्हारे पिता की अनुमति से, या उसकी मृत्यु के बाद वे तुम्हें सौंपे जायेंगे' ? यदि धर्मशास्त्र का ऐसा तर्क होता है, तो पता नहीं क्या क्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसे तर्क और काल्पनिक कथाओं में क्या अन्तर है, या इससे दार्शनिकों और कवियों के विचार, जिनकी लेखक अपनी प्रस्तावना में इतनी भर्त्सना करता है, कितने अधिक सुदृढ़ हैं।

३५. परन्तु हमारा लेखक यही सिद्ध करता है कि "इस आशीर्वाद को अधीनस्थ या उत्तराधिकार के रूप में समझना ही सर्वोचित होगा, क्योंकि उसके अनुसार "इसकी सम्भावना नहीं है कि परमेश्वर ने आदम को जो निजी आधिपत्य दिया था, और जिसे उसने दान, समर्पण अथवा विसर्जन द्वारा अपनी सन्तान को दिया, अब रद्द कर दिया गया और नोआ तथा उसके पुत्रों को सब पदार्थों में समानाधिकार दे दिये गये। नोआ संसार का एक मात्र उत्तराधिकारी शेष रह गया था। ऐसा क्यों सोचा जाय कि परमेश्वर उसे उसके जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित करेगा और उसे, अपनी सन्तान के साथ, संयुक्त रूप से, पृथ्वी पर अधिवासी बनायेगा।"

३६. हमारे अपने निराधार विचार जो भी हों,उसके आधार पर हम बाइबिल के शब्दों के स्पष्ट और प्रत्यक्ष अर्थ के प्रतिकूल निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। मैं यह मानता हूँ कि इस स्थान पर आदम के निजी आधिपत्य को रद्द प्रमाणित कर सकने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि आदम का ऐसा निजी आधिपत्य सिद्ध करना ही असम्भव है। क्योंकि बाइबिल को ठीक से समझने के लिए, समान घटनाओं की तुलना करने से सहायता मिलती है, अतः नोआ तथा उसके पुत्रों को, जलप्रलय के बाद दिये गये आशीर्वाद की तथा आदम को रचना के बाद दिये गये आशीर्वाद की तुलना करना आवश्यक है। इस तुलना से हमें निश्चित रूप से पता चलता है कि परमेश्वर ने आदम को कोई ऐसा निजी आधिपत्य प्रदान नहीं किया। मै मानता हूँ कि जलप्रलय के बाद नोआ को वही पद, वही सम्पत्ति और वही आधिपत्य मिलना चाहिए जो आदम को जलप्रलय के पहले प्राप्त था। चूँकि परमेश्वर ने नोआ और उसके पुत्रों को संयुक्त रूप से जो अनुदान और

आशीर्वाद दिया, उसमें निजी आधिपत्य सम्भव नहीं है, अतः मेरे निष्कर्ष का पर्याप्त आधार है कि आदम के पास भी ऐसा आधिपत्य नहीं था, विशेषतया, जब आदम को जो अनुदान दिया गया उसमें ऐसे कोई शब्द नही है जो इसे व्यक्त करें या इस ओर संकेत करे। मेरे पाठक अब स्वयं निर्णय करें कि हमारे लेखक के निष्कर्ष को, जिसके समर्थन में धर्मग्रन्थ में कोई शब्द नहीं है और जिसके विपरीत धर्मग्रन्थ प्रमाण है, कैसे माना जा सकता है।

३७. हमारा लेखक कहता है, "नोआ संसार का एकमात्र उत्तराधिकारी था। ऐसा क्यों सोचा जाय कि परमेश्वर उसे, उसके जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित करेगा ?" इंग्लैड में उत्तराधिकारी का तात्पर्य ज्येष्ठ पुत्र से होता है जिसे इंग्लैड के विधान के अनुसार, अपने पिता की समस्त सम्पत्ति प्राप्त होती है। परन्तु अच्छा होता यदि हमारे लेखक हमें यह दिखा सकते कि परमेश्वर ने किस स्थान पर ऐसे किसी "संसार के एकमात्र उत्तराधिकारी" को नियुक्त किया है, और किस प्रकार उसे "अपने जन्मसिद्ध अधिकार" से वंचित किया है। यदि परमेश्वर ने नोआ के पुत्रों को अपने, तथा अपने परिवारों के पोषण के लिए, पृथ्वी के कुछ भाग का उपयोग करने का अधिकार दे दिया, तो इससे क्या हानि हुई ? सारी पृथ्वी नोआ के लिए बहुत अधिक थी और उन सबके उपयोग करने पर भी, किसी के लिए कमी की गुंजाइश न होती, और न किसी को हानि होती।

३८. शायद हमारे लेखक को पहले ही यह आशंका थी कि अन्य व्यक्ति, इसे विवेक के प्रतिकूल होने के कारण स्वीकार न करेंगे और वह चाहे जो कुछ कहे, सब धर्म-ग्रन्थ के स्पष्ट शब्दों को ही स्वीकार करेंगे और यही समझेंगे कि यह अनुदान, नोआ तथा उसके पुत्रों को संयुक्त रूप से प्राप्त हुआ था। अतः वह भी धीरे-धीरे हमें यह विश्वास दिलाता है कि नोआ को इस अनुदान द्वारा कोई सम्पत्ति या आधिपत्य प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि इसमें पृथ्वी को अधीनस्थ करने तथा अन्य जीवों पर आधिपत्य स्थापित करने का उल्लेख नहीं है और न पृथ्वी शब्द का ही प्रयोग एक बार भी हुआ है। अतः लेखक के अनुसार "दोनों अनुदानों की शब्दावली में काफी भिन्नता है। प्रथम आर्शीवाद द्वारा आदम को संसार तथा अन्य जीवों पर अधिकार प्राप्त हुआ। द्वितीय आशीर्वाद द्वारा नोआ को जीवों का आहार करने की स्वतन्त्रता दी गयी। यहाँ सब सम्पत्ति पर उसके अधिकारों में कोई कमी नहीं हुई है, परन्तु उसके साधारण अधिकारों में विस्तार हुआ। यहाँ समस्त पदार्थों पर उसके एकाधिकार में कमी या परिवर्त्तन नहीं हुआ, वरन् केवल साधारण अधिकारों में विस्तार हुआ है।" अतः हमारे लेखक के अनुसार इस अनुदान में जो कुछ नोआ तथा उसके पुत्रों से कहा गया है, उससे उनको

कोई आधिपत्य या सम्पत्ति प्राप्त नहीं हुई, वरन् केवल साधारण अधिकारों में विस्तार हुआ। "उनके" साधारण अधिकार कहना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर कहता है "तुमको यह सब दिये जाते हैं।" परन्तु हमारा लेखक "उसके" शब्द का उपयोग करता है। सर रॉबर्ट के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि नोआ के पुत्र, अपने पिता के जीवन-काल में अनशन ही करते होंगे।

३९. नोआ और उसके पुत्रों को दिये गये इस आशीर्वाद में केवल समाधिकारों के अतिरिक्त कुछ और देखनेवाले, लेखक के अलावा, किसी व्यक्ति को हम अन्ध-विश्वास से जकड़ा हुआ समझेंगे। परमेश्वर के कथन, "प्रत्येक पशु तुमसे भय करेगा" में हमारे लेखक के विचार से आधिपत्य प्रदान का उल्लेख है। मेरे विचार से इसमें मानव जाति की अन्य जीवों पर श्रेष्ठता का ही अभिप्राय है। आदम को निम्न कोटि के पशुओं पर जो अधिकार दिया गया, वह इस भय की भावना में है, यद्यपि आदम, निरंकुश शासक होते हुए भी, अपनी भूख को मिटाने के लिए खरगोश या पक्षी का आहार करने की हिम्मत नहीं कर सकता था और अन्य पशुओं की भाँति वह भी कन्दमूल खाता था। यह जेनेसिस १, २, ९ और ३० से स्पष्ट हो जाता है। दूसरे, यह स्पष्ट है कि नोआ और उसके पुत्रों को, अकेले आदम की अपेक्षा, इस आशीर्वाद में, सम्पत्ति स्पष्ट शब्दों में ही नहीं प्रदान की गयी है, वरन् उसका क्षेत्र और विस्तृत हो गया है। परमेश्वर ने नोआ और उसके पुत्रों से कहा, "तुम्हारे हाथों में मैं उन्हें देता हूँ।" यदि यही शब्द सम्पत्ति प्रदान नहीं करते, तो और कौन से शब्द है जो सम्पत्ति प्रदान करते हैं। किसी व्यक्ति के आधिपत्य में किसी वस्तु के अधिकार को व्यक्त करने का सबसे स्वाभाविक तथा सबसे निश्चित ढंग यही है—"उसके हाथों में दे देना।" फिर, परमेश्वर ने कहा, "चलनेवाला प्रत्येक जीव, तुम्हारा आहार होगा" ऐसा अधिकार आदम को भी प्राप्त नहीं था। इस तरह उनको सम्पत्ति पर ऐसा पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया जिसका मनुष्य समर्थक है—अर्थात् उपयोग द्वारा वस्तु को नष्ट करने का अधिकार। इस पर हमारा लेखक कहता है, "यह उनको आहार के लिए उपयोग करने की स्वतन्त्रता है और केवल साधारण अधिकारों का विस्तार है, इससे सम्पत्ति के अधिकार में विस्तार नहीं होता।" "जीवों का उपयोग करने की स्वतन्त्रता" के अलावा, मनुष्य का उन पर और क्या आधिपत्य हो सकता है, यह समझना कठिन है। अतः, हमारे लेखक के अनुसार, यदि प्रथम आशीर्वाद द्वारा आदम को जीवों पर आधिपत्य प्राप्त हुआ, और नोआ तथा उनके पुत्रों को दिये गये आशीर्वाद द्वारा उन्हें उनका उपयोग करने की स्वतन्त्रता मिली, जो आदम के पास नहीं थी; तो स्पष्ट है कि इस प्रकार उन्हें

ऐसा अधिकार प्राप्त हुआ, जिससे आदम स्वामी होने पर भी वंचित था। इसे सम्पत्ति के क्षेत्र में विस्तार ही समझा जायगा। यह निश्चित है कि आदम को, जीवों के शरीर पर भी पूर्ण आधिपत्य नहीं था। जो उस सम्पत्ति का वैसा उपयोग न कर सके, जिसकी नोआ और उसके पुत्रों को अनुमति मिली, तो उसकी सम्पत्ति का क्षेत्र बहुत संकीर्ण और छोटा ही माना जायगा। यदि किसी देश का निरंकुश शासक, हमारे लेखक को पृथ्वी को वशीभूत करने की आज्ञा दे और उसे इसमें बसनेवाले जीवों पर आधिपत्य प्रदान करे; परन्तु उसे अपनी भूख मिटाने के हेतु एक भी भेड़ या मेमना लेने की अनुमति न दे, तो मेरे विचार से लेखक शायद ही अपने को उस देश का या उसके पशुओं का शासक या स्वामी समझे। एक गड़ेरिये को, सम्पत्ति का स्वामी होने से जो आधिपत्य मिलता है, उससे तुलना करने से उसकी भिन्नता उसे प्रकट हो जायगी। नोआ और उसके पुत्रों को छिपा आशीर्वाद यदि स्वयं लेखक को मिलता, तो वे इसे सम्पत्ति के क्षेत्र में विस्तार ही समझते। नोआ और उसकी सन्तान को इस अनुदान द्वारा केवल सम्पत्ति ही नहीं प्राप्त हुई, वरन् जीवों पर वे अधिकार प्राप्त हुए जो आदम को प्राप्त नहीं थे। यद्यपि मनुष्यों के आपस के सम्बन्ध में, उनको जीवों पर स्पष्ट मात्रा में अधिकार प्राप्त हो सकते हैं, पर जहाँ तक परमेश्वर का सम्बन्ध है, जिसने आकाश और पृथ्वी की रचना की है, जो सारे संसार का एकमात्र स्वामी और नियन्ता है; उसने मनुष्य का "जीवों पर अधिकार" केवल उनको उपयोग करने की स्वतन्त्रता के रूप में दिया। मनुष्य को दी गयी सम्पत्ति में परिवर्तन या विस्तार हो सकता है, जैसा जलप्रलय के बाद किया गया। जब परमेश्वर ने जीवों के अन्य उपयोगों की अनुमति दी, जो मनुष्य को जल-प्रलय के पहले प्राप्त नहीं थी। मेरे विचार से, इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि न आदम को, और न नोआ को, जीवों पर किसी प्रकार का व्यक्तिगत आधिपत्य प्राप्त हुआ जिससे भावी सन्तान वर्जित थी।

४०. हमने परमेश्वर के आशीर्वाद (जेनेसिस १.२८) पर आधारित आदम के राजतन्त्र पर अपने लेखक के तर्कों का विश्लेषण किया। मेरे विचार से इस आशीर्वाद में, किसी भी स्थिरबुद्धि पाठक को, इस पृथ्वी पर रहनेवाले जीवों पर समस्त मानव जाति के आधिपत्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखलाई देगा। इसमें मनुष्य को, पृथ्वी पर निवास करनेवाली सम्पूर्ण मानव जाति को, जिसका सृष्टिकर्त्ता से सादृश्य है, दूसरे जीवों पर आधिपत्य दिया गया है तथा इसके अलावा और कुछ नहीं है। यह उसके सीधे-साधे शब्दों से इतना स्पष्ट है कि हमारे लेखक को छोड़कर और किसी को इसकी आवश्यकता न होती कि वह इन शब्दों से यह अर्थ लगाये कि आदम

को मनुष्यों पर निरंकुश राजतंत्रिक अधिकार प्राप्त हुए। मेरे विचार से जिस उद्देश्य के लिए उसने सारा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसके लिए उसे ऐसे शब्दों को उद्धृत न करना चाहिए था जो उसी के विपरीत संकेत करते हों। मेरा विश्वास है कि इन शब्दों में कहीं भी "आदम के राजतन्त्र या व्यक्तिगत आधिपत्य" की ओर संकेत नही है, वरन् इसके विपरीत ही है। मुझे अपनी कुंद बुद्धि पर कम खेद होता है जब मै देखता हूँ कि प्रभु जीज़स के शिष्य को भी मेरी तरह आदम के ऐसे व्यक्तिगत आधिपत्य की कोई धारणा नही थी, क्योंकि वह कहता है, "परमेश्वर ने हमें सब वस्तुएँ उपभोग करने के लिए प्रदान की हैं।" ऐसा उपभोग हम सबको नहीं मिल सकता यदि वह पहले ही सम्राट् आदम और उसके उत्तराधिकारी सम्राटों को प्रदान किया जा चुका है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये शब्द आदम को एकमात्र स्वामी सिद्ध करने की अपेक्षा इस बात का और समर्थन करते है कि आरम्भ से ही सब मनुष्यों में समानाधिकार थे जैसा परमेश्वर के इस आशीर्वाद तथा धर्मग्रन्थ के अन्य स्थानों से प्रकट होता है। अतः आदम की संप्रभुता, जो उसके निजी आधिपत्य पर आधारित है, निराधार हो जाती है।

४१. फिर भी यदि कोई यह माने कि इस अनुदान (डोनेशन) द्वारा परमेश्वर ने आदम को समस्त पृथ्वी का एकमात्र स्वामी बनाया, तो इसका उसकी संप्रभुता से क्या सम्बन्ध है? और भूमि का स्वामी होने से किसी व्यक्ति को कैसे दूसरे के जीवन पर अधिकार मिल जाता है? या समस्त पृथ्वी का स्वामी होने पर भी, किसी एक सम्राट् को, अन्य मनुष्यों के जीवन पर स्वेच्छाचारी अधिकार कैसे मिल जाते है? अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि यदि मानव जाति उसकी संप्रभुता स्वीकार न करे और उसका आज्ञापालन न करे, तो संसार का स्वामी मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार भोजन से वंचित कर सकता है। इस निष्कर्ष के खण्डन से यह सिद्ध किया जा सकता है कि ऐसी कोई सम्पत्ति थी ही नहीं और परमेश्वर ने कभी ऐसा निजी आधिपत्य दिया ही नही। जब परमेश्वर ने मानव जाति को अपने वंश की वृद्धि करने का आदेश दिया है तो यह मानना अधिक बुद्धिसंगत होगा कि उसने स्वयं ही उनको भोजन, वस्त्र तथा जीवन की अन्य सुविधाओं के उपयोग का अधिकार दिया है, जिसकी उसने प्रचुर मात्रा में सृष्टि की है। क्या वह उन्हें अपने जीवन के लिए एक मनुष्य की इच्छा पर निर्भर छोड़ देगा, जिसे उन्हें अपनी इच्छानुसार नष्ट करने का भी अधिकार हो और जो दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा विशेष योग्य न हो; और जिसके वंशज, सम्भवतः, अभाव-वश, उनकी समृद्धि और सुख की वृद्धि न करें, उनसे कड़ा काम लें, जिससे वे परमेश्वर

के महान् आदेश—"सन्तान उत्पन्न कर वंश की वृद्धि करो" का पालन न कर सकें ? जिसको इसमें सन्देह है, वह संसार के निरंकुश राजतन्त्रो की ओर दृष्टिपात करे और देखे कि वहाँ जीवन की सुविधाओं और बहुसंख्यक जनसमुदायों की क्या दशा है।

४२. परन्तु हम जानते हैं कि परमेश्वरने मनुष्य को दूसरे की दया पर इतना नही छोड़ दिया है कि वह अपनी इच्छानुसार उन्हें भूखों मार सके। प्रभु और जगत् पिता परमेश्वर ने अपनी किसी सन्तान को ऐसे अधिकार नहीं दिये हैं। हाँ, यदि किसी दरिद्र भाई को आवश्यकता है, तो वह सम्पत्तिशाली भाई के उस भाग से जो उसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक हो हिस्सा लेने का अधिकारी है। अतः यदि उसे किसी वस्तु की अत्यावश्यकता है, तो उससे उसे वंचित रखना न्यायपूर्ण नहीं होगा। किसी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार के कारण, दूसरे मनुष्य के जीवन पर न्यायसंगत अधिकार नहीं हो सकता। किसी भी बड़े सम्पत्तिशाली व्यक्ति के लिए सम्पत्ति में से, अपने निर्धन भाई की सहायता न करना जिसके अभाव में वह नष्ट हो जाय, पाप होगा। जिस तरह न्याय के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने ईमानदारी से किये हुए श्रम का फल मिलता है और अपने पूर्वजों की सम्पत्ति प्राप्त होती है, उसी तरह 'अनुकम्पा' (Charity) से, हर व्यक्ति को जब उसके पास जीवित रहने के अन्य साधन न रह गये हों दूसरे की प्रचुर सम्पत्ति में से उतना पाने का अधिकार होता है जो उसकी अत्यावश्यकताओं को पूरा कर सके। दूसरे की आवश्यकताओं का लाभ उठाकर, और उसे ऐसी सहायता न देकर, जो परमेश्वर गरीब भाइयों को देने का आदेश देता है, उन्हें अपना दास बनाना उतना ही अन्यायपूर्ण है जैसे कोई शक्तिशाली पुरुष, कमजोर व्यक्ति को पकड़कर अपनी आज्ञा पालन करवाये और छुरा दिखाकर उसे मृत्यु और दासत्व में से चुनने को कहे।

४३. यदि कोई परमेश्वर के अनुदान का, जिसे उसने अपनी उदारता से दिया है, दुरुपयोग करे; यदि कोई इस सीमा तक क्रूर और कठोर बन जाय, तो भी यह नहीं प्रमाणित होता कि भूमि का स्वामी होने से, स्वामी का, उस भूमि पर रहनेवाले व्यक्तियों पर भी अधिकार हो जाता है—ऐसा अधिकार केवल अनुबन्ध द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। धनी स्वामी की सत्ता और निर्धन की पराधीनता का आधार, धनिक के स्वामित्व में नहीं, वरन् निर्धन व्यक्ति की स्वीकृति है, जिसने भूखे मरने की अपेक्षा पराधीनता स्वीकार की। जिस व्यक्ति की उसने इस रीति से अधीनता स्वीकार की, उसे अनुबन्ध द्वारा स्वीकृत अधिकारों के अतिरिक्त और कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती। यदि अकाल के समय किसी के गोदाम भरे हुए हैं, या किसी के पास प्रचुर धन है, या

जहाज में समुद्र पर यात्रा के समय जिसे तैरना आता है, आदि, इसके कारण भी शासन या आधिपत्य के ऐसे अधिकार प्राप्त हो सकते हैं जैसे संसार की सब भूमि के स्वामी होने के कारण प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन किसी से व्यक्ति के जीवन की रक्षा हो सकती है जो इस सहायता के बिना नष्ट हो जाता। इस नियम के अनुसार दूसरे की जीवन-रक्षा, या जो कुछ भी उसे प्रिय है, उसकी आवश्यकता के कारण, उसकी स्वतन्त्रता ले लेना, संप्रभुता और स्वामित्व का आधार बनाया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि परमेश्वर ने आदम को व्यक्तिगत आधिपत्य दिया भी हो तो उसके कारण उसे किसी प्रकार की संप्रभुता प्राप्त नहीं हुई। पर यह हम पहले ही काफी स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर चुके हैं कि परमेश्वर ने उसे कोई व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं दिया।

अध्याय ५

ईव की अधीनता के आधार पर आदम की संप्रभुता

धर्मग्रंथ में दूसरा स्थान, जिसे हमारा लेखक आदम के राजतन्त्र का आधार कहता है, जेनेसिस ३,१६ है—"तेरी इच्छा तेरे पति के अधीन होगी और वह तुझ पर शासन करेगा।" लेखक कहता है, "यही शासन का मूल अनुदान है।" और वह आगे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "सर्वोच्च सत्ता पितृत्व में है, जो केवल एक ही शासन-पद्धति में राजतन्त्र में पायी जाती है।" वह चाहे जिस आधार से अपना तर्क आरम्भ करे, उसका निष्कर्ष सदा यही होता है। धर्मग्रन्थ में कही भी "शासन" शब्द आ जाय, और तुरन्त दैव अधिकार से "निरंकुश राजतन्त्र" स्थापित हो जाता है। यदि कोई स्वल्प ध्यानपूर्वक भी हमारे लेखक के इन शब्दों पर आधारित तर्क को पढ़े और अन्य शब्दों के साथ-साथ विशेपतया "आदम के वंशज और भावी सन्तान" पर ध्यान दे जिन्हें हमारा लेखक यहाँ प्रस्तुत करता है, तो उसे हमारे लेखक का अभिप्राय समझने में कठिनाई होगी; पर हम इसे यहाँ उसके लिखने की विशेष शैली समझ कर छोड़ देंगे और धर्मग्रन्थ के उद्धृत अंश पर ही विचार करेंगे। यह शब्द परमेश्वर ने नारी को श्राप के रूप में कहे हैं क्योंकि नारी ने सर्वप्रथम आज्ञा का उल्लंघन किया था। यदि हम उस अवसर पर विचार करें जब परमेश्वर ने ये शब्द हमारे आदि माता-पिता से कहे थे, तो हम देखेंगे कि वह उन दोनों पर आज्ञा उल्लंघन के लिए क्रोधित होकर दण्ड दे रहा है। हमारे विचार से इस अवसर पर परमेश्वर आदम को विशेषाधिकार प्रदान नहीं कर रहा है जिससे आदम को गौरव और सत्ता की प्राप्ति हो तथा वह आधिपत्य और राजतन्त्र के उच्च पद पर स्थापित हो। यद्यपि प्रलोभन में सहायता देने के कारण, तथा अपराध में सहभागी होने के कारण, ईव को आदम से निम्न स्थान मिला और अधिक कड़ा दण्ड मिला जिससे आदम को आकस्मिक रूप से उस पर श्रेष्ठता प्राप्त हुई। परन्तु आदम का भी पतन में तथा पाप में भाग था और यदि हम आगामी पद को देखें तो उसे और भी अधिक दोषी ठहराया गया है। ऐसी कल्पना कठिन है कि एक ही वाक्य में परमेश्वर उसे समस्त मानव जाति का विश्वव्यापी सम्राट् नियुक्त करे तथा उसे आजीवन दिन भर परिश्रम करनेवाला मजदूर बनाये, स्वर्ग से उसका निष्कासन करके, "मेहनत मजदूरी के लिए धरती पर" भेजे तथा साथ ही उसे

सिंहासन पर आसीन करे और निरंकुश सत्ता के सब अधिकार और प्रतिष्ठा प्रदान करे।

४५. ऐसे अवसर पर आदम को क्रुद्ध परमेश्वर से किसी भी प्रकार के अनुग्रह या विशेषाधिकारों के प्राप्त होने की आशा नहीं हो सकती थी। यदि हमारे लेखक के अनुसार यही "शासन का मूल अनुदान" है, और इसी के आधार पर आदम सम्राट् बना, तो चाहे सर रॉबर्ट उसे कुछ भी बनायें, यह स्पष्ट है कि परमेश्वर ने उसे बहुत दयनीय सम्राट् बनाया, जैसा स्वयं हमारा लेखक भी बनने में विशेष गौरव न समझेगा। परमेश्वर ने उसे अपनी जीविका के लिए श्रम करने का आदेश दिया और उसके हाथ में पृथ्वी पर शासन करने के लिए राजदण्ड न देकर फावड़ा पकड़ाया। परमेश्वर ने कहा—"अपना पसीना बहाकर तुझे रोटी प्राप्त करनी होगी।" शायद इसका यह उत्तर दिया जाय कि ऐसा होना अवश्यम्भावी था, क्योंकि अभी आदम की कोई प्रजा नहीं थी जो उसके लिए मेहनत करे। परन्तु आदम ९०० वर्ष से अधिक जीवित रहा और कुछ समय बाद ऐसे व्यक्ति अवश्य उत्पन्न हो गये होंगे जिनको वह परिश्रम करने का आदेश दे सकता था। परन्तु परमेश्वर ने कहा—"जब तक तेरे पास केवल तेरी पत्नी के अलावा सहायता करने के लिए कोई नहीं है, तब तक ही नहीं, परन्तु जीवन पर्यन्त, तू श्रम द्वारा ही क्षुधा शान्त कर सकेगा।" "जब तक तू मिट्टी में न मिल जायगा, जिससे तेरा निर्माण हुआ था, अपना पसीना बहाकर तुझे रोटी प्राप्त होगी, मिट्टी का तू है और मिट्टी में मिल जायगा।" हमारे लेखक के पक्ष में शायद यह उत्तर दिया जायगा कि यह शब्द आदम से व्यक्तिगत रूप में नहीं कहे गये थे, वरन् उससे, समस्त मानव जाति के प्रतिनिधि रूप में कहे गये हैं; यह मानव जाति पर आदम के पतन होने के कारण शाप था।

४६. मेरा विश्वास है कि परमेश्वर के वचन मनुष्यों के वचन से भिन्न होते हैं, उसके वचन अधिक सत्य और अधिक निश्चित होते हैं। जब मनुष्यों पर परमेश्वर की अनुकम्पा होती है तो मैं नहीं सोचता कि वह उन मनुष्यों की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मनुष्यों की योग्यता तक आने के लिए नीचे झुकता है, वरन् इसलिए कि यदि वे जिनसे कहे जायँ वे उनको न समझ सकें तो ऐसे वचन का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। परन्तु यदि हमारे लेखक द्वारा धर्मग्रन्थ की व्याख्या से उपस्थित सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय, तो निष्कर्ष यह होगा कि परमेश्वर मनुष्यों की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करता है। भाषा के साधारण अर्थ के अनुसार यह समझना बहुत कठिन है कि परमेश्वर अकेले आदम को सम्बोधित

करके जो कहता है, उससे समस्त मानव जाति को सम्बोधन समझना चाहिए और जो वह बहुवचन में कहता है—(जेनेसिस १, २६ और २८) उसे सबको छोड़कर केवल आदम को सम्बोधन समझना चाहिए, और जो वह नोआ तथा उसके पुत्रों से संयुक्त रूप मे कहता है, वह केवल नोआ को कहा गया समझना चाहिए (जेनेसिस, ९)।

४७. हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि जेनेसिस ३.१६ में जो वचन कहे गये हैं और जो हमारे लेखक के अनुसार "शासन का मूल अनुदान" हैं, वे आदम से नहीं कहे गये थे और न उनमें आदम के लिए कोई अनुदान ही है। वे ईव के लिए दण्ड के रूप में कहे गये थे। यदि हम उन्हें विशेष रूप से ईव को कहे गये वचन की दृष्टि से देखें या ईव को समस्त नारी जाति की प्रतिनिधि के रूप में देखें तो अधिक से अधिक इन शब्दों का सम्बन्ध केवल स्त्री जाति से ही हो सकता है और केवल यही तात्पर्य होगा कि स्त्रियों को अपने पतियों के अधीन रहना चाहिए। परन्तु यदि स्त्री को पति से हुए अनुबन्ध या परिस्थितियों के कारण इससे छुटकारा मिल जाय तो कोई विधान उसे अपने पति के अधीन रहने को बाध्य नहीं कर सकता। इसी तरह, ऐसा भी कोई विधान नहीं है जो उपचार मिल जाने पर स्त्री को दुःख और दर्द द्वारा ही अपनी सन्तान उत्पन्न करने को बाध्य करे। यह भी उसी शाप का एक अंश है। सम्पूर्ण पद इस प्रकार है, "स्त्री से उसने कहा कि तेरे दुःख की वृद्धि हो, तू बार-बार गर्भ धारण करे, दुःख द्वारा ही तू सन्तान उत्पन्न करे और तू अपने पति की इच्छा के अधीन रहे और वह तुझ पर राज्य करे।" मेरे विचार से हमारे लेखक को छोड़कर और कोई इन शब्दों में आदम को राजतान्त्रिक शासन का अनुदान नहीं ढूँढ़ सकता। ये शब्द न आदम से कहे गये और न उसके विषय में कहे गये और न शाप के इन शब्दों के आधार पर नारी जाति को विधान द्वारा कोई इतना पराधीन बना सकता है कि वह उससे बचने का भी प्रयास न कर सके। यदि ईव या किसी भी स्त्री को सन्तानोत्पादन के समय ऐसा दर्द न हो जैसा परमेश्वर उसे दण्ड देते समय कहता है, तो क्या हम उसे पापी कहेंगे? या यदि हमारी सम्राज्ञियाँ—मेरी तथा एलिजाबेथ—अपनी प्रजा में से किसी के साथ विवाह कर लेतीं, तो क्या वे अपने पति के अधीनस्थ हो जातीं और उनका पति उन पर "राजतान्त्रिक शासन" करता? धर्मग्रन्थ के इस उद्धरण के अनुसार परमेश्वर ने न तो आदम को ईव के ऊपर कोई सत्ता प्रदान की है और न पुरुषों को अपनी पत्नियों के ऊपर। वह केवल नारी जाति की दशा की भविष्यवाणी करता है, कैसे दैव विधि द्वारा वह अपने पति के अधीन रहेगी और हम देखते हैं कि अधिकांश

मानव जाति के विधान या राष्ट्रों की रीतियाँ ऐसी ही है और मैं मानता हूँ कि यह प्राकृतिक व्यवस्था है।

४८. अतः जब परमेश्वर ने जेकब और ईसाऊ के लिए कहा—"ज्येष्ठ अपने से छोटे की सेवा करे" (जेनेसिस २५.२३) तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसने जेकब को ईसाऊ का सम्राट् नियुक्त किया, वरन् उसने केवल यही भविष्यवाणी की कि व्यवहार में ऐसा होगा।

परन्तु यदि यहाँ ईव को कहे गये वचन ऐसे विधान के रूप में समझे जायँ जो उसको तथा अन्य सब स्त्रियों को पराधीन बनाते है, तो यह पराधीनता वही है जो स्त्री की पति के प्रति होती है। यदि यही "शासन का मूल अनुदान" है और "राजतान्त्रिक सत्ता का आधार" है, तो जितने पति है, उतने ही राजा होंगे। यदि इन शब्दों से आदम को कुछ भी सत्ता प्राप्त हुई, तो वह वैवाहिक अधिकार है, राजनीतिक नहीं—वही अधिकार जो सब पतियों को अपने परिवार में, सम्पत्ति और भूमि का स्वामी होने के कारण निजी मामलों की व्यवस्था के लिए होते है और ऐसे मामलों में पत्नी के पहले उसकी इच्छा का स्थान होता है। परन्तु उसे अपनी पत्नी के जीवन और मृत्यु पर राजनीतिक अधिकार नहीं होते—औरों की तो बात ही क्या ?

४९. इसका मुझे विश्वास है। यदि हमारे लेखक इसी उद्धरण को "राजनीतिक शासन का मूल अनुदान" मानते है तो उन्हें इसे किसी और अच्छे तर्क से प्रमाणित करना था। केवल "तू अपने पति की इच्छा के अधीन होगी" के आधार पर ऐसा विधान नही माना जा सकता, जिससे ईव और उसकी सन्तान आदम तथा उसके वंशज के निरंकुश राजतान्त्रिक अधिकार के अधीन हो जाय। "तू अपने पति की इच्छा के अधीन होगी" यह बहुत अस्पष्ट वाक्य है और इसके अभिप्राय पर कई भिन्न मत हैं। इसको इतने महत्त्वपूर्ण और व्यापक सिद्धान्त का आधार मानना उचित नहीं है। परन्तु हमारे लेखक के लिखने का तरीका ही यह है कि जब वह धर्मग्रन्थ से एक अंश उद्धृत कर देता है तो बिना अधिक प्रयत्न किये वह शीघ्र ही स्थापित कर देता है कि जो उसके अनुसार उस अंश का अर्थ है, वही सत्य है। धर्मग्रन्थ में कहीं भी "राज्य" या "प्रजा" शब्द आ जायँ, और लेखक तत्काल उनका तात्पर्य "प्रजा का, राजा के प्रति कर्त्तव्य" से लगा लेता है और सम्बन्ध उलटा कर देता है। यद्यपि परमेश्वर "पति" शब्द का प्रयोग करता है, पर सर रॉबर्ट उसे "राजा" कहते है। आदम को ईव के ऊपर "निरंकुश राजतान्त्रिक अधिकार" प्राप्त हो गये और केवल ईव के ऊपर ही नहीं, वरन्, "उसकी सन्तान पर" भी; यद्यपि धर्मग्रन्थ में इसके लिए एक शब्द भी नहीं है

और न हमारे लेखक इसे प्रमाणित ही करते हैं। परन्तु आदम को निरंकुश सम्राट् बनना आवश्यक है, और इसी भाँति सारा अध्याय लिखा हुआ है। पाठक स्वयं विचार करें कि क्या बिना और प्रमाण दिये मेरा इतना कहना कि धर्मग्रन्थ के इस उद्धृत अंश से आदम को निरंकुश राजतान्त्रिक अधिकार प्राप्त नहीं हुए, आदम की सत्ता को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है या लेखक का निष्कर्ष। धर्मग्रन्थ में कही न "राजा" या "प्रजा" का उल्लेख है और न उसमे "निरंकुश" तथा "राजकीय सत्ता" के लिए कुछ लिखा है। वहाँ केवल ईव की पराधीनता—एक पत्नी की अपने पति के प्रति पराधीनता—का उल्लेख है। जो मुझसे सहमत हैं वे हमारे लेखक को ऐसा उत्तर देंगे, वे उसके सिद्धान्त के सबसे महत्त्वपूर्ण आधार को थोड़े, पर पर्याप्त उत्तर से काट देंगे, केवल उसको अस्वीकार करके ही उसका खण्डन कर देंगे। यदि किसी कथन का बिना प्रमाणों द्वारा समर्थन सम्भव है, तो उसका बिना प्रमाण खण्डन भी सम्भव है। अतः मेरे लिए सर रॉबर्ट के इस सिद्धान्त को अस्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ कहना आवश्यक नहीं है कि धर्मग्रन्थ के इस अंश के अनुसार, सर्वोच्च सत्ता स्वयं परमेश्वर ने पितृत्व में स्थापित की जो केवल राजतन्त्र में, आदम तथा उसके वंशजों में सीमित है। स्थिरबुद्धि व्यक्ति धर्मग्रन्थ के इस अंश को पढ़कर और इस पर विचार करके कि ये शब्द किससे और किस अवसर पर कहे गये थे, अवश्य आश्चर्य करेगा कि हमारे लेखक ने इनमें कैसे "राजतन्त्रीय निरंकुश सत्ता" ढूँढ़ निकाली है, यदि उसके पास स्वयं उसे ढूँढ़ निकालने की योग्यता हो, परन्तु वह दूसरे को प्रमाणित न कर सके। हमने धर्म-ग्रन्थ के उन दोनों स्थानों का निरीक्षण किया जिनके आधार पर लेखक "आदम की संप्रभुता" प्रमाणित करता है। लेखक के अनुसार यह "सर्वोच्चता परमेश्वर के आदेशानुसार आदम में असीमित है और इसमें उसके इच्छानुसार सब कार्य अन्तर्हित हैं" (जेनेसिस, १.२८ और जेनेसिस, ३.१६)। इनमें से प्रथम का अभिप्राय निम्न कोटि के जीवों पर मानव जाति के आधिपत्य से है और दूसरे का अभिप्राय पनि के पत्नी पर आधिपत्य से है। ये दोनों आधिपत्य राजनीतिक समाज में शासकों के प्रजा पर आधिपत्य से भिन्न हैं।

अध्याय ६

पितृत्व के आधार पर आदम की संप्रभुता

५०. मुझे अब लेखक का केवल एक और तर्क प्रस्तुत करना रह गया है जिसे वह आदम की संप्रभुता के प्रमाण में उपस्थित करता है---आदम का अपनी सन्तान का "पिता होने के कारण" प्राकृतिक अधिकार । पितृत्व का यह अधिकार लेखक को इतना प्रिय है कि वह इसका उल्लेख प्रायः हर पृष्ठ पर करता है। वह कहता है---"केवल आदम को ही नहीं, वरन् वंशानुक्रम परिवार-पतियों को भी पितृत्व के अधिकार के आधार पर अपनी सन्तान पर राजकीय सत्ता प्राप्त हुई।" उसी पृष्ठ पर वह यह भी कहता है, "सन्तान की पराधीनता, समस्त राजकीय सत्ता का आधार है" आदि ···। लेखक का इसे बार-बार कहने से यह उसके सिद्धान्त का मुख्य आधार प्रतीत होता है। अतः हमें इसके लिए स्पष्ट प्रमाण मिलने की आशा थी क्योंकि यह उसका मुख्य आधार है। वह कहता है, "प्रत्येक मनुष्य, जन्मतः स्वतन्त्रता से इतना परे है, क्योंकि जन्म लेते ही वह अपने जन्मदाता के अधीन हो जाता है।" चूँकि आदम ही एक ऐसा पुरुष था जिसकी रचना की गयी, और उसके बाद से सबने जन्म ही लिया है, अतः, कोई जन्मतः स्वतन्त्र नहीं है। यदि हम प्रश्न करें कि आदम को अपनी सन्तानों पर यह सत्ता कैसे प्राप्त हुई, तो लेखक का उत्तर है कि उनको जन्म देने के कारण उसे यह सत्ता प्राप्त हुई है। लेखक एक और स्थान पर कहता है, "आदम के इस प्राकृतिक आधिपत्य का प्रमाण स्वयं ग्रोशस (Grotius) में मिलता है जिसने कहा है, "जन्म देने के कारण, माता-पिता को अधिकार प्राप्त होता है।" और सचमुच जन्म देने के कारण पितृत्व का अधिकार प्राप्त होने का अर्थ है पिता बनने के कारण अपनी सन्तान पर अधिकार होना।

५१. ग्रोशस यहाँ यह नहीं बतलाता कि सन्तान पर पिता की यह सत्ता कितनी विस्तृत है, परन्तु हमारा लेखक इस विषय में बहुत स्पष्ट है और हमें विश्वास दिलाता है कि यह "सत्ता सर्वोच्च" है, जैसी निरंकुश शासकों को अपने दासों पर उनके जीवन और मृत्यु पर होती है। यदि लेखक से कोई यह पूछे कि सन्तान को जन्म देने के कारण पिता को संतान पर ऐसे निरंकुश अधिकार कैसे और क्यों प्राप्त हो जाते हैं, तो हमारा

लेखक इसका कोई उत्तर नहीं देता। हमें और विषयों की तरह इस पर भी उसके शब्दों को ही सत्य मानना पड़ेगा और उन्हीं पर प्राकृतिक विधान तथा शासन को आधारित होना चाहिए। यदि वह स्वयं निरंकुश सम्राट् होता, तो इस प्रकार की बातें उसे शोभा देतीं। उस स्थिति में स्वचिन्ता कारण माना जा सकता था। परन्तु निरंकुश राजतन्त्र के समर्थन में ऐसी दलील उचित नही है और केवल सर रॉबर्ट के कथन मात्र से ही वह प्रमाणित नहीं हो जाता। एक दास के अप्रमाणित विचारों के आधार पर समस्त मानव जाति की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। यद्यपि मैं ऐसा नहीं मानता, यदि सब मनुष्य स्वभावतः समान नहीं हैं, तो कम से कम सब दास तो समान हैं। अतः मैं लेखक की विचारधारा के खंडन में अपने विचार प्रस्तुत कर सकता हूँ और उतने ही विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जन्म लेने के कारण सन्तान अपने पिता की दास नहीं बन जाती। ऐसा कहने से मैं सारी मानव जाति को स्वतन्त्र कर सकता हूँ, जैसा इसके विपरीत कथन से हमारा लेखक सबको दास बना सकता है। परन्तु राजतन्त्र के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को माननेवालों के विचारों का आधार यही है, अतः यह न्यायोचित है कि हम देखें कि वे क्या तर्क प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि हमारा लेखक तो कोई तर्क नहीं देता।

५२. अपनी सन्तान पर पिता की निरंकुश सत्ता को प्रमाणित करने के लिए जो तर्क दिया जाता है वह यह है, "पिता को अपनी सन्तान के जीवन पर इसलिए अधिकार होता है क्योंकि वही उसे जीवन और अस्तित्व प्रदान करता है।" पितृत्व के आधार पर निरंकुश सत्ता के सिद्धान्त का केवल यही एक कारण दिया जा सकता है, क्योंकि और कोई कारण समझ में नहीं आता, जिसके कारण एक व्यक्ति को दूसरों के ऊपर स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हो, जो उसका कभी नहीं था और जो उसने दिया नहीं और जो उसे दूसरे की अनुकम्पा से प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम, मैं यह कहूँगा कि यदि कोई किसी को कुछ देता है तो उसे उसको वापस लेने का अधिकार सदैव नहीं होता। दूसरे, जो यह कहते हैं कि पिता अपनी सन्तान को जीवन प्रदान करता है; उनके दिमाग पर राजतन्त्र इतना छा गया है कि वह यह भी भूल जाते है कि परमेश्वर ही "सबको जन्म देनेवाला है।" परमेश्वर के कारण हमें जीवन, गति और अस्तित्व प्राप्त होता है। जो स्वयं यह नहीं जानता कि उसे अपना जीवन कहाँ से प्राप्त हुआ है, वह दूसरों को कैसे जीवन प्रदान करनेवाला माना जा सकता है? बहुत खोज-बीन के बाद भी दार्शनिकों को इसका उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है। शरीर का अध्ययन करनेवाले अपना समस्त जीवन चीर-फाड़ और श्रमपूर्वक निरीक्षण में बिताने पर भी, शरीर के अनेक

अंगों के उपयोग और बनावट के बारे में, तथा जीवन के आधार के बारे में, अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं। क्या कोई निरा हलवाहा या अज्ञानी विषयी ऐसा अति उत्तम यन्त्र बनाकर उसमें जीवन तथा इन्द्रियज्ञान की क्षमता प्रदान कर सकता है? क्या कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि उसने अपनी सन्तान के जीवन के लिए आवश्यक अंगों का निर्माण किया है? क्या वह जीवन प्रदान करनेवाला माना जा सकता है जो स्वयं यह नहीं जानता कि जिसको वह जीवन प्रदान कर रहा है वह उसके योग्य है या नहीं, या जीवन धारण करने तथा उसकी रक्षा करने के लिए किन कार्यों और अंगों की आवश्यकता है?

५३. जीवन प्रदान करने का अर्थ यह है कि जीवन प्रदान करनेवाला व्यक्ति अपने इच्छानुसार सब अंगों का निर्माण करे और उन्हें ढंग से संयोजित कर उनमें सजीव आत्मा प्रविष्ट करे। जो ऐसा कर सकता है, वह अपनी कारीगरी को नष्ट करने का भी कुछ हद तक दावा कर सकता है। परन्तु क्या किसी में भी ऐसा साहस है जो परमेश्वर के इन गूढ़ कार्यों को स्वयं करने का दावा करे? परमेश्वर ने ही सर्वप्रथम जीवन का निर्माण किया था और वही सदा से उसे करता चला आ रहा है। वही शरीर में जीवन फूँक सकता है। यदि कोई अपने को ऐसा कारीगर समझता है तो वह हमें अपनी सन्तान के उन अंगों की संख्या और उनके उपयोग तथा कार्य बतलाये जिनका उसने निर्माण किया है, और वह यह भी बतलाये कि कब उस शरीर में आत्मा ने प्रवेश किया और यह यंत्र कैसे सोचता और विचार करता है। यदि उसी ने उसे बनाया है, तो जब वह बिगड़ी हुई अवस्था में हो तो वह उसे सुधारे, या कम से कम, यह बतलाये कि दोष कहाँ है। पवित्र गीतिकार ने कहा है—"क्या जिसने नेत्र बनाये हैं, वह देख नहीं सकता?" (पवित्र गीत ९४, ९) इन व्यक्तियों के अहंकार पर जरा दृष्टिपात कीजिए। जब शरीर के एक ही अंग के आधार पर हम सर्वज्ञानी परमेश्वर के अस्तित्व में विश्वास कर सकते हैं, और यह इतना प्रत्यक्ष है कि वही हम सबका निर्माण करता है कि धर्मग्रन्थ में परमेश्वर को साधारणतः ऐसा सम्बोधन किया गया है—"हमें बनानेवाला परमेश्वर, हमें बनानेवाला प्रभु।" हमारे लेखक ने इस पितृत्व के अधिकार को इतनी महत्ता दी है कि उसके अनुसार "परमेश्वर की भी मानव जाति के ऊपर सत्ता 'पितृत्व' के आधार पर ही है।" परन्तु सांसारिक पिताओं में कोई भी ऐसे पितृत्व का दावा नहीं कर सकता। अतः परमेश्वर ही हमारा सम्राट् है, क्योंकि उसी ने हमें बनाया है। ऐसा दावा कोई और पिता अपनी सन्तान के लिए नहीं कर सकता।

५४. यदि मनुष्य को अपनी सन्तान बनाने की योग्यता तथा शक्ति प्राप्त भी होती, फिर भी यह कोई साधारण रचना न होती जो पूर्व कल्पना के बिना सम्भव होती। हजारों में शायद एक पिता ऐसा होगा जो सन्तानोत्पत्ति-कर्म में प्रवृत्त होते समय अपनी वासना शान्ति से अधिक कुछ और सोचता हो। परमेश्वर ने अपनी अनुकम्पा द्वारा पुरुषों को तीव्र सुरतेच्छा प्रदान की, जिससे मानव जाति बनी रहे। मनुष्य बिना स्थिर विचार के और बहुधा भार्या की इच्छा और अनुमति के विरुद्ध, वंश वृद्धि करता है। वास्तव में वे जो कि सन्तान की इच्छा तथा कामना करते हैं उनके अस्तित्व के केवल निमित्त मात्र हैं, तथा वे जब उनको उत्पन्न करने की कामना करते हैं, उनके निर्माण में उससे अधिक कुछ नहीं करते, जैसा कि कथा में ड्यूकेलियन तथा उसकी पत्नी ने, मानव जाति के निर्माण में, अपने सिरों के ऊपर से कंकड़ फेंक कर किया था।

५५. यदि यह मान भी लिया जाय कि माता-पिता अपनी सन्तान का निर्माण करते हैं, उसे जीवन और अस्तित्व प्रदान करते हैं, अतः उन्हें अपनी सन्तान पर निरंकुश सत्ता प्राप्त है, तब पिता और माता का संयुक्त आधिपत्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि माता का इसमें समान भाग है, चाहे अधिक न हो। क्योंकि यह सर्वविदित है कि वह सन्तान का अपने उदर में बहुत दिनों तक अपने शरीर के तत्त्वों से पालन करती है। वहीं उसका निर्माण होता है और माता से ही वह अपने शरीर के लिए भौतिक तत्त्व प्राप्त करता है। सन्तानोत्पत्ति में पिता का कार्य समाप्त होते ही, भ्रूण की अविकसित अवस्था में, उसमें तत्काल आत्मा का प्रवेश हो जाता है, यह कल्पना करना कठिन है। यदि सन्तान किसी भी रूप में अपने माता-पिता पर जीवन के लिए अवलम्बित है तो यह अवलम्बन माता पर सबसे अधिक है। जो भी हो, यह तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि सन्तान उत्पन्न करने में माता का समान भाग है, अतः इस आधार पर केवल पिता को निरंकुश अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु हमारे लेखक के ऐसे विचार नहीं हैं। उसका कहना है, "हमें मालूम है कि सृष्टि रचना के समय परमेश्वर ने पुरुष को, सन्तान उत्पन्न करने में उच्च तथा मुख्य कर्त्ता बनाकर, स्त्री के ऊपर संप्रभुता प्रदान की।" मुझे अपनी बाइबिल में ऐसा कोई उद्धरण याद नहीं आता। जब हमें ऐसा उद्धरण मिलेगा कि परमेश्वर ने "सृष्टि रचना के समय" पुरुष को स्त्री पर संप्रभुता प्रदान की, क्योंकि पुरुष "सन्तान उत्पन्न करने में प्रथम तथा मुख्य कर्त्ता है", तब हम उस पर विचार कर उसका उत्तर देंगे। परन्तु हमारे लेखक के लिए यह कोई नयी बात नहीं है कि वह निश्चित दैव-सत्य को अपने कल्पनानुसार व्यक्त करे, यद्यपि बहुधा उसके कथन और परमेश्वर द्वारा

प्रकट सत्य में अपार भिन्नता होती है, क्योंकि परमेश्वर ने धर्मग्रन्थ में कहा है—"उसके पिता तथा माता, जिन्होंने उसे जन्म दिया है।"

५६. जो मानव जाति में अपनी सन्तान की "बालहत्या और बेचने" की प्रथा के आधार पर उसके ऊपर उनकी सत्ता को प्रमाणित करते हैं, वे सर रॉबर्ट की भाँति तर्क उपस्थित करते हैं और मनुष्य के सबसे निर्लज्ज कार्य और अस्वाभाविक हत्या को अपनी विचारधारा का आधार मानते हैं। शेर तथा भेड़िये भी अपनी सन्तान के साथ ऐसा क्रूर व्यवहार नहीं करते। ये जंगली पशु भी परमेश्वर तथा प्रकृति के आदेशानुसार अपनी सन्तान के प्रति दयालु तथा सावधान रहते हैं। वे अपने बच्चों की रक्षा के लिए शिकार करते हैं, चौकसी करते हैं, लड़ाई लड़ते हैं और आवश्यकता होने पर भूखों मर जाते हैं। वे अपनी सन्तान से कभी अलग नहीं होते—उन्हें कभी छोड़कर नहीं जाते, जब तक वह अपने आप कार्य करने योग्य न हो जाय। क्या मनुष्य को ही यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह सृष्टि के सबसे जंगली पशुओं से भी अधिक, प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करे? परमेश्वर ने हमें किसी व्यक्ति की जान लेने, किसी अनजान व्यक्ति की, उकसाने पर भी, हत्या करने से मना किया है। इसके लिए उसने सबसे कड़ा दण्ड, मृत्युदण्ड, रखा है। तो क्या वह हमें उनको नष्ट करने की अनुमति दे सकता है जिनको उसने हमारे ही सुपुर्द और हमारी ही हिफाजत में रखा है और स्वभाव तथा तर्क के अनुसार और परमेश्वर के प्रकटीकृत आदेशानुसार जिनकी हमें रक्षा करनी चाहिए? परमेश्वर ने अपनी सृष्टिरचना के हर अंश में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि अनेक जातियों के जीव अपने वंश की वृद्धि करें और उसे बनाये रखें। इस उद्देश्य की ओर हर जाति के जीवों में इतनी प्रबल भावना होती है कि वे कभी-कभी अपने निजी हित की भी अवहेलना कर देते हैं और प्रकृति का व्यापक नियम—आत्मरक्षा—भूल जाते हैं। अतः अपनी सन्तान की रक्षा के लिए वे अपने स्वाभाविक नियम का भी उल्लंघन कर देते हैं। हम देखते हैं कि सन्तान की आवश्यकता पूर्ति के लिए कायर बहादुर बन जाते हैं, भयानक और जंगली पशु दयावान् बन जाते हैं और खूँखार भी कोमल तथा उदार बन जाते हैं।

५७. परन्तु यदि ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह निश्चित किया जाय कि क्या होना चाहिए, तो इतिहास में "निरंकुश पितृत्व सत्ता" की चरम सीमा के कई उदाहरण हमारे लेखक को मिल सकते हैं। वह हमें पेरू के निवासियों का दृष्टान्त दे सकता था जो सन्तान इसी उद्देश्य से उत्पन्न करते हैं कि उन्हें मोटा करके उनका आहार करें। यह कथन इतना अद्वितीय है कि मैं इसे स्वयं लेखक के शब्दों में प्रस्तुत

करता हूँ। वह कहता है, "कुछ प्रान्तों में वे मनुष्य का मांस खाने के लिए इतन आतुर रहते थे कि शरीर से प्राण निकलने तक का धैर्य न रख पाते थे और मृत्यु-शैया पर पड़े मनुष्य के घावों से बहते हुए खून को चूसने लगते थे। मनुष्य के मांस के लिए, उनके यहाँ सार्वजनिक कसाईखाने होते थे और वे नरमांस के लिए ऐसे दीवाने होते थे कि युद्ध में बंदी बनायी गयी स्त्रियों से उत्पन्न अपने बच्चों को भी नहीं छोड़ते थे। वे युद्ध में बंदी स्त्रियों को अपनी रखैल बना लेते थे और उनके द्वारा उत्पन्न सन्तान को यत्नपूर्वक पोषित करते थे। जब वे तेरह वर्ष की आयु को प्राप्त हो जाते थे, तब उन्हें मारकर खा जाते थे और जब उनकी माताएँ सन्तान उत्पन्न करने की उम्र पार कर लेती थीं तथा उनके लिए और आहार उत्पन्न नहीं कर सकती थीं, तब उनके साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाता था।" (गार्सिलासो डे ला वेगा, पेरू की इन्का जाति का इतिहास १.१२) (Garcilasso De La Vega, Hist. des yncas de peru, I. 12)

५८. इस प्रकार, अपना ऐसा विवेक त्याग देने पर, जो मनुष्यों को प्रायः देवदूतों के समान बनाता है, वह पशु के स्तर से भी नीचे गिर जाता है। ऐसी ही दशा उनकी भी होती है जो कल्पना और भावना की उड़ान में चलते हैं और विवेक का आधार छोड़ देते हैं। कल्पना सदैव अस्थिर होती है और विवेक का त्याग होने पर इच्छा बे-सिर पैर की योजनाएँ बनाने लगती है, और ऐसी स्थिति में, जो यथार्थ से सबसे अधिक दूर होता है, वही नेता बनने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझा जाता है और उसके सबसे अधिक अनुयायी बन जाते हैं। जिसका आरम्भ मूर्खता तथा चालाकी में होता है वही बाद में पवित्र प्रथा बन जाती है और उसका खंडन करना या उसमें सन्देह करना धृष्टता तथा पागलपन समझा जाता है। निष्पक्ष जाँच करनेवाला देखेगा कि संसार के धर्म, शासन और राज्यों के रीति-रिवाजों में अधिकांश का आरम्भ इसी भाँति हुआ है और इसी तरह वे चले आ रहे हैं, उसे यहाँ पायी जानेवाली प्रथाओं के प्रति कुछ आदर शेष न रहेगा। वह ऐसा सोचने लगेगा कि जंगलों में रहनेवाले विवेकशून्य, असभ्य जीव, जो प्रकृति का अनुसरण करते हैं, हमारे लिए नियम बनाने के लिए अधिक उपयुक्त हैं, वे नहीं जो अपने को सभ्य और विवेकपूर्ण कहते हैं और शहरों और महलों में रहते हैं तथा प्रथाओं का अनुसरण करते हैं।

५९. सर रॉबर्ट का यह कथन भी मान लिया जाय कि "प्राचीन काल में" पुरुषों में अपनी सन्तान को "बेचने तथा षंढ बनाने" की "आम प्रथा" थी। वे बाल-हत्या करते थे। आप चाहें तो उसमें यह भी जोड़ दें, क्योंकि इसमें और भी अधिक

सत्ता है, कि वे उन्हें खाने के लिए ही पैदा करते थे। यदि इनसे औचित्य का अधिकार सिद्ध हो जाता है, तो इसी तर्क पर हम व्यभिचार, आत्मीया-गमन और अप्राकृतिक मैथुन को भी न्यायसंगत कह सकते हैं, क्योंकि इनके भी प्राचीन तथा आधुनिक, दोनों, उदाहरण मिलते हैं। इनमें पाप का प्रमुख आधार यही है कि यह प्रकृति के मुख्य उद्देश्य के विपरीत है, जिसके अनुसार मानव जाति अपने वंश की वृद्धि पूर्णताप्राप्त आदर्श में करती है--विवाह और परिवार इसके लिए आवश्यक है।

६०. पिता के इस प्राकृतिक अधिकार को प्रमाणित करने के लिए हमारा लेखक धर्मग्रन्थ से परमेश्वर का एक और आदेश प्रस्तुत करता है। हमारे लेखक के शब्द ये हैं--"राजकीय सत्ता के प्राकृतिक अधिकार के समर्थन में हम डीकेलोग (Decalogue) में देखते हैं कि राजाओं के आज्ञापालन करने का आदेश इन शब्दों में दिया गया है, 'अपने पिता का आदर करो।' बहुत लोगों का विचार है कि परमेश्वर के इस आदेश में शासन अप्रत्यक्ष रूप में ही निहित है। शासन के लिए कोई विशेष आदेश धर्मग्रन्थ में नहीं मिलता, वरन् केवल पितृत्व की सत्ता के लिए मिलता है। अतः हमें यहाँ आदेश मिलता है जिसमें बड़ों के आज्ञापालन करने को इन शब्दों में कहा गया है, 'पिता का आदर करो।' शासन की सत्ता और अधिकार ही नहीं, वरन् शासन करनेवाली सत्ता का रूप और जिस व्यक्ति को यह सत्ता प्राप्त है, सब परमेश्वर के इस आदेश में अन्तर्हित है। आदि पिता को केवल सत्ता ही प्राप्त नही हुई, वरन् राजकीय सत्ता प्राप्त हुई, क्योंकि वह स्वयं परमेश्वर द्वारा बनाया गया पिता था।" हमारे लेखक ने इसी उद्देश्य के लिए, यह आदेश कई स्थानों पर उद्धृत किया है और इसी रीति से किया है, अर्थात्--"और माता का" शब्दों को अप्रामाणिक मानकर सदैव छोड़ दिया है। यह तर्क हमारे लेखक की प्रतिभा का उदाहरण है। अपने सिद्धान्त के समर्थन में उसने इतना उत्साह दिखाया कि परमेश्वर के पवित्र वचनों को भी विकृत कर अपने उद्देश्य के अनुकूल बना लिया। ऐसी विधि अपनाना उन लोगों के लिए असाधारण नही है जिन्हें विवेक तथा परमेश्वर के वचनों पर आधारित सत्य प्रिय नहीं है, परन्तु जो किसी मत या सम्प्रदाय का पक्ष सत्येतर उद्देश्यों से लेते हैं। इनके पक्ष में वे लेखकों के शब्दों अथवा भावों को, अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए उसी प्रकार तोड़ते-मरोड़ते है, जैसा कि प्रोकसतेस् (Procustes) अपने अतिथियों के साथ किया करता था, तथा इसके फलस्वरूप स्वभावतः वे हमारे सम्मुख विकृत रूप में उपस्थित किये जाते हैं।

६१. यदि हमारा लेखक परमेश्वर के इस आदेश को बिना संशोधित किये उद्धृत करता तो उसे पिता के साथ 'माता' को भी रखना पडता, जो लेखक के स्पष्ट उद्देश्य के

प्रतिकूल होता, और "पिता की राजकीय सत्ता" में माता को भी समान स्थान प्राप्त होता। धर्मग्रन्थ में हर स्थान पर दोनों की समान आज्ञापालन का आदेश है—"अपन पिता और अपनी माता का आदर करो" (एक्सोडस, २०); "जो अपने पिता या माता पर आघात करता है, उसे अवश्य मृत्युदण्ड दिया जायगा" (२१, १५)। "जो अपने पिता या माता को दुर्वचन कहेगा, उसे निश्चय मृत्यु दण्ड दिया जायगा," ऐसा लेवीटीकस २०, ९ में लिखा है, तथा क्राइस्ट ने भी कहा है (मैथ्यू, १५, ४)। "तू अपनी माता और अपने पिता से भय कर" (लेवीटीकस १९, ३), "यदि उच्छृंखल पुत्र अपने पिता या माता के वचन न सुने, तो उसके पिता और माता उसे पकड़कर कहेंगे कि हमारा पुत्र हठी और उच्छृंखल है और हमारी आज्ञा पालन नहीं करता" (ड्यूटे-रोनोमी २१, १८–२१); "ऐसे व्यक्ति पर शाप है जो अपने पिता या अपनी माता का आदर नहीं करता" (२८, १६); "मेरे पुत्र, अपने पिता का आदेश सुनो और अपनी माता की आज्ञा का उल्लंघन न करो" यह वचन सोलोमन ने कहे थे, जिसे पूरा ज्ञान था कि पिता तथा राजा होने के कारण उसके अधिकार क्या हैं; फिर भी, उसने अपनी कहावतों (Proverbs) की पुस्तक में अपनी सन्तान को जो आदेश दिये हैं, उसमें पिता और माता का साथ-साथ ही उल्लेख किया है। "वह दुःख को प्राप्त हो जो अपने पिता से कहता है, 'तूने क्या पैदा किया है ?" या जो माता से कहता है, "तूने क्या पैदा किया है ?" (ईसाइया ११, ५, १०); "तेरे द्वारा उन्होंने पिता और माता का अप-मान किया है" (इज़कील २८, २); "और ऐसा होगा कि यदि कोई फिर भविष्यवाणी करेगा, तब उसके पिता और माता, जिन्होंने उसे जन्म दिया है, उससे कहेंगे, 'तू जीवित न रहेगा,' और उसके पिता और माता, जिन्होंने उसे जन्म दिया है, उसके भविष्यवाणी करने पर उसका वध कर देंगे" (ज़ैचारिया १३, ३)। केवल पिता को ही नहीं, वरन् माता और पिता दोनों को संयुक्त रूप से जीवन और मृत्यु पर अधिकार दिया गया है। यह पुराने टेस्टेमेन्ट के विधान हैं। नये टेस्टेमेंट में भी, हम देखते हैं कि, इसी तरह सन्तान को संयुक्त रूप से दोनों की आज्ञा पालन के आदेश हैं; इफनेसियन्स (६.१) में लिखा है, "बच्चो, अपने माता-पिता की आज्ञा पालन करो।" मुझे याद नहीं पड़ता कि धर्मग्रंथ में मैंने कहीं पर केवल यह लिखा देखा हो कि "बच्चो, अपने पिता की आज्ञा पालन करो।" धर्मग्रन्थ में बच्चों को आदर करने के आदेश में पिता के साथ माता का नाम जुड़ा हुआ है। यदि धर्मग्रन्थ में कहीं भी बच्चों से केवल पिता का आज्ञापालन और आदर करने के लिए कहा गया होता, तो हमारे लेखक उसे अवश्य ही प्रस्तुत करते। परन्तु नहीं, धर्मग्रन्थ में "पिता और माता" की सत्ता को इतना समान रखा गया है कि कहीं-कहीं पर

पिता को प्रथम स्थान न देकर माता को प्रथम स्थान दिया गया है, जैसे, १९, ३ में। धर्मग्रन्थ में माता और पिता को साथ-साथ रखा गया है। अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अपनी सन्तान से आदर प्राप्त करने का दोनों को समान अधिकार है, जिसमें से एक उस पर अकेले पूर्ण अधिकार का दावा नहीं कर सकता और न दूसरा वर्जित किया जा सकता है।

६२. हमको आश्चर्य होता है कि हमारे लेखक ने पाँचवें आदेश (Fifth Commandment) से यह निष्कर्ष कैसे निकाला कि पहले सारी सत्ता पिता को प्राप्त थी। कैसे उसने, "अपने पिता का (और माता का) आदर करो" के आधार पर शासन की राजकीय सत्ता स्थापित कर दी ? यदि आदेशानुसार केवल पिता को ही सारा आदर प्राप्त करने का अधिकार है, जैसा हमारा लेखक कहता है, "सन्तान उत्पन्न करने में श्रेष्ठ और प्रमुख कर्त्ता होने के कारण उसे नारी के ऊपर संप्रभुता प्राप्त है," तो परमेश्वर ने आगे सब स्थानों पर पिता के साथ माता का नाम इस आदर के लिए क्यों जोड़ा है ? क्या पिता, अपनी संप्रभुता के कारण, अपनी सन्तान को "माता" का आदर करने से विमुख कर सकता है ? धर्मग्रन्थ में यहूदियों को कहीं ऐसी अनुमति नहीं दी गयी है, फिर भी उनमें पति-पत्नी में कभी-कभी इतना मतभेद हो जाता था कि तलाक और सम्बन्ध-विच्छेद की नौबत आ जाती थी। मेरे विचार से कोई किसी बच्चे को अपनी माता का आदर करने से रोक नहीं सकता, या, जैसा धर्मग्रन्थ में लिखा है, अपने पिता का आदेश होने पर भी "उसकी अवमानना नहीं कर सकता।" इसी तरह, माँ भी अपने बच्चे को पिता का आदर करने से विमुख नहीं कर सकती। अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर के इस आदेश से पिता को कोई संप्रभुता या सर्वोच्चता प्राप्त नहीं होती।

६३. मैं अपने लेखक से सहमत हूँ कि 'आदर प्राप्त करने का यह अधिकार माता-पिता को अपनी सन्तान को जन्म देने के कारण प्रकृति द्वारा मिला है। परमेश्वर ने कई निश्चित वचनों द्वारा इसका समर्थन किया है। मैं अपने लेखक का यह मत भी स्वीकार करता हूँ कि ऐसे अनुदान और दान, जिनका आधार परमेश्वर और प्रकृति में है, जैसे, "पिता की सत्ता" (जिसमें मैं 'माता' भी जोड़ूँगा क्योकि जिन्हें परमेश्वर ने एक कर दिया है, उन्हें कोई मनुष्य अलग नहीं कर सकता), वह मनुष्य की निम्न कोटि की सत्ता द्वारा सीमित नहीं हो सकते और न उनके प्रतिकूल कोई विधान बनाया जा सकता है।" अतः परमेश्वर के इस विधान द्वारा माता को अपनी सन्तान से आदर प्राप्त करने का अधिकार है, इस पर उसके पति की इच्छा का आधिपत्य नहीं हो सकता। अतः इस आधार पर "पिता की निरंकुश राजकीय सत्ता" स्थापित नहीं की जा सकती

और न उसका इससे सामञ्जस्य है। पिता की सत्ता "राजकीय" नहीं है और न उस अर्थ में "निरंकुश" ही, जैसा हमारा लेखक कहता है, क्योंकि समान आधार पर माता को भी उतनी ही सत्ता प्राप्त है। हमारा लेखक स्वयं एक स्थान पर कहता है, "मेरी समझ में नहीं आता कि सन्तान अपने जनकों के आधिपत्य से कैसे मुक्त हो सकती है।" साधारण भाषा में इस शब्द से तात्पर्य माता तथा पिता दोनों से ही है। परन्तु यदि जनकों से अर्थ केवल पिता से है, तो पहली बार मेरी जानकारी में ऐसा हुआ और इस प्रकार शब्दों के प्रयोग से कोई व्यक्ति कुछ भी कह सकता है।

६४. हमारे लेखक के सिद्धान्तानुसार, चूँकि पिता का अपनी सन्तान पर निरंकुश आधिपत्य है, अतः उसका अपनी सन्तान की सन्तान पर भी आधिपत्य है और ऐसा होना अच्छा ही है। यदि पिता के पास ऐसे अधिकार हैं, तो मैं लेखक से पूछँगा कि क्या पितामह अपनी संप्रभुता के आधार पर अपने पौत्र को अपने पिता का आदर करने से वंचित कर सकता है, जैसा पाँचवाँ आदेश पौत्र को प्रेरित करता है। यदि पितामह को "पितृत्व के अधिकार" के आधार पर अपने पौत्र पर संप्रभुता प्राप्त है और "पिता का आदर करो" से तात्पर्य राजा के प्रति आज्ञा पालन से है, तो क्या पितामह अपने पौत्र को उसके पिता का आदर करने से रोक सकता है? सामान्य बुद्धि के अनुसार वह ऐसा नहीं कर सकता। यह स्पष्ट है कि अपने "माता-पिता का आदर करो" का तात्पर्य संप्रभुसत्ता के पूर्ण अधीनस्थ होना नहीं है, वरन् कुछ और है। अतः प्रकृति द्वारा माता-पिता को अपनी सन्तान पर जो अधिकार प्राप्त है, और जिसका पाँचवाँ आदेश समर्थन करता है, वह राजनीतिक आधिपत्य नहीं है, जैसा हमारा लेखक उसे समझता है। प्रत्येक समाज में राजनीतिक सत्ता संप्रभुतायुक्त होती है और किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार से मुक्त कर सकती है। परन्तु किस राजकीय अधिकारी के पास यह अधिकार है कि वह किसी सन्तान को "अपने माता-पिता का आदर" न करने की स्वतन्त्रता दे? यह एक सनातन विधि है जिसका सम्बन्ध केवल माता-पिता तथा संतान से है और इस क्षेत्र में राजकीय अधिकारी का बल नहीं है और न यह उसके अधीन है।

६५. हमारा लेखक कहता है, "परमेश्वर ने पिता को यह अधिकार या स्वतन्त्रता दी है कि वह अपनी सन्तान पर अपने अधिकार को किसी अन्य को हस्तान्तरित कर दे।" मुझे संशय है कि इस 'आदर' के अधिकार को पिता पूर्णतया "हस्तान्तरित" कर सकता है। जो भी हो, यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि यह सम्भव नहीं है कि वह सत्ता को "हस्तान्तरित" भी कर दे, और साथ ही साथ अपने में भी रख ले। अतः यदि राजकीय

अधिकारी की सत्ता का आधार केवल "सर्वोच्च पिता का अधिकार" ही है, जैसा हमारे लेखक का कहना है, तो यदि राजकीय अधिकारी के पास ही सब पितृत्व की सत्ता है—और ऐसा होना आवश्यक है क्योंकि सब सत्ता का आधार पितृत्व ही है—तो प्रजा, यद्यपि उसमें भी पिता हैं, को अपनी सन्तान पर कोई अधिकार नहीं रह जायगा और उन्हें अपनी सन्तान से आदर प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं रहेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि सम्पूर्ण अधिकार एक के हाथ में हो और इस अधिकार का कुछ अंश प्रजा के पास शेष रह जाय। अतः स्वयं हमारे लेखक के प्रमाण के आधार पर "अपनी माता और पिता का आदर करो" से राजनीतिक आधिपत्य और आज्ञापालन नहीं समझा जा सकता, क्योंकि नये और पुराने, दोनों टेस्टेमेन्ट में, जहाँ कहीं भी अपने "माता-पिता का आदर करो" का आदेश सन्तान को दिया गया है, वह ऐसे पिताओं के लिए दिया गया है जो शासन के अधीनस्थ थे और राजनीतिक समाज में सन्तानों के समान ही प्रजा के रूप में थे। अतः उनको यह आदेश—"अपने माता-पिता का आदर करो"—ऐसे व्यक्तियों के अधीनस्थ बनाता था जिनके पास कोई ऐसी सत्ता नहीं है और यह आज्ञापालन न सिखाकर राजद्रोह के बीज बोता है, क्योंकि यह ऐसी सत्ताओं का निर्माण करता है जो वास्तव में नहीं हैं। यदि "अपने माता-पिता का आदर करो" के आदेश का तात्पर्य राजनीतिक आधिपत्य से है तो इससे राजतन्त्र समाप्त हो जाता है, क्योंकि यह आदर सन्तान अपने पिता को देगी और हर पिता के पास राजनीतिक आधिपत्य होगा और समाज में जितने पिता होंगे, उतने ही राजा होंगे। इसके अतिरिक्त, माता को भी पिता के समान अधिकार प्राप्त है जिससे एक सर्वोच्च राजा नहीं हो सकता। परन्तु यदि "माता-पिता का आदर करो" का तात्पर्य राजनीतिक अधिकार से नहीं है, वरन् किसी और से है, जैसा होना चाहिए, तो यह हमारे लेखक का उद्देश्य पूरा नहीं करता।

६६. हमारे लेखक ने लिखा है, "राजाओं के आज्ञापालन करने का आदेश इन शब्दों में है, 'अपने पिता का आदर करो' अर्थात् सब सत्ता का आधार पितृत्व ही है।" परन्तु मैं कहता हूँ कि वही आदेश इन शब्दों में भी लिखा है, 'अपनी माता का आदर करो' अर्थात् सब सत्ता का आधार माता में ही है। मैं आपसे निवेदन करूँगा कि यदि यह तर्क एक के लिए ठीक है तो दूसरे के लिए भी ठीक है, क्योंकि धर्मग्रंथ के पुराने और नये, दोनों टेस्टेमेन्ट में जहाँ कहीं भी सन्तान को आदर करने का या आज्ञापालन का आदेश दिया गया है "माता" और "पिता" सदैव साथ-साथ लिखे गये हैं। हमारे लेखक का यह भी कहना है कि "यह आदेश, 'अपने पिता का आदर करो' शासन करने का अधिकार देता है और शासन को राजतन्त्र का रूप देता है।" इसका मैं यह उत्तर दूँगा

कि यदि 'पिता का आदर करो' का तात्पर्य राजकीय अधिकारी की राजनीतिक सत्ता से है तो वास्तविक पिताओं के प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य न बचेगा, क्योंकि हमारे पिताओं की सब सत्ता राजा को प्राप्त होगी और सभी पिता, अपनी सन्तान के समान, प्रजा और दास होंगे, अतः उन्हें अपनी सन्तान से किसी ऐसे आदर या आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार न होगा। यदि अपने "पिता और माता का आदर करो" का अभिप्राय हमारे वास्तविक माताओं और पिताओं के प्रति हमारे कर्त्तव्य से है,जैसा प्रभु जीज़स की व्याख्या से भी स्पष्ट हो जाता है, (मैथ्यू १५. ४ तथा अन्य उद्धृत स्थान) तो उसका तात्पर्य राजनीतिक आधिपत्य से नहीं हो सकता, परन्तु ऐसे व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य से होगा जिनके पास संप्रभुता का कोई आधार नहीं है, और न कोई राजनीतिक अधिकार हैं, जैसे राजकीय अधिकारियों को प्रजा पर होते हैं। पिता के अधिकार और सर्वोच्च राजकीय अधिकारी के अधिकार एक ही प्रकार के नही है। अतः यह आदेश जो हमारे वास्तविक पिताओं के आज्ञापालन के लिए दिया गया है, राजकीय अधिकारी के आज्ञापालन से सर्वथा भिन्न है। निरंकुश से निरंकुश राजा भी पिता को संतान के आदर से वंचित नहीं कर सकता। राजकीय अधिकारी के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इस पर हम आगे उचित स्थान पर विचार करेंगे।

६७. हमने अपने लेखक के सब तर्कों का परीक्षण किया जो उसने आदम की सर्वोच्च निरंकुश सत्ता के समर्थन में दिये हैं और जिनके अनुसार सारी मानवजाति तब से दास के रूप में जन्म ले रही है और उसे स्वतन्त्रता का कोई अधिकार नहीं है। यदि सृष्टिकर्त्ता ने आदम को अपनी 'भावी सन्तान का शासक' नहीं बनाया, यदि आदम "मानव जाति का सम्राट्" (जेनेसिस १.२८) नहीं बनाया गया और न उसे अपनी सन्तान से अलग कोई निजी आधिपत्य दिये गये, वरन् अन्य मनुष्यों के साथ समानाधिकार दिये गये; यदि परमेश्वर ने (जेनेसिस ३.१६) आदम को अपनी पत्नी तथा सन्तान पर कोई राजनीतिक अधिकार नहीं दिये, वरन् केवल दण्ड के रूप में, या भविष्य में, परिवार की व्यवस्था के लिए स्त्री जाति की अधीनता के रूप में, ईव को आदम के अधीन बनाया, परन्तु इससे उसने आदम को, या पति को, जीवन और मृत्यु पर अधिकार नहीं दिये, जिन्हें राजकीय अधिकारी को प्राप्त होना आवश्यक है; यदि सन्तान पर पिता को ऐसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते; और यदि इस आदेश "अपने पिता और माता का आदर करो" का अभिप्राय माता-पिता के प्रति कर्त्तव्य से है, चाहे वह प्रजा हों या नहीं, और यह कर्त्तव्य माता और पिता दोनों के प्रति हैं; यदि यह सब सच है और ऊपर लिखित अंशों से यह स्पष्ट हो जाता है, तो मेरे विचार से मनुष्य को 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' प्राप्त है,

चाहे हमारा लेखक इसके विपरीत कुछ भी क्यों न कहे। जब तक ऐसा व्यक्ति हमारे समक्ष न आये जिसे परमेश्वर ने स्पष्ट रूप से, "सदैव के लिए, सबका सम्राट्" नियुक्त किया हो, या व्यक्तियों ने स्वेच्छा से शासक के अधीन रहना स्वीकार कर लिया हो, तबतक, वे जो स्वभाव और योग्यता में समान हैं, उनके अधिकार भी समान होने चाहिए। यह इतना स्पष्ट है कि हमारा लेखक स्वीकार करता है कि "सर जॉन हेवर्ड (Sir John Heyword), ब्लैकवुड (Black wood) और बर्कले (Barclay) जो राजाओं के अधिकारों के बड़े समर्थक थे, इसको अस्वीकार न कर सके और उन्होंने एकमत से मानवजाति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता और समानता को, ऐसे सत्य के रूप में जिस पर सन्देह नहीं किया जा सकता, स्वीकार किया है। हमारे लेखक ने, "आदम एक निरंकुश सम्राट् था" तथा "मनुष्य प्राकृतिक रूप से स्वतन्त्र नहीं है," इन मतों को स्थापित करने के लिए कुछ विशेष तर्क नही दिये हैं, वरन् उसके प्रमाण स्वयं उसी के विरुद्ध जाते हैं। अतः उसी की शैली में, "जब यह प्राथमिक आधार ही मिथ्या सिद्ध हो गया तो निरंकुश सत्ता का सारा भवन स्वयं धराशायी हो जाता है।" इस मिथ्या और अस्थिर नीव पर जो कुछ भी उसने खड़ा किया है उस पर और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

६८. परन्तु वह आत्मविरोधी तर्कों द्वारा स्वयं अपने सिद्धान्त की शिथिलता प्रदर्शित कर रहा है। वह सब जगह आदम के निरंकुश और एकमात्र आधिपत्य का उल्लेख करता है और इसी पर आगे के तर्क आधारित करता है, फिर भी वह कहता है कि "चूंकि आदम अपनी सन्तान का सम्राट् था, अतः उसकी सन्तान को अपनी सन्तान पर आधिपत्य और सत्ता प्राप्त हुई है।" हमारे लेखक की गणना के अनुसार आदम की पितृत्व की निरंकुश और अविभाजित संप्रभुता केवल प्रथम सीढ़ी तक ही रही, पर जैसे ही उसके पौत्र उत्पन्न हुए, सर राबर्ट उसे सन्तोषजनक रूप से न समझा पाये। वे कहते हैं, "आदम को, अपनी सन्तान का पिता होने के कारण, उन पर पूर्ण निरंकुश और राजकीय अधिकार था और इस अधिकार के कारण अपनी सन्तान की सन्तान पर भी ऐसे ही अधिकार थे और इस तरह सब पीढ़ियों पर।" परन्तु वे यह भी लिखते हैं कि उसकी सन्तान केन (Cain) और सेठ (Seth) को भी अपनी सन्तान पर पितृत्व की सत्ता प्राप्त थी, अतः वे "निरंकुश सम्राट्" भी थे और साथ ही उसी समय "प्रजा और दास" भी; आदम को पितामह होने के कारण सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त थी और उन्हें पिता होने के कारण उसका कुछ अंश प्राप्त था। आदम उनको जन्म देने के कारण उन पर, तथा उनकी भावी सन्तान का निरंकुश शासक था, और इसी कारण,

वे अपनी सन्तान के निरंकुश शासक थे। परन्तु नहीं, हमारा लेखक कहता है, "आदम की सन्तान को अपनी सन्तान पर अधिकार प्राप्त थे, लेकिन वे अपने पिता के अधीनस्थ रूप मे प्राप्त थे।" यह भिन्नता सुनने में अच्छी लगती है, पर यह निरर्थक है और इसका हमारे लेखक के शब्दों से सामञ्जस्य नहीं है। अगर मान भी लिया जाय कि आदम को अपनी सन्तान पर निरंकुश अधिकार प्राप्त थे, तो मैं मानने को तैयार हूँ कि उसकी सन्तान में से किसी को उसके द्वारा प्रदत्त सत्ता अथवा वंशवद सत्ता, दूसरों पर या उनके किसी अंश पर प्राप्त हो सकती है; फिर भी जिस सत्ता का यहाँ हमारा लेखक उल्लेख करता है, वह सत्ता ऐसी नहीं हो सकती। यह अनुदान द्वारा दी गयी सत्ता नहीं है, वरन् स्वाभाविक पितृत्व की सत्ता है जो पिता को अपनी सन्तान पर प्राप्त होती है, क्योंकि वह कहता है "आदम अपनी सन्तान का सम्राट् था, इसी प्रकार उसके अधीनस्थ उसकी सन्तान को अपनी सन्तान पर अधिकार थे।" अतः वे अपनी सन्तान के उसी रूप मे और उसी आधार पर सम्राट् थे, जैसे आदम था—अर्थात् जन्म देने के कारण, पितृत्व के अधिकार के कारण। दूसरे, यह स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय पिताओं के स्वाभाविक अधिकार से है क्योंकि यह अधिकार केवल 'अपनी सन्तान' तक ही सीमित है। प्रदत्त अधिकार में ऐसी कोई सीमा नहीं होती कि वह केवल अपनी सन्तान तक ही सीमित हो; वह दूसरों की सन्तान के लिए भी हो सकता है। तीसरे, यदि यह प्रदत्त अधिकार है, तो इसका उल्लेख धर्मग्रन्थ में आवश्यक है, परन्तु धर्मग्रन्थ में कहीं ऐसा नहीं लिखा है कि आदम की सन्तान को अपनी सन्तान पर केवल पिता होने के स्वाभाविक अधिकार को छोड़कर और कोई अधिकार प्राप्त थे।

६९. इसमें कोई सन्देह नही कि लेखक का अभिप्राय यहाँ पितृत्व की सत्ता से ही है। यह इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है, "मुझे यह समझ में नहीं आता कि आदम की सन्तान या किसी भी व्यक्ति की सन्तान अपने माता-पिता के आधिपत्य से कैसे स्वतन्त्र हो सकती है।" इससे यही प्रतीत होता है कि जिस 'सत्ता' और "अधीनता" का लेखक यहाँ उल्लेख करता है वह पिता और सन्तान की "स्वाभाविक सत्ता" और 'अधीनता' है, क्योंकि कोई और ऐसी सत्ता नहीं है जो हर व्यक्ति को सन्तान स्वीकार करे और जो हमारे लेखक के अनुसार निरंकुश और असीमित हो। "पिताओं का अपनी सन्तान पर स्वाभाविक अधिकार आदम को अपनी भावी सन्तान पर प्राप्त था," ऐसा हमारा लेखक कहता है। और पिताओं का अपनी सन्तान पर यह अधिकार, उसकी सन्तान को अपनी सन्तान पर, उसके जीवन काल में ही प्राप्त था—यह भी हमारा लेखक कहता है। अतः आदम को, पिता के स्वाभाविक अधिकार के कारण, अपनी

भावी सन्तान पर निरंकुश, असीमित, सत्ता प्राप्त थी। साथ ही, उसकी सन्तान को, इसी आधार पर अपनी सन्तान पर निरंकुश असीमित सत्ता प्राप्त थी। यहाँ दो निरंकुश असीमित सत्ताएँ साथ-साथ स्थापित हैं जिनका परस्पर साम्य नहीं हो सकता, या जिन्हें सामान्य बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। इसको सुलझाने के लिए लेखक ने "अधीनस्थ रूप" जो लगाया है वह उसे और भी असंगत बना देता है। एक "निरंकुश असीमित" सत्ता,—"अपरिमित" सत्ता—का दूसरी वैसी ही सत्ता के अधीन होना इतना स्पष्ट आत्म-विरोधी तथ्य है कि इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता।" "आदम निरंकुश सम्राट् है जिसे पितृत्व की असीमित सत्ता अपनी सब भावी सन्तान पर प्राप्त है।" अतः उसकी सब भावी सन्तान उसके अधीन है और जैसा हमारा लेखक कहता है, उसकी "दास" है। "पुत्र और पौत्र सब इसी अधीनता और दासता की स्थिति में हैं।" फिर भी, हमारा लेखक कहता है कि "आदम की सन्तान को अपनी सन्तान पर पितृत्व के (अर्थात् निरंकुश, असीमित) अधिकार प्राप्त है, "या सीधी सादी भाषा में यों कहिए कि वे, एक ही शासन में, दास भी हैं और निरंकुश सम्राट् भी है और प्रजा के एक अंश को पितृत्व के प्राकृतिक अधिकार के कारण दूसरे अंश पर निरंकुश असीमित सत्ता प्राप्त है।

७०. यदि हमारे लेखक के पक्ष मे किसी की ऐसी धारणा हो कि उसका अभिप्राय यहाँ यह है कि माता-पिता, यद्यपि स्वयं अपने पिता के निरंकुश शासन के अधीन हैं, परन्तु उनको अपनी सन्तान पर कुछ सत्ता प्राप्त है, तो मै स्वीकार करता हूँ कि उनकी धारणा सत्य के कुछ निकट होगी। परन्तु इस धारणा से हमारे लेखक को कोई सहायता नहीं मिलती। हमारा लेखक पितृत्व की सत्ता को सदैव निरंकुश, असीमित सत्ता कहता है, जिससे उसका अभिप्राय ऐसी सत्ता से है जिस पर वह किसी प्रकार की सीमा नही लगाता। यह उसके आगामी शब्दों से और स्पष्ट हो जाता है, "सन्तान की अधीनता, सब राजकीय सत्ता का आधार है।" पिछली पंक्ति में, वह इस अधीनता का वर्णन करता है, "सब व्यक्ति अपने माता-पिता के अधीन होते है।" अतः जो आदम के पौत्र अपने माता-पिता के अधीन थे, वही अधीनता "राजकीय सत्ता" का आधार है—राजकीय सत्ता, जो हमारे अनुसार "निरंकुश अपरिमेय सत्ता" है। अतः आदम की सन्तान को अपनी सन्तान पर राजकीय सत्ता प्राप्त थी जब वे स्वयं अपने पिता के अधीन थे और अपनी सन्तान के साथ-साथ वह भी दास थे। पर लेखक का चाहे जो अर्थ हो, वह स्पष्ट है कि वह इसे स्वीकार करता है कि "आदम की सन्तान के पास "पितृत्व की सत्ता" थी जैसी और "पिताओं को अपनी सन्तान पर प्राप्त होती है।" इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—या तो आदम की सन्तान को उसी के जीवन काल में

"अपनी सन्तान पर, पितृत्व के अधिकार के कारण, राजकीय सत्ता प्राप्त थी" जैसी और पिताओं को प्राप्त है, और या, "आदम को पितृत्व के अधिकार के कारण कोई राजकीय सत्ता प्राप्त नही थी।" क्योंकि या तो पितृत्व के अधिकार के कारण राजकीय सत्ता प्राप्त होती है या नहीं होती। यदि नहीं होती, तो आदम को या और किसी को इसके आधार पर सम्राट् नही माना जा सकता और तब हमारे लेखक की राजनीति की जड़ ही कट जाती है। यदि उससे "राजकीय सत्ता" प्राप्त होती है तो जिस किसी के पास भी पितृत्व की सत्ता है उसे राजकीय सत्ता प्राप्त होनी चाहिए, और तब, हमारे लेखक के पितृत्व पर आधारित शासन में जितने पिता होंगे उतने ही सम्राट् होंगे।

७१. लेखक ने जिस राजतन्त्र का प्रतिष्ठापन किया है, उस पर स्वयं वह या उसके समर्थक ध्यान दें। राजाओं को इस नयी राजनीति से क्या लाभ हो सकता है, इसके अनुसार हर राज्य में जितने पिता होंगे, उतने ही निरंकुश राजा होंगे। परन्तु इसमें हमारे लेखक का क्या दोष है? उसके सिद्धान्त से ऐसा निष्कर्ष अवश्यम्भावी है। उसके अनुसार "पिताओं को सन्तान उत्पन्न करने के आधार पर "निरंकुश सत्ता प्राप्त होती है। वह इसका समाधान नहीं कर पाया कि इस सत्ता का कितना अंश पुत्र को अपनी सन्तान उत्पन्न करने से प्राप्त होता है। अतः यह बड़ी कठिन समस्या हो गयी कि सारी सत्ता आदम को दी जाय, जैसा लेखक मानता है, और उसका कुछ अंश, उसी के जीवन काल में, उसकी सन्तान को भी दिया जाय जब सन्तान के सन्तान हो। लेखक इसे अस्वीकार नहीं कर सका है। अतः उसकी व्याख्या बड़ी अनिश्चित है और वह ठीक निश्चय नही कर पाया है कि पितृत्व पर आधारित इस निरंकुश प्राकृतिक अधिकार को किसे दे। उसके अनुसार कभी अकेले आदम के पास यह सत्ता है।

कभी यह सत्ता माता तथा पिता दोनों के पास है।

कभी अपने पिता के जीवन काल में उसकी सन्तान के पास है।

कभी "परिवारों के पिताओं" के पास।

कभी अनिश्चित "पिताओं" के पास।

कभी "आदम के उत्तराधिकारी" के पास।

कभी "आदम की भावी सन्तान" के पास।

कभी "आदि पिताओं अर्थात् नोआ के सब पुत्रों अथवा पौत्रों" के पास।

कभी "ज्येष्ठतम माता-पिताओं" के पास।

कभी सब राजाओं के पास।

कभी उन सबके पास जिनके पास सर्वोच्च सत्ता है।

कभी आदि पूर्वजों के, जो सब मानव जाति के जन्मदाता हैं, उत्तराधिकारी के पास।
कभी निर्वाचित राजा के पास।
कभी उनके पास, जो 'जाति' का शासन करते है, जिनकी संख्या कम या अधिक हो।
कभी उनके पास जो बलपूर्वक सत्ता ग्रहण करते हैं।

७२. सर राबर्ट के अनुसार यह 'नयी वस्तु' यह पितृत्व की नयी सत्ता, जो पद का निर्माण करती है और राजाओं की स्थापना करती है जिनकी आज्ञा का पालन प्रजा करे, किसी के भी हाथ में तथा किसी भी रीति से आ सकती है। अतः लेखक की राजनीति के अनुसार जनतन्त्र को राजकीय सत्ता प्राप्त होती है तथा बलपूर्वक शासन छीननेवाला व्यक्ति वैधानिक राजा बन जाता है। यदि यह सब सम्भव है तो हमारे लेखक तथा उसके समर्थकों को इस सर्वशक्तिशाली "पितृत्व" से क्या लाभ होगा क्योंकि यह सिद्धान्त संसार के सब वैधानिक शासनों को अस्त व्यस्त कर अराजकता, अत्याचार तथा बलपूर्वक सत्ताग्राह स्थापित कर देगा।

अध्याय ७

पितृत्व और सम्पत्ति के आधार पर संप्रभुता

७३. पिछले अध्यायों में हमने देखा कि हमारे लेखक के विचार से आदम का राजतन्त्र क्या था और वह किस पर आधारित था। लेखक दो आधारों को विशेष महत्त्व देता है जिनको वह भविष्य में राजाओं की राजतान्त्रिक सत्ता के लिए सबसे उपयोगी मानता है—पितृत्व और सम्पत्ति। अतः वह "प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की असंगति तथा असुविधा को," "आदम के प्राकृतिक तथा निजी आधिपत्य" द्वारा सुलझाने का प्रयास करता है। उसका कहना है, "शासन का आधार, सम्पत्ति के मूल आधार पर अवलम्बित है।" "समस्त राजकीय सत्ता का आधार सन्तान की अपने माता-पिता के प्रति अधीनता है," और "संसार की सब सत्ता, पितृत्व की सत्ता से व्युत्पन्न हुई है, या, उसी से अधिगृहीत की गयी है। किसी भी सत्ता का और कोई आधार नहीं है।" मैं यहाँ इन दो विरोधी कथनों की जाँच करूँगा। एक ओर "शासन का आधार, सम्पत्ति के मूल आधार पर अवलम्बित है;" और दूसरी ओर, "किसी भी सत्ता का पितृत्व के अधिकार के अतिरिक्त और कोई आधार नही है।" यह समझना कठिन है कि "पितृत्व के अधिकार" के अतिरिक्त राजकीय सत्ता का और कोई आधार नहीं है और "शासन का आधार" "सम्पत्ति के मूल अधिकार" पर अवलम्बित है। "सम्पत्ति" और "पितृत्व" में उतनी ही भिन्नता है जितनी किसी जमींदार और पिता में है। मेरी यह भी समझ में नहीं आता कि, इन दोनों आधारों का परमेश्वर द्वारा ईव को दिये गये दण्ड से कैसे सामञ्जस्य हो सकता है (जेनेसिस ३.१६),"यही शासन का मूल अनुदान है।" यदि यही "मूल अनुदान" है तो हमारे लेखक को स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा कि "पितृत्व" या "सम्पत्ति" मूल आधार नहीं हो सकते। धर्मग्रन्थ का यह अंश, जिसे लेखक आदम की ईव पर सत्ता को प्रमाणित करने के लिए उद्धृत करता है, हमारे लेखक के कथन के विपरीत है जहाँ वह "पितृत्व" को "सब सत्ता का एकमात्र आधार" मानता है। स्पष्ट है कि यदि आदम को ईव पर, हमारे लेखक के अनुसार, राजकीय सत्ता प्राप्त थी, तो यह किसी और कारण से प्राप्त होगी, आदम द्वारा ईव को जन्म देने के कारण नहीं।

७४. मै इन विरोधी कथनों का समाधान लेखक पर छोड़ देता हूँ। उसकी

पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ने से ऐसे और बहुत से विरोधी कथन मिलेंगे। मै अब इस पर विचार करूँगा कि शासन के दो आधार, "आदम का प्राकृतिक और निजी आधिपत्य" आनेवाले राजाओं की सत्ता कैसे स्थापित करते है क्योंकि हमारा लेखक कहता है कि उनकी सत्ता का आधार यही है। हम मान लें कि परमेश्वर ने अनुदान द्वारा आदम को समस्त पृथ्वी का एकमात्र स्वामी और सम्राट् बनाया। हम यह भी मान लें, कि पितृत्व के अधिकार से वह अपनी सन्तान का निरंकुश शासक बना और उसे असीम सत्ता प्राप्त हुई। मै यह पूछता हूँ कि आदम की मृत्यु के बाद उसके "प्राकृतिक और निजी आधिपत्य" का क्या हुआ? निःसन्देह, उत्तर यह होगा कि वह उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हुआ जैसा हमारा लेखक कई स्थानों पर कहता है। परन्तु, उसका "प्राकृतिक और निजी आधिपत्य" एक ही व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पिता की सब सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होनी चाहिए, यद्यपि इसकी पुष्टि के लिए भी प्रमाण आवश्यक है, तब भी इस रीति से पिता की केवल "निजी सम्पत्ति" पुत्र को प्राप्त हो सकती है। पिता के "प्राकृतिक आधिपत्य"—"पितृत्व की सत्ता" का वह उत्तराधिकारी नही हो सकता, क्योंकि यह सत्ता तो केवल सन्तान उत्पन्न करने से ही प्राप्त होती है और किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति पर यह प्राकृतिक आधिपत्य प्राप्त नहीं हो सकता जब तक उसने उसे उत्पन्न न किया हो अन्यथा, यह स्वीकार किया जाय कि एक व्यक्ति को बिना अधिकार के मूल आधार को कार्यान्वित किये, अधिकार प्राप्त हो सकता है। यदि पिता को "सन्तान उत्पन्न करने के आधार पर ही अपनी सन्तान पर प्राकृतिक आधिपत्य प्राप्त होता है" तो जिन्हें उसने उत्पन्न न किया हो उनके ऊपर यह "प्राकृतिक आधिपत्य" प्राप्त नही हो सकता। अतः हमारे लेखक का यह कथन कि "प्रत्येक पुरुष जन्म से ही, अपने जन्म देनेवाले का दास होता है," चाहे सत्य हो या असत्य, पर उससे यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी है कि एक व्यक्ति जन्मतः अपने भाई का जिसने उसे जन्म नही दिया है, दास नहीं हो सकता, अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि एक व्यक्ति, एक ही समय में, दो भिन्न व्यक्तियों के "प्राकृतिक और निरंकुश" आधिपत्य के अधीन हो सकता है। इसका अर्थ यह होगा कि एक व्यक्ति अपने पिता के "प्राकृतिक आधिपत्य" में तो होगा ही, क्योंकि पिता ने उसे उत्पन्न किया है, और वही व्यक्ति, जन्मतः अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्राकृतिक "आधिपत्य" में भी होगा, यद्यपि ज्येष्ठ भ्राता ने उसे उत्पन्न नही किया है।

७५. अतः यदि आदम का "निजी आधिपत्य"—जीवों के रूप में उसकी सम्पत्ति, उसकी मृत्यु के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र, उसके उत्तराधिकारी को पूर्ण रूप से प्राप्त हुआ,

(क्योंकि यदि उसके कोई उत्तराधिकारी नहीं था तो सर रॉबर्ट का सारा राजतन्त्र और "प्राकृतिक आधिपत्य" समाप्त हो जाता है,); तो, सन्तान उत्पन्न करने के कारण, पितृत्व का अधिकार, आदम के सब पुत्रों को, जिनके सन्तान है, समान रूप से प्राप्त होगा। "सम्पत्ति" पर आधारित संप्रभुता तथा "पितृत्व" पर आधारित संप्रभुता इस तरह विभाजित हो जाती है। केन (Cain) उत्तराधिकारी था, उसे केवल 'सम्पत्ति' प्राप्त हुई तथा सेठ और अन्य पुत्रों को "पितृत्व का अधिकार" नही के समान प्राप्त हुआ। हमारे लेखक के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष निकल सकता है। उसने आदम की संप्रभुता के जो आधार माने हैं, उनमें से या तो एक अर्थहीन है; और यदि दोनों समान महत्त्व रखते हैं तो उनसे राजाओं के अधिकार छिन्नभिन्न होते हैं तथा उनकी भावी सन्तान के शासन में अराजकता पैदा होती है। चूँकि सत्ता के यह दोनों आधार एक साथ उत्तराधिकारी को प्राप्त नहीं हो सकते, लेखक उनके पृथक् होने को स्वीकार करता है, वह मानता है कि, "आदम की सन्तान के पास निजी आधिपत्य के आधार पर अलग-अलग भूमि खण्ड थे।" अतः हमारा लेखक प्रजा में यह संशय उत्पन्न करता है कि संप्रभुता कहाँ है और किसका आज्ञापालन करना चाहिए। "पितृत्व" और "सम्पत्ति" सत्ता के दो भिन्न आधार हैं और आदम की मृत्यु के बाद भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को प्राप्त हुए। उनमें कौन दूसरों से श्रेष्ठ है?

७६. पहले हम लेखक के वर्णन को देखें। वह ग्रोशस को उद्धृत करते हुए लिखता है, "आदम की सन्तान को उसकी मृत्यु के पूर्व अनुदान द्वारा, या किसी प्रकार के अर्पण द्वारा, निजी आधिपत्य के विशिष्ट क्षेत्र प्राप्त हो गये थे। आबेल (Abel) को भेड़ों का झुण्ड और उनको चराने के लिए चरागाह प्राप्त हुए थे; केन को अनाज के लिए खेत तथा नॉड (Nod) को भूमि मिली थी जहाँ उसने एक नगर बसाया था।" यहाँ यह निश्चित करना आवश्यक है कि आदम की मृत्यु के बाद, इनमें से कौन संप्रभु बना। हमारे लेखक के अनुसार केन बना। पर किस आधार पर? हमारा लेखक कहता है, "पूर्व पुरुषों के उत्तराधिकारियों के उत्तराधिकारी, जो कि अपने जनो के प्राकृतिक जनक थे, न केवल अपनी सन्तान के ही अधिपति थे, परन्तु अपन भाइयों की सन्तान के भी।" केन किसका उत्तराधिकारी था? वह आदम के समस्त "निजी आधिपत्य" का उत्तराधिकारी नहीं था, क्योंकि, हमारा लेखक स्वयं यह मानता है कि आबेल को अपने पिता से "चरागाह के लिए विशिष्ट क्षेत्र निजी आधिपत्य के रूप में" प्राप्त हुए थे। अतः जिस पर आबेल को "निजी आधिपत्य" प्राप्त हुआ, वह केन को प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि जो आबेल के "निजी आधिपत्य" में है, वह केन के निजी आधिपत्य में नहीं हो

सकता था। अतः वह अपने भाई का संप्रभु नहीं हो सकता था, क्योंकि, उसके भाई को "निजी आधिपत्य" प्राप्त था और इस तरह, दो सम्राट् स्थापित हो जाते पितृत्व का काल्पनिक सिद्धान्त पहले ही अस्वीकार हो चुका है। केन अपने भाई का सम्राट् नहीं बना। यदि आबेल के "निजी आधिपत्य" के होते हुए भी केन की संप्रभुता बनी रही तो निष्कर्ष निकलेगा कि "शासन का प्राथमिक आधार" सम्पत्ति नहीं है, चाहे हमारा लेखक इसके विपरीत कुछ भी कहे। यह सच है कि आबेल की मृत्यु अपने पिता आदम के जीवनकाल में ही हो गयी थी, परन्तु उससे इस तर्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह तर्क, आबेल की सन्तान या सेठ या आदम की किसी भी भावी सन्तान पर जो केन की वंशज नहीं है, लागू होगा।

७७. यही कठिनाई "नोआ के तीनों पुत्रों" के लिए होती है, जिनके लिए लेखक कहता है, कि "उनके पिता ने सारा संसार उनमें विभाजित कर दिया था।" मैं यह पूछूंगा कि नोआ की मृत्यु के बाद उनमें से किसको "राजकीय सत्ता" प्राप्त होगी? यदि उन तीनों को प्राप्त होगी, तो इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि राजकीय सत्ता का आधार भूमि की सम्पत्ति में है और "निजी आधिपत्य" पर आधारित है, "पितृत्व के अधिकार" या "प्राकृतिक आधिपत्य" पर नहीं। अतः राजकीय सत्ता का पितृत्व के अधिकार का आधार समाप्त हो जाता है और "पितृत्व के अधिकार" का जो इतना बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया था, वह निरर्थक हो जाता है। यदि "राजकीय सत्ता" का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र शेम (Shem) को माना जाय, तो "नोआ का सारे संसार को अपने पुत्रों में विभाजित करना, या, उसका भूमध्य सागर में दस वर्ष तक हर पुत्र को अपने-अपने क्षेत्र में नियुक्त करने के लिए यात्रा करना व्यर्थ हो जाता है। यदि नोआ के मरते ही शेम उन सबका सम्राट् हो जाता है तो चाम (Cham) और जाफेट (Japhet) को उसका अनुदान निरर्थक होगा, और यदि विभिन्न क्षेत्रों पर उनका "निजी आधिपत्य" स्थायी था, तो दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ स्थापित हो जाती है जो एक दूसरे के अधीनस्थ न होंगी और वही सब कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी जिनका लेखक "जनता की सत्ता" के विरोध में वर्णन करता है, मैं इस वर्णन को यहाँ प्रस्तुत करूँगा, केवल "जनता" की जगह "सम्पत्ति" शब्द का प्रयोग करूँगा। "पृथ्वी पर सब सत्ता पितृत्व के अधिकार से उत्पन्न होती है। सत्ता का और कोई मूल आधार नहीं है। क्योंकि यदि दो भिन्न सत्ताएँ स्वीकार कर ली जायँ जिनमें कोई एक दूसरे के अधीन न हो, तो उनमें सदैव परस्पर संघर्ष होगा कि कौन श्रेष्ठ है, क्योकि दो सर्वोच्च सत्ताएँ कभी सहमत नहीं हो सकतीं। यदि पितत्व का अधिकार सर्वोच्च है, तो निजी सम्पत्ति

पर आधारित सत्ता उसके अधीन और उस पर अवलम्बित होनी चाहिए। और यदि सम्पत्ति पर आधारित सत्ता सर्वोच्च है तो पितृत्व पर आधारित सत्ता को उसकी अधीनता माननी पड़ेगी और सम्पत्ति के स्वामियों की आज्ञा के बिना सम्पत्ति का उपयोग न किया जा सकेगा जिससे प्रकृति का रूप और गति नष्ट हो जायगी।" यह दो भिन्न सत्ताओं की स्थापना के विरुद्ध स्वयं लेखक का तर्क है जिसे मैंने उसके ही शब्दों में प्रस्तुत किया है, केवल "जनता की सत्ता" के स्थान पर "सम्पत्ति" से उत्पन्न सत्ता लिखा है। जब उसने स्वयं दो विभिन्न सत्ताओं के विरुद्ध लिखा है तो वह कैसे सारी राजकीय सत्ता का आधार "आदम के प्राकृतिक और निजी आधिपत्य" को मान सकता है? "पितृत्व" और "सम्पत्ति" दो विभिन्न आधार हैं जो सदैव एक ही व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते और स्वयं लेखक द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि आदम और नोआ की मृत्यु होते ही वह पृथक्-पृथक् हाथों में चले गये, यद्यपि, लेखक अपने लेखों में, बहुधा उन्हें संयुक्त कर देता है, और कहीं-कहीं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों में से एक का भी उल्लेख नहीं करता। परन्तु, इसकी असंगति अगले अध्याय में अधिक स्पष्ट हो जायगी जहाँ हम इस पर विचार करेंगे कि आदम की संप्रभुता किस रीति से उसके बाद के राजाओं को हस्तान्तर की गयी।

अध्याय ८

आदम की संप्रभु राजतन्त्रिक सत्ता का हस्तान्तरण

७८. सर रॉबर्ट आदम की संप्रभुता प्रमाणित करने में अधिक सफल नहीं हुए हैं। वह इस संप्रभुता को आदम के बाद आनेवाले राजाओं को प्रदान करने में भी सफल नहीं हुए हैं, यद्यपि उनके सिद्धान्त के अनुसार सब राजाओं को अपनी सत्ता आदम से ही प्राप्त हुई है। किस रीति से ऐसा हुआ है, इसे मैं स्वयं लेखक के शब्दों में प्रस्तुत करूँगा जो उसके लेखों में इधर-उधर बिखरे हुए मिलते है। अपनी प्रस्तावना में वह लिखते है, "चूँकि आदम समस्त संसार का शासक था, अत: उसकी भावी सन्तान में से किसी को बिना उसके अनुदान, या अनुमति या उत्तराधिकार के किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं था।" आदम की सम्पत्ति के हस्तान्तरण के लिए, लेखक यहाँ दो साधन प्रस्तुत करता है—"अनुदान" और "उत्तराधिकार।" "सब वर्तमान सम्राट् और भविष्य में होनेवाले सब सम्राट् आदि माता-पिता के जिनकी समस्त मानव जाति संतान है, क्रमागत उत्तराधिकारी हैं।" "व्यक्तियों के किसी भी समूह में एक व्यक्ति अवश्य ऐसा होगा जिसे आदम का उत्तराधिकारी होने के कारण, शेष व्यक्तियों का राजा बनने का अधिकार होगा।" इन सब स्थानों पर वह राजाओं की राजकीय सत्ता प्राप्त होने का आधार "उत्तराधिकार" मानता है। "पृथ्वी पर सब सत्ता या तो पितृत्व के अधिकार से उत्पन्न हुई है, या आत्मसात की गयी।" "जितने भी राजा आजकल हैं, या कभी थे, वे अपनी प्रजा के या तो पिता हैं, या थे, या ऐसे पिताओं के वंशज हैं, या ऐसे पिताओं के अधिकारों का बलात् अपहरण करनेवाले है।" यहाँ "उत्तराधिकार" या "बलात् अपहरण", यह दो साधन लेखक बतलाता है, जिनके द्वारा राजाओं को यह मूल सत्ता प्राप्त हुई। परन्तु वह यह भी लिखता है, "यह पितृत्व के अधिकार पर अधिष्ठित साम्राज्य, जिसका उत्तराधिकार वंशानुगत था, बेचा जा सकता था या छीना जा सकता था।" अत: वह उत्तराधिकार अनुदान या अपहरण द्वारा हस्तान्तरित किया जा सकता है। अन्त में लेखक कहता है, "राजाओं ने चाहे जिस साधन से अपनी सत्ता प्राप्त की हो, चुनाव या अनुदान या उत्तराधिकार या और किसी साधन द्वारा; साधन का सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सर्वोच्च सत्ता द्वारा शासन करने के कारण ही वे, न्यायत:, सम्राट् बनते हैं; न कि उस साधन से जिससे उन्होंने राजगद्दी प्राप्त की।" मेरे

विचार से यही उसके सम्पूर्ण "आधार", तथा आदम की राजकीय सत्ता पर, जिससे सब राजाओं को अपनी सत्ता प्राप्त होती, बहस का पूर्ण उत्तर है। हमारा लेखक वंशज और उत्तराधिकार तथा इधर-उधर की इतनी बातें लिखने का व्यर्थ कष्ट न उठाता तो ठीक था, क्योंकि किसी को "न्यायतः सम्राट्" बनाने के लिए केवल "सर्वोच्च सत्ता द्वारा शासन करना" ही आवश्यक है इसका कोई महत्त्व नहीं कि उन्हें यह सत्ता किस साधन से प्राप्त हुई।

७९. इस अद्भुत रीति से हमारा लेखक ऑलिवर (Oliver) को, या किसी और को, "न्यायतः सम्राट्" बना सकता है। यदि लेखक मासानिलो (Massanello) के शासन में रहता, तो इसी नियम के आधार पर वह उसकी भी अधीनता स्वीकार करके कहता, "हे सम्राट्, चिरजीवी हो;" क्योंकि उसके सर्वोच्य सत्ता द्वारा शासन करने से वह "न्यायतः" सम्राट् बन गया था, चाहे वह एक दिन पहले मछुआ ही रहा हो। यदि डान क्विक़जोट (Don Quixote) ने अपने अनुचर को सर्वोच्च सत्ता द्वारा शासन करने का आदेश दिया होता, तो निःसन्देह हमारा लेखक सैन्चो पान्चा (Sancho Pancha) के द्वीप का अति स्वामिभक्त नागरिक होता। उसे तो ऐसे शासनों में उच्च पद मिलता क्योंकि मेरे विचार से वही प्रथम राजनीतिज्ञ है जो शासन को अपने सच्चे आधार पर स्थापित करने का दावा करता है और जिसने वैधानिक राजाओं की राजगद्दी सुदृढ़ करने के लिए संसार से कहा है, "जो कोई भी सर्वोच्च सत्ता द्वारा शासन करता है, वही न्यायतः सम्राट् है, चाहे उसने किसी भी साधन से यह शासन प्राप्त किया हो।" सीधे-साधे शब्दों में, इसे यों कहा जा सकता है—राजकीय और सर्वोच्य सत्ता, न्यायतः और उचित रूप से वास्तव में, उसी की है जो किसी भी साधन से उसे प्राप्त कर सके। यदि यही "न्यायतः सम्राट्" का आधार है तो मैं सोचता हूँ कि लेखक के अनुसार राजगद्दी छीननेवाला कौन होगा?

८०. यह इतना आश्चर्यजनक सिद्धान्त है कि इससे चकित होकर मैंने लेखक के कई विरोधी कथनों को बिना विचार किये ही छोड़ दिया है जिनमें वह कभी केवल "उत्तराधिकार" को, कभी केवल "अनुदान" या "उत्तराधिकार" को, कभी केवल "उत्तराधिकार" को या "बलात् अपहरण" को, और कभी इन तीनों को, जिनमें अन्त में वह "चुनाव" या "और किसी साधन" को भी जोड़ देता है, ऐसा साधन बतलाता है जिसके द्वारा आदम की "राजकीय सत्ता", (अर्थात् सर्वोच्च शासन का अधिकार) भविष्य के राजाओं को प्राप्त हुई और उन्हें प्रजा का आज्ञापालन और प्रजा पर प्रभुत्व प्राप्त हुआ। परंतु इनकी असंगति इतनी स्पष्ट है कि केवल लेखक के शब्दों को पढ़ने

से ही साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति को वह स्पष्ट हो जायगी। यद्यपि जिस बड़ी मात्रा में, और जितनी संलग्नता से मैंने, उसके शब्दों को उद्धृत किया है, उससे आगे मुझे कोई और तर्क करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; फिर भी, चूँकि मेरा उद्देश्य उसके सिद्धान्त के मुख्य अंशों पर विचार करना है, अतः मैं इस पर विशेष रूप से विचार करूँगा कि यदि इसे प्रमाणित मान लिया जाय कि आदम समस्त संसार का निरंकुश सम्राट् था, तो "उत्तराधिकार", "अनुदान", "बलात् अपहरण" या "चुनाव" पर संसार में कोई भी शासन कैसे आधारित हो सकता है जो आदम की राजकीय सत्ता से प्राप्त हो।

अध्याय ९

आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त राजतन्त्र

८१. यद्यपि संसार में शासन की आवश्यकता स्पष्ट है, और यदि सब व्यक्ति यह भी मान लें, जैसी कि हमारे लेखक की धारणा है, कि दैवी विधान द्वारा शासन का राजतान्त्रिक रूप ही मान्य है, तो भी व्यक्ति उसी का आज्ञापालन करते हैं जिसके पास प्रभुत्व होता है और यद्यपि कल्पना में शासन के सिद्धान्त बहुत उचित और आदर्श प्रतीत हों, पर वह व्यक्ति के कार्यों के लिए कोई नियम नहीं बना सकते—अतः अधीनता और आज्ञापालन पर कुछ कहना व्यर्थ है जबतक यह न बतलाया जाय कि किसका आज्ञापालन करना चाहिए। यद्यपि मैं पूर्णरूप से इससे कभी इतना सहमत नहीं था जितना आज हूँ कि संसार में दण्डाधिकार तथा शासन होना ही चाहिए, फिर भी मैं अपने इच्छानुसार चलने को स्वतंत्र हूँ जब तक कि मुझे यह न मालूम हो जाय कि वह व्यक्ति कौन है जिसका आज्ञापालन मेरा कर्त्तव्य है। यदि उसे पहचानने के कोई चिह्न न हों जिनसे वह दूसरे व्यक्तियों से भिन्न दिखलाई दे, तो वह व्यक्ति मैं भी हो सकता हूँ या कोई और भी हो सकता है। यद्यपि, शासन की अधीनता स्वीकार करना सबका कर्त्तव्य है, पर इसका अर्थ केवल उन व्यक्तियों के आदेश और विधानों की आज्ञा का पालन करना है, जिनके पास शासन सत्ता है। प्रजा को राजकीय सत्ता में विश्वास दिलाने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसे व्यक्ति को पहचानने का कोई साधन अवश्य होगा जो इस 'राजकीय सत्ता' का उचित अधिकारी हो। किसी भी व्यक्ति की अन्तरात्मा किसी भी सत्ता की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य नहीं है जब तक उसे इसका सन्तोषजनक उत्तर न मिले कि किस व्यक्ति को उसके ऊपर ऐसी सत्ता का प्रयोग करने का उचित अधिकार है। यदि ऐसा नहीं है तो वैधानिक राजाओं और डाकुओं में कोई भेद न रह जायगा। जिसके पास बल होगा, सबको उसका आज्ञापालन करना पड़ेगा और राजसिंहासन तथा राजदण्ड केवल हिंसा और लूटमार करने वाले की सम्पत्ति होंगे। जब तक ऐसे व्यक्ति का जिसे मुझ पर या अन्य लोगों पर शासन करने का उचित अधिकार है और जिसकी आज्ञापालन करने को लोग बाध्य हैं, पता नहीं चलता तब तक लोग भी अपने शासकों को ऐसी ही सरलता से जैसे रोगी वैद्य को बदलता है बदल सकते हैं। आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करने के लिए सबकी अन्तरात्मा को सन्तुष्ट करना पड़ेगा, अतः

केवल यही जानना आवश्यक नहीं है कि संसार में ऐसी सत्ता है, बल्कि यह भी जानना आवश्यक है कि इस शासन सत्ता के संचालन का किसे उचित अधिकार है ।

८२. हमारा लेखक आदम की "राजकीय निरंकुश सत्ता" स्थापित करने में कितना सफल हुआ है, इसका स्वयं पाठक ही पिछले अंशों को पढ़कर निर्णय करेंगे। परन्तु यदि वह "निरंकुश सत्ता" इतनी ही सत्य है, जितना हमारा लेखक उसे प्रस्तुत करता है, यद्यपि मेरा इससे मतभेद है, फिर भी आधुनिक संसार में मानव जाति के शासन में उसका तब तक कुछ उपयोग न होगा जब तक वह इन दो बातों को भी न स्थापित कर दे——

प्रथम, आदम की यह सत्ता उसके साथ ही समाप्त नहीं हुई, वरन् उसकी मृत्यु के बाद पूर्णरूप से किसी और व्यक्ति को प्राप्त हुई और उसके बाद परंपरागत पीढ़ियों को ।

दूसरे, पृथ्वी के वर्त्तमान राजाओं को "आदम की यह सत्ता" उचित रूप से हस्तान्तरण द्वारा प्राप्त हुई है ।

८३. यदि इनमें से प्रथम कथन का समाधान न हुआ तो "आदम की सत्ता" चाहे कितनी ही विशाल या निश्चित हो, उसका संसार के वर्तमान शासनों और राज्यों के लिए कोई महत्त्व न होगा । तब हमें शासन की सत्ता का मूल आधार, आदम को छोड़कर, कहीं और ढूँढ़ना पड़ेगा, अन्यथा संसार में सत्ता का कोई आधार ही न रह जायगा । यदि दूसरा कथन सिद्ध नहीं होता, तो उससे वर्त्तमान राजाओं की सत्ता नष्ट हो जायगी और प्रजा उनकी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य न होगी, क्योंकि उनके पास आदम की सत्ता के लिए, जो सब सत्ता का एकमात्र आधार है, दूसरों की अपेक्षा कोई विशेष अधिकार का दावा न रह जायगा ।

८४. हमारे लेखक ने आदम में पूर्ण संप्रभुता की कल्पना की है और वह कई साधन बतलाता है जिनके द्वारा यह संप्रभुता उसके उत्तराधिकारी राजाओं को हस्तान्तरित हुई । लेखक "उत्तराधिकारी' शब्द पर विशेष महत्त्व देता है, उसका वह बारबार प्रयोग करता है । चूँकि, मैं पिछले अध्याय में ऐसे कई अंश उद्धृत कर चुका हूँ, अतः यहाँ उन्हें फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं समझता । जैसा पहले कहा जा चुका है, वह इस संप्रभुता के दो आधार मानता है——"सम्पत्ति" और "पितृत्व का अधिकार" एक तो आदम का सब जीवों पर अधिकार——समस्त पृथ्वी पर, पशु तथा अन्य निम्न कोटि की वस्तुओं सहित अधिकार——जो अन्य व्यक्तियों को नही, केवल उसी के निजी उपयोग के लिए था; दूसरा, उसका समस्त मानवजाति पर शासन करने का अधिकार ।

८५. चूँकि इन दोनों अधिकारों से आदम को छोड़कर अन्य सब मनुष्यों को वंचित रखा गया है, अतः वह आदम की किसी विशेषता पर ही आधारित होंगे।

हमारे लेखक के अनुसार आदम को सम्पत्ति का अधिकार स्वयं परमेश्वर द्वारा अनुदान से प्राप्त हुआ (जेनेसिस १.२८), और "पितृत्व का अधिकार" "सन्तान उत्पन्न करने से" प्राप्त हुआ। उत्तराधिकार से प्राप्त सब सम्पत्ति में, यदि उत्तराधिकारी को अपने पिता के अधिकार का मूल आधार प्राप्त नहीं होता, तो वह उस पर आधारित अधिकार को भी प्राप्त नहीं कर सकता। उदाहरणतः आदम को परमपिता परमेश्वर के, जो सब जीवों का सम्राट् और स्वामी है, अनुदान द्वारा जीवों की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हुआ। अगर हम लेखक का यह कथन स्वीकार भी कर लें; तो आदम की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को वह अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता जब तक उसी आधार—अर्थात्, परमेश्वर के "अनुदान"—द्वारा उत्तराधिकारी को भी यह अधिकार न मिले। यदि आदम को बिना परमेश्वर के 'अनुदान' द्वारा जीवों पर कुछ सम्पत्ति प्राप्त नहीं थी और न वह उनका उपयोग कर सकता था, और यदि यह "अनुदान" केवल व्यक्तिगत रूप से आदम को ही दिया गया था, तो उसके केवल "उत्तराधिकारी" होने से, उसको कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता और आदम की मृत्यु पर यह अधिकार पुनः परमेश्वर को, जो सबका सम्राट् और स्वामी है, प्राप्त हो जायगा। निश्चित अनुदानों का क्षेत्र उनके निश्चित शब्दों द्वारा ही सीमित रहता है। हमारा लेखक स्वयं कहता है कि यह अनुदान व्यक्तिगत रूप से आदम को दिया गया था, तो स्पष्ट है कि उसके वंशज, जीवों पर सम्पत्ति के इस उत्तराधिकार को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि यह अनुदान आदम के अलावा और किसी को दिया गया था तो इसे प्रमाणित करना चाहिए कि यह उसके उत्तराधिकारी को दिया गया था, अर्थात् सब सन्तान में से किसी एक को।

८६. यदि हम अपने लेखक के शब्दों के हेरफेर में अधिक न पड़कर समस्या को सीधे दृष्टिकोण से देखें, तो वह इस प्रकार है, "परमेश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की और उसमें तथा अन्य जीवों में आत्मरक्षा की शक्तिशाली प्रवृत्ति जागृत की, तथा संसार में भोजन, परिधान और अन्य आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कीं, जिससे दैव इच्छा के अनुसार, मनुष्य कुछ समय तक पृथ्वी पर बना रहे और ऐसा न हो कि उसकी कारीगरी का इतना अद्भुत नमूना साधनाभाव के कारण, या स्वयं उसकी अवहेलना के कारण, कुछ ही समय जीवित रहकर तत्काल नष्ट हो जाय। मैं कहता हूँ कि परमेश्वर ने, इस प्रकार संसार और मनुष्य की रचना करके, यह कहा—अर्थात् उसकी बुद्धि और इन्द्रियों

के माध्यम से—उसको उन सब वस्तुओं के उपयोग करने का बोध कराया जो उसके जीवन के लिए आवश्यक है और उसकी रक्षा का साधन है (जैसा उसने निम्न कोटि के पशुओं को उनकी इन्द्रियों तथा स्वभाव से बोध कराया, जिनकी रचना उसने इसी उद्देश्य से की थी)। अतः मुझे सन्देह नहीं कि इन शब्दों के उच्चारण के पहले ही, (यदि हम इनका अक्षरशः यही अर्थ लगावें कि वे वास्तव में बोले गये थे) या बिना किसी ऐसे "मौखिक अनुदान" के ही, मनुष्य को परमेश्वर की इच्छा और अनुदान से, जीवों का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त हुआ। स्वयं परमेश्वर ने मनुष्य के अन्दर उसके जीवन की सुरक्षा की तीव्र इच्छा स्थापित की है और यही इच्छा उसके सब कार्यों का आधार है। मनुष्य का विवेक, "जो उसमें परमात्मा का अंश है" उसको यही सिखाता है और उसे यही विश्वास दिलाता है कि अपने स्वभाव के अनुसार, अपनी सुरक्षा करने में वह सृष्टिकर्त्ता की इच्छा का ही पालन कर रहा है, अतः उसे उन सब जीवों के उपयोग करने का अधिकार है जिन्हें उसका विवेक या इन्द्रियाँ उसके लिए उपयोगी बतलाती हैं। इस प्रकार, अपने लिए आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं को उपयोग करने के अधिकार के आधार पर उसे पशुओं में सम्पत्ति का अधिकार है।

८७. चूँकि आदम की "सम्पत्ति" का आधार और कारण यही है, अतः इसी आधार पर उसकी सब सन्तान को भी, केवल उसकी मृत्यु के बाद ही नहीं, वरन् उसके जीवन काल में ही, यह अधिकार प्राप्त होगा। स्पष्ट है कि उसकी सब सन्तान में से किसी एक को उत्तराधिकार का विशेष अधिकार प्राप्त नही हो सकता और उसकी अन्य सब सन्तानें अपने जीवन की सुरक्षा के लिए निम्न कोटि के जीवों का उपयोग करने के समानाधिकार से वंचित रहें। मनुष्य का निम्न कोटि के जीवों पर सम्पत्ति का यही अधिकार है। अतः 'सम्पत्ति' के आधार पर आदम की संप्रभुता, जिसे हमारा लेखक "निजी आधिपत्य" कहता है, मिथ्या प्रमाणित होती है। जिस कारण से आदम को सब जीवों के उपयोग का अधिकार प्राप्त हुआ, उसी कारण से और सब मनुष्यों को भी ऐसा अधिकार प्राप्त हुआ, अर्थात्, प्रत्येक को अपनी जीविका की चिन्ता और व्यवस्था करने का अधिकार। इस तरह, मनुष्य को, आदम की सन्तान को आदम के साथ साझे में यह अधिकार प्राप्त हुआ। यदि किसी व्यक्ति ने किसी विशेष वस्तु में, अपनी सम्पत्ति का आरम्भ किया (वह ऐसा कैसे कर सकता है, इस पर मैं दूसरे स्थान पर विचार करूँगा) तो यह सम्पत्ति, यदि वह किसी निश्चित अनुदान द्वारा इसकी व्यवस्था नहीं करता, स्वाभाविक रूप से, उसकी सन्तान को प्राप्त होगी और वही उसके उत्तराधिकारी होंगे तथा उसके उपयोग का उनको अधिकार होगा।

८८. यहाँ यह प्रश्न युक्तिसंगत होगा कि माता-पिता की मृत्यु पर उनकी सन्तान को क्यों उनकी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है ? चूँकि यह सम्पत्ति व्यक्तिगत रूप से माता-पिता की है, अतः यदि वे अपने अधिकार को किसी अन्य को हस्तान्तरित न करें, तो उनकी मृत्यु पर यह सम्पत्ति पुनः मानव जाति की संयुक्त सम्पत्ति में क्यों नहीं मिल जाती ? इसका शायद यह उत्तर दिया जायगा कि यह सर्वसम्मति से सन्तान को प्राप्त होती है। यह तो हम देखते हैं कि प्रचलित प्रथा के अनुसार ऐसा ही होता है, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सर्वसहमति से ऐसा होता है, क्योंकि न ऐसी सहमति कभी माँगी गयी और न वास्तव में दी गयी। यदि यह प्रथा व्यापक मौन सहमति पर आधारित है, तो इसके अनुसार सन्तान का अपनी माता-पिता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार प्राकृतिक अधिकार नहीं, वरन्, निश्चित अधिकार होगा। परन्तु यह प्रथा सर्वव्यापी है, अतः इसका आधार प्राकृतिक मानना अधिक युक्तिसंगत होगा। मेरे विचार से उचित कारण यह है : परमेश्वर ने मनुष्य में आत्म सुरक्षा की प्रवृत्ति स्थापित की, जिसे उसने मनुष्य की प्रथम और सबसे प्रबल इच्छा बनाया, उसे उसके स्वभाव का मूल सिद्धान्त ही बना दिया। इसी प्रवृत्ति के आधार पर हर व्यक्ति को दूसरे जीवों का निजी उपयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। इससे कम प्रबल, परन्तु अति महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति, परमेश्वर ने मनुष्य में अपनी वंशवृद्धि करने और अपनी सन्तान में अपने को बनाये रखने की बनायी। इसी के आधार पर सन्तान को अपने माता-पिता की सम्पत्ति में भाग मिलने का और उनके उत्तराधिकारी होने का अधिकार प्राप्त होता है। मनुष्य अपनी सम्पत्ति का केवल अपने लिए ही स्वामी नहीं होता। उसकी सन्तान का भी उसमें भाग होता है और अपने माता-पिता के साथ संयुक्त रूप से उस पर अधिकार होता है, और माता-पिता की मृत्यु के वाद, वह पूर्णरूप से सन्तान को प्राप्त हो जाती है। इसी को हम उत्तराधिकार कहते हैं। चूँकि मनुष्य अपने साथ-साथ अपनी सन्तान की सुरक्षा के लिए भी उत्तरदायी है, अतः उसकी सन्तान का, जिसे उसने जन्म दिया है, उसकी सम्पत्ति पर अधिकार होता है। सन्तान को ऐसे अधिकार हैं, यह दैव विधान से स्पष्ट हो जाता है और मनुष्य को सन्तान के ऐसे अधिकार मान्य हैं, यह देश के विधान से स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों विधानों के अनुसार माता-पिता को अपनी सन्तान के लिए व्यवस्था करनी पड़ती है।

८९. शिशु, प्रकृतिवश, शक्तिहीन स्थिति में जन्म लेते हैं और अपनी व्यवस्था अपने आप नहीं कर सकते। स्वयं परमेश्वर के निर्णय द्वारा, जिसने प्रकृति की ऐसी ही रचना की है, उन बच्चों को अपने माता-पिता से पालन-पोषण का अधिकार होता—

केवल जीवन मात्र का ही अधिकार नहीं, वरन् अपने माता-पिता की सामर्थ्य के अनुसार जीवन की सुविधाओं का भी अधिकार । अपनी मृत्यु के बाद जब माता-पिता सन्तान के लिए व्यवस्था नहीं कर सकते, तब उनके जीवन काल में अर्जित सम्पत्ति उनकी सन्तान को प्राप्त होनी चाहिए—ऐसा प्रकृति का उद्देश्य है, क्योंकि अपनी सन्तान के लिए व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व माता-पिता का ही है । यद्यपि मृत्यु शय्या पर पड़े माता-पिता स्पष्ट शब्दों में इसके लिए कुछ नहीं कहते, परन्तु प्रकृति निर्धारित करती है कि उनकी सम्पत्ति सन्तान को ही प्राप्त हो । इस प्रकार संतान अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त कर लेती है जिस पर अन्य मनुष्यों का अधिकार नहीं हो सकता।

९०. यदि परमेश्वर और प्रकृति के अनुसार बच्चों को माता-पिता द्वारा पालन-पोषण का यह अधिकार प्राप्त न होता, जिससे माता-पिता को अपनी सन्तान के प्रति इस उत्तरदायित्व को कर्त्तव्य के रूप में निभाना पड़े, तो ऐसा युक्तिसंगत हो सकता था कि पिता को अपने पुत्र की सम्पत्ति प्राप्त हो और अपने पौत्र की अपेक्षा उत्तराधिकार में उसका श्रेष्ठ अधिकार हो । चूँकि पितामह ने अपने पुत्र को उत्पन्न किया तथा उसकी शिक्षा दीक्षा की, अतः न्याय यही कहता है कि उसको इसका कुछ मूल्य मिलना चाहिए । परन्तु पितामह ने यह उसी विधान के अनुसार किया, जिसके अनुसार उसे स्वयं अपने माता पिता से पालन-पोषण और शिक्षा प्राप्त हुई थी । अपने पिता से प्राप्त इस शिक्षा का मूल्य वह अपनी सन्तान की व्यवस्था करके ही चुका सकता है । (इस मूल्य चुकाने से मेरा तात्पर्य उस सम्पत्ति से है जिसे हस्तान्तरित करना है, यदि माता-पिता की वर्त्तमान आवश्यकता के लिए कुछ सम्पत्ति आवश्यक न हो। यहाँ हम उस श्रद्धा, स्वीकृति, आदर और सम्मान का उल्लेख नहीं कर रहे है जो हर सन्तान को अपने माता-पिता को देना चाहिए, केवल सम्पत्ति और ऐसी वस्तुओं का उल्लेख कर रहे है जिसका धन से मूल्यांकन हो सके ।) परन्तु, अपनी सन्तान के प्रति यह ऋण पिता के प्रति ऋण को पूर्णतया चुका नहीं सकता, यद्यपि, प्रकृति के अनुसार पहला अधिक अपेक्षित है। यदि पुत्र के कोई सन्तान न हो, तो पिता को अपने पुत्र की सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार होता है, अन्य संतान का अधिकार इसे समाप्त नहीं करता । अतः आवश्यकता पड़ने पर एक व्यक्ति को अपनी सन्तान से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार है, और यदि उसकी सन्तान की सामर्थ्य हो तो जीवन की सुविधाएं पाने का भी अधिकार है । यदि उसके पुत्र की निःसन्तान मृत्यु हो जाय तो पिता को प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने पुत्र की स्थानीय सम्पत्ति प्राप्त करे (भले ही कुछ देशों के

(राजकीय) विधान इसके प्रतिकूल हों) और फिर वह उसकी सन्तान तथा उस सन्तान की सन्तान को प्राप्त हों या सन्तान न होने पर फिर पिता तथा उसकी सन्तान को प्राप्त हो और यदि पिता या पुत्र, कोई उपलब्ध न हो—अर्थात् कोई आत्मीय जन न हो—तो वहाँ उस व्यक्ति की निजी सम्पत्ति फिर समाज को प्राप्त हो जाती है और राजनीतिक समाजों में सार्वजनिक राजकीय अधिकारी को मिलती है तथा प्राकृतिक अवस्था में पुनः पूर्णतया सार्वजनिक हो जाती है, जिसे कोई उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता और जिसको कोई अपनी सम्पत्ति उसी तरह बना सकता है, जिस प्रकार वह प्रकृति में पायी जानेवाली अन्य वस्तुओं को सम्पत्ति बनाता है। मैं इस विषय पर आगे उचित स्थान पर कुछ कहूँगा।

९१. सन्तान को क्यों अपने पिता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार प्राप्त होता है, इसे मैंने काफी विस्तारपूर्वक लिखा है क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि आदम को समस्त पृथ्वी तथा उसकी पैदावार के रूप में प्राप्त सब सम्पत्ति पर (जो नाममात्र की, तुच्छ तथा व्यर्थ की सम्पत्ति से अधिक नहीं थी क्योंकि इसी से उसे अपनी सन्तान तथा भावी सन्तान का पालन-पोषण करना था) उसकी सब सन्तान को, प्राकृतिक विधान और उत्तराधिकार के अधिकार के कारण, संयुक्त अधिकार था, और उसकी मृत्यु पर, सब सम्पत्ति पर अधिकार था, अतः किसी एक को, शेष सब पर संप्रभुता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि सबको अपने भाग के उत्तराधिकार का अधिकार था। वह चाहे उत्तराधिकार से प्राप्त इस सम्पत्ति को या उसके कुछ भाग को अन्य के साथ संयुक्त रूप में उपभोग करे, या हिस्सा बँटाये या उसे विभाजित कर दे। वह चाहे जो करे, परन्तु कोई पूर्ण सम्पत्ति पर उत्तराधिकार या संप्रभुता का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि, उत्तराधिकार के अधिकार से सब सन्तान को अपनी पिता की सम्पत्ति में कुछ हिस्सा लेने का अधिकार है। सन्तान के अपने पिता की सम्पत्ति पर अधिकार के आधार पर जो मैंने इतना बल दे दिया है, उसका केवल यही एक कारण नहीं है; दूसरा कारण यह है कि यह 'शासन' और 'सत्ता' के उत्तराधिकार पर कुछ और प्रकाश डालता है। कुछ राज्यों में, उनके विशेष राजकीय विधानों द्वारा समस्त भूमि का स्वामी केवल ज्येष्ठ पुत्र ही होता है, और इसी प्रथा के आधार पर सत्ता परम्परा से चली आ रही है। इससे कुछ लोगों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि भूमि और सत्ता के उत्तराधिकार में ज्येष्ठाधिकार का कोई प्राकृतिक या दैव अधिकार है, और मनुष्य तथा सम्पत्ति पर शासन का एक ही मूल आधार है और एक ही नियम द्वारा वे परम्परा से चले आ रहे हैं।

९२. मनुष्य को किसी भी निम्न श्रेणी के जीव को, अपने जीवन तथा सुविधा के लिए प्रयोग करने का जो अधिकार है, वही सम्पत्ति का मूल आधार है। सम्पत्ति, स्वामी के एकमात्र लाभ के लिए होती है, जिसे वह आवश्यकता पड़ने पर उपयोग कर सकता है और उपयोग द्वारा नष्ट भी कर सकता है। परन्तु शासन हर व्यक्ति को दूसरों की हिंसा तथा हानि से बचाते हुए, उसके अधिकार और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए है, और शासित के कल्याण के लिए है। राजकीय अधिकारी की सत्ता, दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देने के लिए है और इस दण्ड के भय से वह व्यक्तियों को जनहित हेतु, समाज के विधान, जो प्रकृति के विधान का अनुसरण करते हैं, को मानने के लिए बाध्य करता है। जनहित में समाज के प्रत्येक सदस्य का हित निहित है। जहाँ तक सार्वजनिक नियमों द्वारा व्यवस्था हो सकती है, राजकीय अधिकारी की सत्ता, स्वयं अपने हित के लिये प्राप्त नहीं होती है।

९३. जैसा कहा जा चुका है, सन्तान का, अपने पालन-पोषण के लिए माता-पिता पर निर्भर होने के कारण, अपने पिता की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार होता है--क्योंकि, वह उन्हीं के लाभ के लिए होती है। ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र अधिकार या कोई विशेषाधिकार परमेश्वर या प्रकृति के किसी भी विधान द्वारा प्राप्त नहीं होता। उसको, तथा उसके भाइयों को समान रूप से, अपने पिता द्वारा पालन-पोषण और जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार होता है। केवल इसी पर उत्तराधिकार आधारित है। चूंकि शासन प्रजा के हित के लिए होता है और केवल शासकों के हित के लिए नहीं होता (शासकों का हित सबके हित में निहित रहता है, जिनसे मिलकर राजनीतिक समाज बनता है, जिसमें हर भाग और सदस्य के लिए ऐसी व्यवस्था होती है कि सब अपने विशेष कार्यों द्वारा समस्त समाज के हित के लिए कार्य करें), अतः शासन का उत्तराधिकार उसी नियम से नहीं हो सकता; जिससे सन्तान अपने पिता की सम्पत्ति प्राप्त करती है। चूँकि पुत्र को अपने पिता की सम्पत्ति से जीवन की आवश्यकताएँ तथा सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार होता है, और इसीलिए उसे अपने पिता की सम्पत्ति पर, अपने हित के लिए, उत्तराधिकार प्राप्त होता है। परन्तु, इससे उसे अपने पिता के दूसरे व्यक्तियों पर 'शासन' करने का अधिकार उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। सन्तान अपने पिता से केवल पोषण और शिक्षा तथा प्रकृति द्वारा जो जीवन के लिए आवश्यक है, उसी का दावा कर सकती है। परन्तु, उसे अपने पिता से "शासन" या "आधिपत्य" प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। उसे अपने पिता से आवश्यकता की वस्तुएँ तथा शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त करने का स्वाभा-

विक अधिकार है, पर "साम्राज्य" और "आधिपत्य" प्राप्त करने का नही जो (यदि उसके पिता को प्राप्त है) उसे दूसरों के लाभ और हित के लिए प्राप्त है। अतः, पुत्र उसे अपने निजी हित और लाभ के आधार पर उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।

९४. हमें यह मालूम करना चाहिए कि सर्वप्रथम शासक को अपनी सत्ता कैसे प्राप्त हुई? शासक को 'साम्राज्य' किस आधार पर प्राप्त होता है? तभी हम यह जान सकेंगे कि उसका उत्तराधिकारी होने का अधिकार किसे है? यदि सर्वप्रथम किसी को सत्ता अनुबन्ध और सहमति से प्राप्त हुई है तो उसी से उसका उत्तराधिकार भी प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि जिस सत्ता ने पहले को वैधानिक शासक बनाया, वही दूसरा शासक भी बना सकती है। अतएव उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान कर सकती है। यदि शासन स्थापित करनेवाली सहमति ने उत्तराधिकारी की ऐसी व्यवस्था न की हो तो उत्तराधिकार या ज्येष्ठाधिकार का कोई आधार नही हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजत्व के उत्तराधिकार की विभिन्नताओं के कारण, जो व्यक्ति एक देश में उत्तराधिकार के अधिकार के कारण सिंहासनस्थ होगा वही दूसरे देश में कभी इसका स्वप्न भी नहीं देख सकता है।

९५. यदि किसी व्यक्ति को परमेश्वर द्वारा सर्वप्रथम 'शासन' और "आधिपत्य" निश्चित अनुदान तथा दैव घोषणा द्वारा प्राप्त हुआ, तो उसके बाद जो इस पद का दावा करता है, उसे भी परमेश्वर का निश्चित अनुदान उत्तराधिकार के लिए प्राप्त होना चाहिए; क्योंकि यदि परमेश्वर ने उत्तराधिकार तथा हस्तान्तरण की व्यवस्था नहीं की है, तो कोई इस पद का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, और ऐसी स्थिति में, सन्तान को या ज्येष्ठ सन्तान को उत्तराधिकार का कोई अधिकार नहीं हो सकता जब तक इस संविधान के निर्माता, परमेश्वर का ऐसा आदेश न हो। हम देखते हैं कि साउल (Saul) को अपना राजसिंहासन स्वयं परमेश्वर द्वारा प्राप्त हुआ था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसकी सन्तान को प्राप्त नहीं हुआ। डेविड (David) को भी अपना पद साउल की भाँति परमेश्वर द्वारा प्राप्त हुआ था, और वह जौनेथन को (Jonathan) जो राजगद्दी का वंशानुक्रमगत उत्तराधिकारी था, हटा कर राजा बना। यदि सौलोमन (Solomon) ने अपने पिता की राजगद्दी प्राप्त की, तो वह ज्येष्ठाधिकार के आधार पर नहीं, वरन्, किसी और आधार पर प्राप्त की होगी। यदि छोटे पुत्र या बहन के पुत्र को प्रथम वैधानिक सम्राट् के समान ही राजगद्दी पर अधिकार का दावा हो तो उसे उत्तराधिकार में पूर्वाधिकार देना चाहिए। उस आधिपत्य में जिसका

आधार केवल ईश्वरकृत स्पष्ट नियुक्ति है, कनिष्ठतम् पुत्र बैन्जेमिन को ईश्वरीय आदेश होने पर, राजत्व का उत्तराधिकारी होना चाहिए, जैसे कि उसी गोत्र में एक व्यक्ति द्वारा सर्वप्रथम अधिकार प्राप्त किया गया था।

९६. यदि "पितृत्व के अधिकार", "सन्तान उत्पन्न" करने से ही मनुष्य को 'शासन' और "आधिपत्य" प्राप्त होता जाता है तो उत्तराधिकार और ज्येष्ठाधिकार से यह पद प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे अपने पिता के "सन्तान उत्पन्न करने" का पद प्राप्त नहीं हो सकता, उसे अपने भाइयों पर वह सत्ता प्राप्त नही हो सकती जो उसके पिता को पिता होने के कारण प्राप्त थी। परन्तु इस विषय पर मैं आगे चलकर कुछ और कहूँगा। यहाँ इतना कहना काफी है कि कोई शासन, चाहे वह "पितृत्व के अधिकार" या "जनता की सहमति" या "परमेश्वर की निश्चित नियुक्ति" पर आधारित हो, शेष दोनों को अधिकार च्युत करके उनके स्थान पर स्थापित हो सकता है और इस तरह नये शासन का नया आधार आरम्भ कर सकता है, ऐसे किसी भी शासन का उत्तराधिकार केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जिन्हें अपने पूर्व शासक के समान पद का अधिकार हो। यदि सत्ता "अनुबन्ध" पर आधारित हो तो उसका उत्तराधिकारी वही हो सकता है जिसे अनुबन्ध द्वारा अधिकार प्राप्त हो। "सन्तान उत्पन्न करने पर आधारित सत्ता" उसी को प्राप्त हो सकती है जो "सन्तान उत्पन्न करे" वह व्यक्ति "परमेश्वर के निश्चित अनुदान" पर आधारित सत्ता का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता जिसे परमेश्वर "अनुदान" द्वारा ऐसा अधिकार दे।

९७. जो कुछ मैंने कहा है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि जीवों के उपयोग करने के अधिकार का मूल आधार, व्यक्ति के जीवित रहने और जीवन की सुविधाओं के उपभोग के अधिकार में है। सन्तान का अपने पिता की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करने का प्राकृतिक अधिकार, अपने माता-पिता की सम्पत्ति से पालन-पोषण और जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने में है, इसीलिए माता-पिता में प्रकृतिवश प्रेम और वात्सल्य की रचना की गयी है, जिससे वे अपनी सन्तान की, अपने ही समान, व्यवस्था करते हैं और यह सब केवल स्वामी या उत्तराधिकारी के हित के लिए ही होता है। इसके आधार पर सन्तान 'शासन' या 'आधिपत्य' को उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि इनका मूल आधार तथा उद्देश्य भिन्न है। 'सम्पत्ति' या 'सत्ता' के उत्तराधिकार में ज्येष्ठ पुत्र का एकमात्र अधिकार नहीं हो सकता। इस पर उपयुक्त स्थान पर हम और विस्तारपूर्वक लिखेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि आदम की 'सम्पत्ति' या 'निजी आधिपत्य' के आधार पर उसके उत्तराधिकारी को संप्रभुता या शासन

प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपने पिता की पूर्ण सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, और इसलिए उसे अपने भाइयों पर संप्रभुता नहीं मिल सकती। अतः यदि "सम्पत्ति" के आधार पर आदम को कुछ भी संप्रभुता प्राप्त थी—जो कि वास्तव में उसे प्राप्त नहीं थी—तो वह उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गयी।

९८. यदि आदम की सम्पूर्ण संसार के स्वामी होने के आधार पर संप्रभुता में व्यक्तियों पर अधिकार भी समाविष्ट था, तो वह उसकी किसी सन्तान को, उत्तराधिकार द्वारा शेष के ऊपर प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि सब सन्तान को पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग पर अधिकार होने के कारण वह पिता की सम्पत्ति विभाजित कर सकते थे। इसी तरह 'पितृत्व' पर आधारित आदम की संप्रभुता, उसकी किसी सन्तान को प्राप्त नहीं हो सकती थी, क्योंकि हमारे लेखक के अनुसार, यह "सन्तान उत्पन्न करने" वाले का, उत्पन्न की गयी सन्तान पर अधिकार है। ऐसी सत्ता उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। इस अधिकार का आधार पूर्णतया वैयक्तिक है, अतः यह सत्ता भी वैयक्तिक है और सन्तान को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त नहीं हो सकती। पितृत्व पर आधारित सत्ता प्राकृतिक अधिकार है जो पिता और पुत्र के सम्बन्ध पर आधारित है और इसको उत्तराधिकार में प्राप्त करना असम्भव है। हमारे लेखक के तर्क के अनुसार यदि कोई पुत्र अपने पिता की संतान पर पिता के पितृत्व के अधिकार का उत्तराधिकारी होने के कारण अधिकार प्राप्त कर सकता है तो वह अपने पिता के, पति के रूप में, उसकी पत्नीपर भी वैवाहिक अधिकार का भी उत्तराधिकारी हो सकता है; चूँकि पति के अधिकार अनुबन्धन पर आधारित होते हैं और पिता के अधिकार सन्तानोत्पत्ति के आधार पर, अतः वह पिता के वैवाहिक अनुबन्ध के अधिकार भी उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकता है, जो वैयक्तिक हैं। यदि वह "सन्तान उत्पन्न करने से प्राप्त अधिकार" को उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकता है, जो केवल सन्तान उत्पन्न करने-वाले को ही प्राप्त हो सकते हैं, तो अवश्य ऐसा सम्भव है कि "सन्तान उत्पन्न करने से प्राप्त अधिकार" ऐसे व्यक्ति को प्राप्त हो जाय जिसने सन्तान उत्पन्न न की हो।

९९. यहाँ यह प्रश्न युक्तिसंगत होगा कि चूँकि आदम की ईव के पहले मृत्यु हो गयी थी, तो क्या उसके उत्तराधिकारी (केन या सेठ) को अपने पिता के "पितृत्व के अधिकार" का उत्तराधिकार में प्राप्त करने के कारण, अपनी माता ईव पर भी संप्रभुता प्राप्त हो गयी, क्योंकि, आदम के "पितृत्व के अधिकार" का अर्थ उसका अपनी सन्तान पर शासन करने का अधिकार था। जिसने आदम के इस 'पितृत्व के अधिकार' को उत्तराधिकार में प्राप्त किया, उसे वस्तुतः कुछ नहीं मिला। उसने हमारे लेखक के अनुसार,

केवल वही अधिकार प्राप्त किये जो आदम को अपने से उत्पन्न सन्तान पर शासन के थे। अतः उत्तराधिकारी के राजतन्त्र में ईव सम्मिलित नहीं हो सकती। और यदि ऐसा नहीं है, तो चूंकि उसे केवल आदम का 'पितृत्व का अधिकार' ही प्राप्त हुआ था, अतः उसे ईव पर शासन करने का केवल इसीलिए अधिकार मिल सकता था कि आदम ने ईव को जन्म दिया था, क्योंकि पितृत्व से और कोई अभिप्राय नहीं हो सकता।

१००. शायद हमारा लेखक यह कहे कि एक व्यक्ति अपनी सन्तान पर प्राप्त अपने अधिकार हस्तान्तरित कर सकता है, और जो अनुबन्ध द्वारा हस्तान्तरित किया जा सकता है, वह उत्तराधिकार द्वारा भी किया जा सकता है। मेरा उत्तर यह है कि पिता अपनी सन्तान पर अपने अधिकार को हस्तान्तरित नहीं कर सकता, शायद वह किसी अपराध के कारण उसे कुछ मात्रा में खो दे, परन्तु वह हस्तान्तरित नहीं कर सकता। यदि किसी अन्य व्यक्ति को वह सत्ता प्राप्त हो, तो वह पिता के अनुदान से नहीं, वरन् अपने किसी कृत्य से प्राप्त होती है। उदाहरणतः यदि कोई पिता अपने पुत्र से प्रेम नहीं करता, जो अस्वाभाविक चीज है और उसे किसी दूसरे व्यक्ति को बेच देता है या दे देता है; इसी तरह यह दूसरा व्यक्ति भी यदि उसे त्याग देता है और एक तीसरा व्यक्ति उसे शरण देता है, पालता है, स्नेह करता है और अपने पुत्र की भाँति ही उसकी व्यवस्था करता है, तो मेरे विचार से सब निःसन्देह यह स्वीकार करेंगे कि ऐसी स्थिति में, सन्तान का प्रेम और अधीनता, इस धर्मपिता को ही प्राप्त होनी चाहिए। यदि उस सन्तान से पहले के दो पिताओं में कोई इस कर्त्तव्य के कुछ अंश का दावा कर सकता है, तो वह जन्म देनेवाला पिता ही कर सकता है जो, यद्यपि, बड़ी मात्रा में अपना अधिकार खो चुका है जो उसे "माता-पिता का आदर करो" के आदेशानुसार प्राप्त होता, लेकिन जिसे वह अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। जिसने पुत्र को खरीदा और उसकी अवहेलना की, उसे इस क्रय और पिता के इस अनुदान द्वारा पुत्र से किसी प्रकार के कर्त्तव्य या आदर का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यह अधिकार उस व्यक्ति को प्राप्त हुआ जिसने उस त्यक्त और दुखी बालक को पितृवत् स्नेह द्वारा बचाया। उसे ही, स्नेह की मात्रा में, पितृत्व का अधिकार प्राप्त हुआ। पितृत्व के अधिकार पर विचार करने से यह और भी स्पष्ट हो जायगा। इसके लिए मैं पाठकों को अपना दूसरा निबन्ध पढ़ने को कहूँगा।

१०१. विचाराधीन प्रश्न पर ध्यान दें। यह स्पष्ट है कि "सन्तान उत्पन्न करने" के आधार पर ही पितृत्व का अधिकार प्राप्त होता है, (हमारे लेखक के अनुसार उसका यही एकमात्र आधार है) उसे न हस्तान्तरित किया जा सकता है और न वह "उत्तरा-

धिकार" में प्राप्त किया जा सकता है। जिसने सन्तान उत्पन्न नहीं की उसे पितृत्व का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकार प्राप्त करने की शर्त पूरी किये बिना अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि यह प्रश्न किया जाय कि पिता को किस विधान द्वारा अपनी सन्तान पर सत्ता प्राप्त होती है, तो उत्तर यह होगा कि निःसन्देह प्रकृति के उस विधान द्वारा जो सन्तान उत्पन्न करनेवाले को सन्तान पर अधिकार देता है। यदि प्रश्न पूछा जाय कि किस विधान द्वारा, हमारा लेखक का उत्तराधिकारी, उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त करता है तो मेरे विचार से उसका भी यही उत्तर होगा, कि प्रकृति के विधान द्वारा। हमारे लेखक ने ऐसे उत्तराधिकारी के अधिकार के प्रमाण में धर्मग्रन्थ का एक शब्द भी उद्धृत नही किया है। यदि प्रकृति के विधान द्वारा पिता को अपनी सन्तान पर पितृत्व का अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि वह उन्हें "उत्पन्न करता" है, तो उसी प्रकृति के विधान द्वारा उत्तराधिकारी को अपने भाइयों पर पितृत्व का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है, जिन्हें उसने "उत्पन्न" नहीं किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि या तो पिता को पितृत्व का अधिकार सन्तान "उत्पन्न" करने के कारण प्राप्त नहीं होता, या उत्तराधिकारी के अधिकार का आधार यह नहीं है। यह समझना कठिन है कि किस प्रकार प्रकृति का विधान, जो विवेक का विधान है, पिता को अपनी सन्तान पर, केवल उन्हें "उत्पन्न करने" के एकमात्र कारण से पितृत्व के अधिकार देता है, और ज्येष्ठ पुत्र को अपने भाइयों के ऊपर बिना इस एकमात्र कारण के—अर्थात् बिना किसी कारण के, वही अधिकार देता है। यदि प्रकृति के विधान द्वारा ज्येष्ठ पुत्र, बिना उसे प्राप्त करने के एकमात्र अधिकार के ही कारण पितृत्व का उत्तराधिकारी हो सकता है, तब तो छोटे पुत्र को या किसी बाहरी व्यक्ति को भी वह प्राप्त हो सकता है, क्योंकि जब उसका कोई आधार ही न हो, जैसा "सन्तान उत्पन्न" करनेवाले के अलावा किसी के पास नहीं हो सकता, तो सबको उसे प्राप्त करने का समानाधिकार हो सकता है। मैं निश्चित हूँ कि हमारे लेखक ने कोई कारण प्रस्तुत नहीं किया है और जब वह कोई ऐसा कारण प्रस्तुत करेगा, तब हम उस पर विचार करेंगे कि वह उचित है या नहीं।

१०२. हमारे लेखक के तर्कों के आधार पर यदि प्रकृति के विधान द्वारा एक व्यक्ति को दूसरे की सम्पत्ति पर, उसका वंशज होने के कारण, उत्तराधिकार प्राप्त होता है तो उसी प्रकृति के विधान द्वारा कोई भी उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। उसके तर्कों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि, प्रकृति के विधान द्वारा सन्तान उत्पन्न करनेवाले को अपनी सन्तान पर पितृत्व का अधिकार प्राप्त होता है और उसी प्रकृति

के विधान द्वारा उन्हें उत्पन्न न करनेवाले उत्तराधिकारी को भी उन पर यह अधिकार प्राप्त होता है। देश का विधान केवल उन्हीं को अपनी सन्तान पर निरंकुश अधिकार देता है, जो उन्हें पालते-पोसते हैं। क्या इससे ऐसा निष्कर्ष निकल सकता है कि इस विधान द्वारा किसी को जो ऐसा नहीं करता, उन पर, जो उनकी संतान नहीं है, निरंकुश अधिकार प्राप्त हो जायेंगे ?

१०३. यदि यह प्रमाणित मान लिया जाय कि वैवाहिक अधिकार उसे प्राप्त हो सकते हैं जो पति नहीं है, तो मेरे विचार से यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि हमारे लेखक का सन्तान उत्पन्न करने के कारण प्राप्त "पितृत्व का अधिकार" पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकता है और अपने पिता का उत्तराधिकारी होने के कारण एक भाई को अपने अन्य भाइयों पर ऐसा अधिकार प्राप्त हो सकता है, और इसी आधार पर वैवाहिक अधिकार भी उत्तराधिकार में मिल सकते हैं। पर जब तक ऐसा प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक मेरे विचार से हमें संतोष करना चाहिये कि आदम का "पितृत्व का अधिकार" —पितृत्व की संप्रभु सत्ता"—(यदि ऐसी कोई थी) तो वह उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त नहीं हुई। यह मै भी अपने लेखक के साथ स्वीकार करूँगा कि "पितृत्व का अधिकार" कभी समाप्त नहीं हो सकता और जब तक संसार में पिता रहेंगे, यह अधिकार बना रहेगा। पर किसी को आदम का पितृत्व का अधिकार, या उस पर अवलम्बित सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती। सब की अपनी निजी सत्ता होगी जो उसी आधार पर होगी जिस पर आदम की सत्ता आधारित थी—अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने से प्राप्त, उत्तराधिकार से नहीं; इसी प्रकार पति अपने वैवाहिक अधिकार आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं करते। अतः हम देखते हैं कि आदम के पास ऐसी कोई "सम्पत्ति" नहीं थी—कोई ऐसा "पितृत्व का अधिकार" नहीं था जिससे उसे समस्त मानव जाति पर संप्रभुता प्राप्त हो। इसी तरह इन दोनों में से किसी भी आधार पर उसकी संप्रभुता उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त नहीं हो सकती, वरन् वह उसकी मृत्यु के बाद समाप्त हो गयी। चूँकि यह प्रमाणित किया जा चुका है कि आदम न तो सम्राट् था और न उसकी यह काल्पनिक राजसत्ता उत्तराधिकारी को प्राप्त हो सकती थी। अतः संसार में वर्त्तमान सत्ता आदम की सत्ता नहीं है। क्योंकि हमारे लेखक के अनुसार "सम्पत्ति" या "पितृत्व" के आधार पर आदम को जो कुछ भी प्राप्त था वह उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गया और उसकी सन्तान को उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त नही हुआ। अगले अध्याय में हम विचार करेंगे कि क्या आदम की सत्ता का कोई उत्तराधिकारी था जैसा हमारा लेखक कहता है।

अध्याय १०

आदम की राजतन्त्रिक सत्ता का उत्तराधिकारी

१०४. हमारा लेखक कहता है, "इस सत्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि व्यक्तियों के किसी भी छोटे या बड़े समूह में, उसमें चाहे ससार के सुदूर प्रदेशों के व्यक्ति एकत्रित हों, एक व्यक्ति अवश्य ऐसा होगा जिसे, आदम का उत्तराधिकारी होने के कारण, सबका सम्राट् बनने का प्राकृतिक अधिकार होगा जिसकी अन्य सब व्यक्ति प्रजा होंगे। प्रकृति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या तो राजा या प्रजा होता है। "लेखक पुनः कहता है, "यदि आदम स्वयं अभी तक जीवित होता और अब उसकी मत्यु होनेवाली होती, तो यह निश्चय है कि संसार में एक, केवल एक व्यक्ति ऐसा होता जो उसका अगला उत्तराधिकारी होता।" हम इन "व्यक्तियों के समूह" को आज के संसार के सब राजाओं का समूह मान लें। तब हमारे लेखक के नियमानुसार "उनमें से एक ही को सब का राजा बनने का प्राकृतिक अधिकार होगा क्योंकि वह आदम का अगला उत्तराधिकारी होगा।" यह राजाओं का पद और प्रजा का आज्ञापालन स्थापित करने का अनोखा तरीका है। इससे संसार में शासन करनेवाले सैकड़ों या हजारों राजा, उस राजा के विरुद्ध जिसे हमारे लेखक के आधार पर सत्ता प्राप्त होगी, दावा करेंगे और अपने पद को उसके बराबर ही श्रेष्ठ मानेंगे। यदि "उत्तराधिकारी" के इस अधिकार का कुछ महत्त्व है, यदि यह अधिकार हमारे लेखक के अनुसार दैव विधान पर आधारित है, तो क्या सभी उच्चतम और निम्नतम व्यक्ति—उसके अधीन न होने चाहिए? क्या जो राजा बिना आदम के उत्तराधिकारी हुए अपने पद पर आसीन हैं, जिन्हें अपनी प्रजा से आज्ञापालन का अधिकार प्राप्त है, उन्हें इसी आधार पर दूसरे के प्रति आज्ञापालन करना आवश्यक नहीं है? यदि संसार के शासनों का आधार "आदम का उत्तराधिकारी" होना नहीं है, तो इस आधार से प्रारम्भ करना ही व्यर्थ है क्योंकि, आदम का उत्तराधिकारी होना या न होना, उन्हें राजा का पद प्रदान नहीं करता। यदि जैसे हमारा लेखक कहता है, संप्रभुता का सच्चा आधार ही आदम का उत्तराधिकार है, तो सर्वप्रथम आदम के सच्चे उत्तराधिकारी को ढूंढ़ना चाहिए और उसे राजसिंहासन पर आसीन करना चाहिए तथा संसार के सब राजाओं को उसके लिए

अपने सिंहासन त्याग देने चाहिए, क्योंकि उनका, अपनी प्रजा की तरह, कोई सच्चा अधिकार नहीं है।

१०५. क्योंकि यदि आदम के उत्तराधिकारी का समस्त मानव जाति पर राजा होने का प्राकृतिक अधिकार, वैधानिक राजा के लिए आवश्यक नहीं है, तब बिना इस अधिकार के भी वैधानिक राजा हो सकते हैं और राजा, उनके पद, तथा उनकी सत्ता इस पर निर्भर नही होती; या फिर, केवल एक को छोड़कर और कोई वैधानिक राजा नहीं हो सकता और उसे प्रजा से आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार नहीं हो सकता। या तो आदम के उत्तराधिकारी होने के कारण ही राजाओं को राजसिंहासन तथा प्रजा का आज्ञा पालन प्राप्त हो सकता है, और तब केवल एक ही राजा हो सकता है, तथा शेष सब प्रजा होने के कारण दूसरे व्यक्तियों से, जो उन्हीं के समान प्रजा है, आज्ञापालन प्राप्त नहीं कर सकते, या राजाओं के शासन का और उनके प्रजा का आज्ञापालन प्राप्त करने का आधार आदम का उत्तराधिकार नहीं है और इसके बिना भी राजा राजा हो सकते हैं। अतः आदम का उत्तराधिकारी होने से संप्रभुता का प्राकृतिक अधिकार शासन और आज्ञा पालन के लिये उपयोगी नहीं है। यदि राजाओं को बिना आदम का उत्तराधिकारी हुए आधिपत्य और प्रजा की आज्ञा पालन प्राप्त करने का अधिकार है तो इस आधार की क्या आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना ही हमें आज्ञापालन करना पड़ता है। यदि राजाओं को यह अधिकार प्राप्त नहीं है, तो हमें उनकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक नहीं है और उन्हें हमारे ऊपर शासन करने का अधिकार नहीं है। जब तक हमारा लेखक या उसकी ओर से और कोई, आदम के सच्चे उत्तराधिकारी को नहीं ढूँढ़ दिखाता, तब तक मैं किसी की आज्ञा मानने को बाध्य नहीं हूँ और हम सब स्वतन्त्र हैं। यदि आदम का एक ही उत्तराधिकारी हो सकता है, तो संसार में एक ही वैधानिक राजा हो सकता है और जब तक यह निश्चय नहीं हो जाता कि कौन यह उत्तराधिकारी है, तब तक किसी की अन्तरात्मा उसे आज्ञापालन के लिये बाध्य नहीं करेगी; यदि आदम के एक सें अधिक उत्तराधिकारी हो सकते हैं; तो सभी उसके उत्तराधिकारी हैं और तब सभी को राजकीय सत्ता का अधिकार है। क्योंकि यदि दो पुत्र एक साथ उत्तराधिकारी हो सकते हैं तो सब पुत्र समान रूप से उत्तराधिकारी होंगे और इस तरह सब उत्तराधिकारी है, क्योंकि सब आदम के पुत्र या पुत्रों के पुत्र है। उत्तराधिकारी के अधिकार का इन दो कथनों में कोई मध्य स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि इससे या तो एक ही व्यक्ति राजा हो सकता है या सब राजा हैं, और इनमें से आप चाहे जो चुने, शासन और आज्ञापालन के बन्धन नष्ट हो जाते

हैं। क्योंकि यदि सब व्यक्ति उत्तराधिकारी हैं तो वे किसी के आज्ञा-पालन के लिए बाध्य नहीं हैं और यदि केवल एक उत्तराधिकारी है तो जब तक उसका पता नहीं चल जाता और उसका पद प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक कोई भी किसी की आज्ञा का पालन करने को बाध्य नहीं है।

अध्याय ११

उत्तराधिकारी कौन है ?

१०६. आदि काल से, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिसने मानव जाति को चिन्तित कर रखा है और जो उन अधिकांश अनिष्टों का कारण है जिनसे नगर तबाह हो गये, देश वीरान हो गये और संसार की शान्ति नष्ट हो गयी, यह नहीं है कि संसार में सत्ता होनी चाहिए या यह सत्ता कहाँ से आयी, वरन् यह है कि यह सत्ता किसे प्राप्त होनी चाहिए। चूँकि इसके समाधान का महत्त्व राजाओं की सुरक्षा और उनके राज्यों की शान्ति और समृद्धि से कम नहीं है, अतः राजनीति के लेखक के लिए इस प्रश्न को हल करने में बहुत सावधानी आवश्यक है और इसके उत्तर में उसे निश्चित होना चाहिए। यदि यही प्रश्न विवादग्रस्त रहेगा तो शेष का कुछ महत्त्व न होगा। यदि हम सत्ता को निरंकुशता की चमक-दमक तथा आकर्षण से सुसज्जित कर दें और यह न बतलावें कि इस सत्ता का किसे अधिकार है तो इससे मनुष्य की प्राकृतिक महत्वाकांक्षा को और प्रोत्साहन प्राप्त होगा जिसकी पहले ही स्वभावतः अत्यधिकता की ओर प्रवृत्ति है। अतः इससे मनुष्यों का सत्ता के लिए परस्पर संघर्ष और बढ़ जायगा तथा निरन्तर अव्यवस्था और स्पर्धा की स्थायी नींव पड़ जायगी, शान्ति और सुव्यवस्था की नहीं, जो शासन का कार्य तथा मानव समाज का उद्देश्य है।

१०७. यह हमारे लेखक के लिए और भी आवश्यक है, क्योंकि उसने यह निश्चित रूप से कहकर कि "राजकीय सत्ता, दैव व्यवस्था द्वारा निर्धारित है," उस सत्ता तथा उसके हस्तान्तरण के साधन को पवित्रता प्रदान की है, जिसके कारण जिस व्यक्ति को यह दैव अधिकार द्वारा प्राप्त हो, उससे कोई शक्ति, कोई परिस्थिति उसे नहीं हटा सकती, कोई आवश्यकता या उपाय दूसरे व्यक्ति को उसके स्थान पर स्थापित नहीं कर सकता। क्योंकि यदि "राजकीय सत्ता दैव व्यवस्था द्वारा निर्धारित है और आदम के "उत्तराधिकारी" को दी गयी है, जैसा हमने पिछले अध्याय में देखा, तो हमारे लेखक के अनुसार किसी भी व्यक्ति का राजा बनना, जो आदम का उत्तराधिकारी न हो, उतना ही बड़ा अधर्म होगा जितना यहूदियों में ऐसे व्यक्ति का "पुरोहित" बनना, जो आरौन (Aaron) का वंशज न हो। पुरोहित का पद "सामान्यतः दैव व्यवस्था द्वारा" आरौन के वंश के लिए ही निर्धारित है उसे केवल आरौन के वंशजों को छोड़कर

कोई प्राप्त नहीं कर सकता। अतः आरौन के वंश का ध्यानपूर्वक अनुसरण किया गया और उससे ऐसे व्यक्ति निश्चयपूर्वक ज्ञात हो गये है जिन्हें पुरोहित के पद का अधिकार है।

१०८. अतः हम देखें कि लेखक किस युक्ति से हमें बतलाता है कि "उत्तराधिकारी" कौन है जिसे "दैव व्यवस्था द्वारा, सब मनुष्यों का राजा बनने का अधिकार है।" हमें इसका सर्वप्रथम उल्लेख उसके इन शब्दों में मिलता है, "चूँकि सन्तान पर यह आधिपत्य, समस्त राजकीय सत्ता का आधार है और स्वयं दैव व्यवस्था द्वारा स्थापित है, अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजकीय सत्ता केवल सामान्य रूप से ही दैव व्यवस्था पर आधारित नहीं है, वरन् वह निश्चित रूप से ज्येष्ठतम दम्पत्ति (Eldest Parents) में निर्धारित है। "ऐसे महत्त्वपूर्ण मामलों को स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए जिसमें संदेह और अनिश्चय की सम्भावना न रहे। मेरे विचार से, भाषा में जन्म जाति सम्बन्ध और आत्मीय जनों के मध्य सम्बन्धों के लिए स्पष्ट शब्द है। अतः अच्छा होता यदि हमारा लेखक यहाँ जरा अधिक स्पष्ट शब्दों का प्रयोग करता जिससे हमें पता चल सकता कि "दैव व्यवस्था" द्वारा सत्ता किसमें निर्धारित की गयी है, या कम-से-कम वह हमें यह तो बतलाता कि 'ज्येष्ठतम दम्पत्ति' से उसका क्या अभिप्राय है। यदि लेखक को और उसके परिवार के "ज्येष्ठतम दम्पत्ति" को अनुदान द्वारा भूमि प्राप्त होती, तो उसे इसकी व्याख्या की आवश्यकता होती और यह तो शायद ही पता चलता कि उसके बाद यह सम्पत्ति किसे प्राप्त होगी।

१०९. स्पष्ट भाषा में—और ऐसे निबन्ध में स्पष्ट भाषा का प्रयोग निश्चय ही अपेक्षित है,—"ज्येष्ठतम दम्पत्ति" का अभिप्राय या तो उन ज्येष्ठतम पुरुषों और स्त्रियों से हो सकता है जिनके सन्तान हैं, या, उनसे हो सकता है जो सबसे अधिक काल से सन्तान वाले हैं। तब हमारे लेखक के अनुसार ऐसे माता-पिता को, जो संसार में सबसे अधिक काल से सन्तान सम्पन्न रहे हैं या जिन्होंने सबसे अधिक काल तक सन्तान उत्पन्न की है", दैव व्यवस्था द्वारा "राजकीय सत्ता" का अधिकार होता। यदि इसमें कोई असंगति है तो हमारा लेखक उसका उत्तर दे। यदि मेरे विश्लेषण से उसके अर्थ भिन्न हैं, तो इसमें हमारे लेखक का दोष है, क्योंकि उसने स्पष्ट भाषा का प्रयोग नहीं किया है। इतना तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि "माता-पिता" के अर्थ केवल पुरुष उत्तराधिकारी से नहीं हो सकते, और 'ज्येष्ठतम दम्पत्ति' के अर्थ छोटे बच्चे से नही हो सकते जो शायद किसी समय सच्चा उत्तराधिकारी हो सकता हो, यदि ऐसा उत्तराधिकारी सम्भव हो। अतः यदि हम मान भी लें कि "राजकीय सत्ता" को "दैव व्यवस्था

ने निर्धारित किया है", फिर भी हम अन्धकार में ही हैं कि यह सत्ता किसे प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो ऐसी दैवी नियुक्ति हुई ही न हो, या हमारे लेखक ने उसका स्पष्ट निर्देशन ही न किया हो। "ज्येष्ठतम दम्पत्ति" का उल्लेख करने से तो हमें और भी नहीं पता चलता कि "दैव व्यवस्था" द्वारा "राजकीय सत्ता" पर किसे अधिकार मिला यह उन्हें मालूम न हो जिन्होंने कभी उत्तराधिकार का नाम तक न सुना हो, तथा जिनसे हमारे लेखक के लेख भरे पड़े हैं। यद्यपि उसके लेखों का मुख्य उद्देश्य उनकी आज्ञा का पालन कराना सिखाना है, जिनका इसे अधिकार है, और जो अधिकार लेखक के अनुसार वंशानुक्रम प्राप्त होता है। परन्तु यह वंशानुक्रम अधिकार किसे प्राप्त है, इसके उत्तर में वह इतना अस्पष्ट है कि उसके लेखों से कोई यह जान नहीं सकता।

११०. यह अस्पष्टता सर रॉबर्ट की भाषा की कमी के कारण नहीं आ सकती, क्योंकि सर रॉबर्ट लेखन शैली की कला में इतने निपुण हैं कि जो कुछ वह कहने का निश्चय करते हैं, उसे स्पष्टतया कहते हैं। अतः मुझे आशंका है कि दैव व्यवस्था के अनुसार उत्तराधिकार का नियम स्थापित करना कठिन देखकर, और उसे उद्देश्य पूर्ति में अनुपयुक्त देखकर, या राजाओं के पदों के प्रमाण और पुष्टि में ऐसे नियमों का योग न देखकर, उन्होंने सन्दिग्ध और व्यापक शब्दावली का प्रयोग करना ही उचित समझा। हमारे लेखक के कथन शायद उन्हें बुरे न लगें जो उन्हें सुनना चाहते हों, परन्तु वह आदम के "पितृत्व" के उत्तराधिकार का कोई स्पष्ट नियम प्रस्तुत नहीं करते जो मनुष्यों की अन्तरात्मा को इसका सन्तोषजनक उत्तर दे सके कि यह राजकीय अधिकार ऐसे किन व्यक्तियों को प्राप्त है जिनका वे आज्ञापालन करें।

१११. अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि लेखक 'उत्तराधिकार', आदम का "उत्तराधिकारी", "अगला उत्तराधिकारी", "सच्चा उत्तराधिकारी" को इतना महत्त्व दे, और हमें यह न बतलाये कि "उत्तराधिकारी" से उसका क्या अभिप्राय है और "अगले" या "सच्चे उत्तराधिकारी" को जानने का क्या साधन है। जहाँ तक मुझे याद है, उसने इस समस्या पर निश्चित रूप से कुछ नहीं लिखा, और जब कभी यह प्रश्न उसके लेख में आ जाता है तो वह उसके लिए बड़ी सतर्कता से सन्दिग्ध शब्दावली का प्रयोग करता है। यद्यपि यह इतना महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि इसका समाधान हुए बिना, शासन और आज्ञापालन का उसका सारा सिद्धान्त निरुद्देश्य हो जाता है, और इतने परिश्रम से स्थापित "पितृत्व के अधिकार" का किसी के लिए उपयोग नहीं रह जाता। अतः वह कहता है, "सत्ता का व्यापक रूप ही नहीं, परन्तु उसका केवल राजतन्त्र मात्र में सीमित होना और उसका व्यक्तिविशेष में स्थापित होना, और आदम के वंश को प्राप्त होना; यह तीनों

दैव आदेश हैं। ईव या उसकी सन्तान आदम की सत्ता सीमित नही कर सकती, या आदम के साथ उसके उपभोग में सम्मिलित नहीं हो सकती, और जो कुछ भी आदम को दिया गया वह व्यक्तिगत रूप से उसे, और उसके द्वारा, उसकी भावी सन्तान को दिया गया।" यहाँ हमारा लेखक पुनः हमें यही बतलाता है कि "दैव आदेशानुसार" आदम की राजकीय सत्ता के उत्तराधिकारी कौन हैं ? "आदम का वंश और उसकी भावी सन्तान"—यह उत्तराधिकारी हैं। शायद हमारा लेखक ही समस्त मानव जाति से किसी एक व्यक्ति को बतला सके, जो आदम का "वंशज" और "भावी सन्तान" न हो यह कि आदम का अगला उत्तराधिकारी कौन हैं। परन्तु मेरी तो यह समझ में नही आता कि "आदम का साम्राज्य उसके वश और भावी सन्तान तक सीमित" करने से हमें उसका "एक उत्तराधिकारी" ढूँढ़ने में सहायता कैसे मिल सकती है। "इस सीमा" से शायद उनका श्रम बच जाय, जो आदम का वंशज पशुओ में ढूँढ़ने का प्रयास करें, परन्तु मनुष्यों मे "एक अगला उत्तराधिकारी" ढूँढ़ने में इससे सहायता नही मिलती, यद्यपि यह आदम की राजकीय सत्ता के उत्तराधिकार के प्रश्न का छोटा-सा और सरल उत्तर है कि आदम के वंश और भावी सन्तान को यह सत्ता प्राप्त होनी चाहिए, जिसका अर्थ सरल भाषा में यही होगा कि यह सत्ता किसी को भी प्राप्त हो सकती है जो आदम का "वंशज" या "भावी सन्तान" हो और हमारे लेखक के "दव आदेशानुसार" की सीमा में यह सत्ता किसी को भी प्राप्त हो सकती है। हमारा लेखक तो यहाँ तक कहता है कि "ऐसे उत्तराधिकारी अपनी सन्तान को ही नहीं, वरन् अपन भाइयों के भी शासक हैं।" इनसे तथा आगामी शब्दों से, जिन पर मैं शीघ्र ही विचार करूँगा, ऐसा प्रतीत होता है कि ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है। परन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है वह इसे सीधे शब्दों में कहीं नहीं कहता, किन्तु केन और जेकब के जो उदाहरण वह प्रस्तुत करता है, उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में उसका यही मत है कि जहाँ कई सन्तान हों वहाँ ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकार प्राप्त है। हम पहले ही इसे प्रमाणित कर चुके हैं कि ज्येष्ठाधिकार के आधार पर पितृत्व का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि पिता को अपनी सन्तान पर किसी प्रकार की सत्ता का प्राकृतिक अधिकार है, परन्तु बड़े भाई को अपने और भाइयों पर ऐसी सत्ता प्राप्त है, इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता है। जहाँ तक मुझे मालूम है, परमेश्वर या प्रकृति ने हीं कभी ज्येष्ठ पुत्र को ऐसे अधिकार नहीं दिये है और न विवेक ही भाइयों में ऐसी प्राकृतिक श्रेष्ठता को मानता है। मूसा (Moses) के विधान ने सम्पत्ति के विभाजन में ज्येष्ठ भाई को दुगुना अंश प्रदान किया है। परन्तु, इसका

प्रमाण हमें कहीं नहीं मिलता कि "प्रकृति के अनुसार" या "परमेश्वर की व्यवस्था" के अनुसार उसे श्रेष्ठता या आधिपत्य का अधिकार है। हमारे लेखक ने जो दृष्टान्त दिये हैं, उनसे यह पर्याप्त रूप से प्रमाणित नहीं होता कि ज्येष्ठ पुत्र को राजकीय सत्ता और आधिपत्य का अधिकार है, वरन् वे शायद इसके विपरीत ही संकेत करते हैं।

११२. पूर्वांकित स्थान में उसके शब्द यह हैं, "अतः हम देखते हैं कि परमेश्वर ने केन से उसके भाई आवेल के लिए ऐसा कहा, 'उसकी इच्छा तेरे अधीन होगी और तू उस पर राज्य करेगा'।" इसका मैं यह उत्तर दूँगा कि प्रथम परमेश्वर के केन से कहे गये इन शब्दों का कई व्यक्तियों ने पर्याप्त कारण के आधार पर हमारे लेखक से नितान्त भिन्न अर्थ लगाये हैं। दूसरे, इन शब्दों का चाहे जो अर्थ हो, पर यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि केन को, ज्येष्ठ होने के कारण, आवेल पर प्राकृतिक आधिपत्य प्राप्त हुआ, क्योंकि इन शब्दों में एक शर्त जुड़ी हुई है—"यदि तू अच्छा कार्य करे", जो इतनी व्यक्तिगत है कि चाहे इन शब्दों का जो भी अभिप्राय हो, उनका सम्बन्ध केन के व्यक्तित्व से ही हो सकता है, उसके जन्मजात अधिकार से नहीं। और इसके आधार पर, सामान्य रूप से, ज्येष्ठ पुत्र को आधिपत्य नही मिलता। इसके पहले आवेल को "निजी आधिपत्य के अधिकार के आधार पर विशिष्ट क्षेत्र प्राप्त हुए थे, इसे हमारा लेखक स्वयं स्वीकार करता है। यदि "दैव व्यवस्था" के अनुसार केन को ही अपने पिता की समस्त सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई, तो उसके विपक्ष में आबेल को यह क्षेत्र प्राप्त नहीं हो सकते। तीसरे, यदि इसे परमेश्वर द्वारा ज्येष्ठ पुत्राधिकार और बड़े भाइयों को सामान्य रूप से आधिपत्य प्रदान करना माना जाय, तो इसमें सब भाइयों को अन्तर्हित होना चाहिए। इस समय तक आदम के इन दो से अधिक पुत्र उत्पन्न हो चुके होंगे, क्योंकि आदम ही सारे संसार को आबाद करनेवाला था। परन्तु यहाँ आबेल का भी नाम नहीं आता, और मूल उद्धरण में इन शब्दों का उसके लिए प्रयोग किया जाना मुश्किल से स्वीकार किया जा सकता है। चौथे, इतने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आधार धर्मग्रन्थ का इतना संदिग्ध और अस्पष्ट उद्धरण नहीं माना जा सकता जिसके भिन्न अर्थ सम्भव हों। चूँकि, जब प्रमाणित करने का आधार ही संदेहोत्पादक है तो वह अच्छा प्रमाण नहीं माना जा सकता, विशेषतया जब धर्मग्रन्थ में और किसी स्थान पर इसके समर्थन में कुछ नही मिलता।

११३. उसके बाद लेखक लिखता है—"जब जेकब ने अपने भाई का जन्मजात अधिकार खरीद लिया, तो आइज़क ने उसे यों आशीर्वाद दिया, 'तू अपने भाइयों का शासक हो और तेरी माँ की सन्तान तेरे सामने नत मस्तक हो।' लेखक ने जन्मजात

आधिपत्य पाने का यह एक और अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह कोई साधारण तर्क नहीं है कि राजाओं के प्राकृतिक अधिकार के प्रमाण में, जो किसी भी प्रकार के अनुबन्ध के विरुद्ध है, ऐसा उदाहरण दिया जाय जो स्वयं लेखक के अनुसार अनुबन्ध पर पूर्णतया आधारित हो और आधिपत्य छोटे भाई को प्रदान करे। अन्यथा, क्रय-विक्रय अनुबन्ध न माने जायें, परन्तु लेखक ने लिखा है "जब जेकब ने अपने भाई का जन्मजात अधिकार खरीद लिया।" परन्तु इन सबको छोड़कर हम इतिहास पर विचार करें और देखें कि लेखक उसका क्या प्रयोग करता है। हमें उसमें निम्न लिखित त्रुटियाँ मिलेंगी—

प्रथम, हमारे लेखक ने ऐसा लिखा है मानो आइज़क ने जेकब को "जन्मजात अधिकार" खरीदने पर तत्काल यह आशीर्वाद दिया, क्योंकि उसने लिखा है, "जब जेकब ने खरीदा" तब "आइज़क ने उसे आशीर्वाद दिया।" यह स्पष्टतः धर्मग्रन्थ के विपरीत है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों घटनाओं के बीच में काल का अन्तर था, और यदि जिस क्रम में कथा लिखी हुई है, वैसी ही हम स्वीकार करें तो यह अन्तर काफी बड़ा प्रकट होता है। आइज़क का गरार (Gerar) में प्रवास और अबि-मेलिख (Abimelech) के साथ व्यापार (जेनेसिस २५) बीच में आते हैं। रेबेका (Rebecca) उस समय सुन्दर, अतः नवयुवती थी। परन्तु जिस समय आइज़क ने जेकब को आशीर्वाद दिया, वह बूढ़ा और निर्बल था। और इसाऊ ने भी जेकब के विरुद्ध शिकायत की है (जेनेसिस २७.३६) कि "दो बार" उसने उसके स्थान पर अधिकार कर लिया था। वह कहता है, "उसने मेरे जन्मजात अधिकार का अपहरण कर लिया, और देखो, जो वरदान मुझे मिला था, उसका भी वह अपहरण कर रहा है।" इन शब्दों से, मेरे विचार से, समय का अन्तर और कार्य की विभिन्नता का बोध होता है।

दूसरे, हमारे लेखक के कथन में दूसरी त्रुटि यह है कि लेखक के अनुसार आइज़क, जेकब को "आशीर्वाद" देकर उसे, "अपने भाइयों का शासक" इसलिए नियुक्त करता है, क्योंकि उसे "जन्मजात अधिकार" था। हमारे लेखक ने यह उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिए दिया है कि जिसे "जन्मजात अधिकार" हो, उसे "अपने भाइयों का शासक" बनने का अधिकार है। परन्तु धर्मग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि आइज़क ने जेकब के जन्मजात अधिकार खरीदने पर कुछ महत्त्व नहीं दिया, वरन् अपने आशीर्वाद देते समय उसने जेकब को इसाऊ समझकर आशीर्वाद दिया। इसाऊ ने भी "जन्मजात अधिकार" और "आशीर्वाद" में कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं समझा, क्योंकि वह कहता

है, "उसने दो बार मेरा स्थान ले लिया; उसने मेरे जन्मजात अधिकार का अपहरण कर लिया और देखो, जो वरदान मुझे मिला था, उसका भी वह अपहरण कर रहा है।" यदि "भाइयों पर शासक बनने" का यह आशीर्वाद "जन्मजात अधिकार" के कारण ही प्राप्त होता, तो इसाऊ इसे धोखे का दूसरा उदाहरण न कहता। जेकब को इसाऊ के "जन्मजात अधिकार" खरीदने पर, इस अधिकार के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि यदि इन शब्दों से आधिपत्य का अभिप्राय है, तो वह "जन्मजात अधिकार" के कारण प्राप्त नहीं हुआ।

११४. उस समय उत्तराधिकारी को परिवार पिताओं की सत्ता उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं होती थी वरन्, केवल उनकी सम्पत्ति का अधिकांश भाग ही प्राप्त होता था, यह जेनेसिस २१.१० से स्पष्ट है। क्योंकि सारा (Sarah) आइज़क को उत्तराधिकारी मानकर कहती है, "इस दासी और इसके पुत्र को निकाल दो, क्योंकि इस दासी का पुत्र मेरे पुत्र के साथ उत्तराधिकारी नहीं होगा।" इसके अर्थ यही हो सकते कि उसे, अपने पिता की मृत्यु पर पिता की सम्पत्ति में बराबर भाग का अधिकार न हो और वह अपना हिस्सा अभी लेकर चला जाय। अतः हम पढते हैं। (जेनेसिस २५.५.६) "जो कुछ भी एब्राहम के पास था वह उसने आइज़क को दिया और अपनी रखैल स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों को एब्राहम ने उपहार देकर अपने पुत्र आइज़क के जीवन काल में ही बिदा कर दिया।" चूंकि एब्राहम ने अपने अन्य सब पुत्रों को उनका अंश देकर बिदा कर दिया, अतः उसकी सम्पत्ति का अधिकांश भाग, जो उसने बचाकर रखा था, आइज़क को उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी होने के कारण प्राप्त हुआ। परन्तु उत्तराधिकारी होने के कारण आइज़क को अपने "भाइयों पर आधिपत्य" प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि यदि उसके पास ऐसा आधिपत्य होता तो सारा उसके एक दास को क्यों चले जाने के लिए कहती, जब उसके जाने से उसकी प्रजा का एक सदस्य कम हो जाता।

११५. अतः विधान के अनुसार "जन्मजात अधिकार" से पिता की सम्पत्ति में दुगुना भाग मिलने के अलावा और कोई विशेषाधिकार प्राप्त नही होता था। मोज़ेज के पूर्व, परिवार-पिता के काल में, जहाँ से हमारा लेखक अपने उद्धरण प्रस्तुत करता है, ऐसा कोई विचार नहीं था कि जन्मजात अधिकार के आधार पर आधिपत्य या साम्राज्य प्राप्त होता हो, या अपने भाइयों के ऊपर पितृत्व के अधिकार या राजकीय सत्ता प्राप्त होती हो। यदि किसी को यह आइज़क और इस्माइल (Ishmael) की कथा से स्पष्ट नहीं होता, तो वह १ क्रोनिकल ५.१२ देखे और वहाँ उसे यह शब्द

मिलेंगे, " रयूबेन (Reuben) ज्येष्ठ पुत्र था, परन्तु उसने अपने पिता की शैय्या को अपवित्र किया, अतः उसका जन्मजात अधिकार इजराइल के पुत्र जोज़ेफ के पुत्रों को दे दिया गया और वंशावलि जन्मजात अधिकार पर आधारित न हुई; क्योंकि जूडा (Judah) ने अपने भाइयों पर अधिकार स्थापित किया और उसी से मुख्य शासक उत्पन्न हुए। परन्तु यह जोज़ेफ का जन्मजात अधिकार था।" यह जन्मतः अधिकार क्या था यह जेकब, जोज़ेफ को आशीर्वाद देते समय (जेनेसिस ४८.२२) इन शब्दों में कहता है, "और मैंने तुझे, तेरे भाइयों से एक भाग अधिक दिया है, जो मैंने आमोराइट (Amorite) से अपने बाहुबल द्वारा छीना था।" इससे केवल यही नहीं स्पष्ट होता कि जन्मजात अधिकार से सम्पत्ति में केवल दुगुने अंश का अधिकार मिलता था, वरन्, धर्मग्रन्थ में, क्रॉनिक्लस (Chroniclas) के दो अंश स्पष्ट शब्दों में लेखक के सिद्धान्त के विपरीत हैं। वह यह दिखाते हैं, कि जन्मजात अधिकार से आधिपत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है : जोज़ेफ को जन्मजात अधिकार प्राप्त था, पर जूडा को आधिपत्य। परन्तु मेरे विचार से लेखक को शायद "जन्मजात अधिकार" का नाम ही इतना प्रिय है कि वह जेकब और इसाऊ का उदाहरण, उत्तराधिकारी का अपने भाइयों के ऊपर आधिपत्य प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत करता है।

११६. प्रथम, दैव विधान द्वारा ज्येष्ठ पुत्र को आधिपत्य प्राप्त होने के अधिकार को प्रमाणित करने के लिए यह अनुपयुक्त उदाहरण है, क्योंकि यहाँ सबसे छोटे पुत्र जेकब को यह आधिपत्य प्राप्त होता है, चाहे वह उसे किसी भी साधन से प्राप्त हुआ हो। यह हमारे लेखक के मत के विपरीत ही प्रमाणित करेगा कि "ज्येष्ठ पुत्र को आधिपत्य दैव व्यवस्था द्वारा प्राप्त नहीं होता" और फिर यह अपरिवर्त्तनशील हो जायगा।

यदि परमेश्वर या प्रकृति के विधान द्वारा ज्येष्ठ पुत्र और उसके उत्तराधिकारियों को ही निरंकुश सत्ता तथा साम्राज्य प्राप्त हो सकता है और वही सर्वोच्च सम्राट् बन सकते हैं और उनके शेष सब भाई दास होंगे; तो हमें संशय है कि ज्येष्ठ पुत्र को इस सत्ता को इस तरह त्यागने का अधिकार होगा जिससे उसकी भावी सन्तान को हानि हो। लेखक स्वयं कहता है, "ऐसे अनुदान और वरदानों को, जिनका मूल आधार परमेश्वर और प्रकृति में है, मनुष्य की कोई निम्न कोटि की सत्ता सीमित नहीं कर सकती या उनके विपरीत कोई विधान नहीं हो सकता।"

११७. दूसरे, हमारे लेखक ने जहाँ से यह उद्धरण लिया है (जेनेसिस २७,२९), उसका सम्बन्ध एक भाई के दूसरे भाई पर आधिपत्य से नहीं है, और न इसाऊ की

जकब के प्रति अधीनता से है। यह इतिहास में स्पष्ट है कि इसाऊ कभी जेकब के अधीन नहीं था, वरन्, माउण्ट सीर (Mount Seir) पर अलग रहता था जहाँ उसने विशिष्ट जाति और शासन की स्थापना की थी तथा स्वयं उसका राजा था—वैसा ही, जसा जेकब अपने परिवार में था। उसमें "तेरे भाई" और "तेरी माता के पुत्र" शब्दों से आक्षरिक रूप में इसाऊ या उसके ऊपर जेकब के वैयक्तिक आधिपत्य का अर्थ कभी नहीं हो सकता। आइज़क "पुत्रों" और "भाइयों" का प्रयोग आक्षरिक अर्थ में कभी नहीं कर सकता था, क्योंकि उसे मालूम था कि जेकब के केवल एक ही भाई है। इन शब्दों का अपने आक्षरिक अर्थ से भिन्न अभिप्राय है, और इनसे जेकब को इसाऊ के ऊपर कोई आधिपत्य प्राप्त नहीं होता। यह हमें धर्मग्रन्थ की कथा से पता चलता है (जेनेसिस ३२)। जेकब कई बार इसाऊ को अपना "संप्रभु" और स्वयं को उसका सेवक कहता है; (जेनेसिस ३३) उसने इसाऊ को सात बार पृथ्वी तक सर झुका कर प्रणाम किया।" अब हमारे पाठक स्वयं निर्णय करें कि क्या इसाऊ जेकब की प्रजा था (और हमारे लेखक के अनुसार सब प्रजा दास होती है) और जन्मजात अधिकार से जेकब उसका संप्रभु सम्राट् था? क्या पाठक इसे विश्वास करेंगे कि आइज़क के ये शब्द, "अपने भाइयों का सम्राट् बन और तेरी माता के पुत्र तुझे प्रणाम करे" जेकब को इसाऊ के ऊपर, उससे प्राप्त जन्मजात अधिकार के आधार पर, संप्रभुता प्रदान करते हैं?

११८. जो भी जेकब और इसाऊ की कथा पढ़ेगा उसे यही पता चलेगा कि अपने पिता की मृत्यु के बाद, दोनों में से किसी को एक दूसरे पर कोई अधिकार या सत्ता प्राप्त नहीं हुई। वे भाइयों की तरह, मित्रता तथा समान भाव से रहते थे। वे न अपने भाई के संप्रभु थे और न दास, वरन् एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। वे दोनों विशिष्ट परिवारों के पिता थे, अलग-अलग रहते थे और एक का दूसरे पर शासन नहीं था। उन्हीं के आधार पर दो विशिष्ट शासनों की अधीनता में दो विशिष्ट जातियों का प्रारम्भ हुआ। अतः आइज़क के इस आशीर्वाद का जिसके आधार पर हमारा लेखक बड़े भाई का आधिपत्य स्थापित करता है, वही अभिप्राय था, जो परमेश्वर ने रिबेका से कहा था (जेनेसिस २५.२३) "तेरे गर्भ में दो जातियाँ है और तेरे गर्भ से दो भिन्न जातियाँ पृथक् होंगी; एक जाति दूसरी से शक्तिशाली होगी और बड़ा छोटे की सेवा करेगा।" इसी प्रकार, जेकब ने जूडा को आशीर्वाद दिया (जेनेसिस ४९) और उसको राजदण्ड और आधिपत्य प्रदान किया। इससे हमारा लेखक यह भी निष्कर्ष निकाल सकता था कि तीसरे पुत्र को अपने भाइयों पर आधिपत्य तथा अधिकार प्राप्त होता है, और आइज़क

के इस आशीर्वाद से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि वह जेकब को प्राप्त हुआ। यह दोनों आशीर्वाद भावी सन्तान के प्रति भविष्यवाणी के रूप में थे और उनको आधिपत्य का उत्तराधिकार प्रदान नहीं करते थे। हमारे लेखक के पास केवल यही दो, केवल दो, महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं जिनसे वह यह प्रमाणित करता है कि "उत्तराधिकारी अपने भाइयों के अधिपति होते हैं।" प्रथम, क्योंकि परमेश्वर केन से कहता है (जेनेसिस ४) कि किसी प्रकार भी पाप उसमें आरोपित हुआ हो उसे इसको वशीकृत करना चाहिए अथवा वह उसे वशीकृत कर सकता है। क्योंकि सर्वश्रेष्ठ विद्वान् व्याख्याकार भी पाप शब्द समझते हैं और आबेल के नहीं और इसके इतने प्रभावशाली कारण प्रस्तुत करते हैं कि धर्मग्रन्थ के इतने संदिग्ध उद्धरण से हमारे लेखक के उद्देश्य के समर्थन में कुछ निश्चयपूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरे, चूंकि जेनेसिस २७ के उद्धरण में आइज़क भविष्यवाणी करता है कि जेकब की भावी सन्तान, इज़राइल के निवासियों को—इसाऊ की भावी सन्तान—इडोम के निवासियों—पर आधिपत्य प्राप्त होना चाहिए, इससे हमारा लेखक यह निष्कर्ष निकालता है—"उत्तराधिकारी अपने भाइयों के शासक हैं"। इसके औचित्य का पाठक स्वयं निर्णय करें।

११९. हमने देखा कि हमारे लेखक के अनुसार, आदम की राजकीय सत्ता या पितृत्व का अधिकार, उसकी भावी सन्तान को कैसे प्राप्त हुआ—उसके उत्तराधिकारी को अपने पिता की समस्त सत्ता उत्तराधिकार में प्राप्त हुई और उत्तराधिकारी अपने पिता की मृत्यु पर केवल "अपनी सन्तान का ही नहीं अपने भाइयों का भी", और अपने पिता की सब सम्पत्ति इत्यादि का, अपने पिता की भाँति सम्राट् बना और इस तरह अनादिकाल से चला आ रहा है। परन्तु यह उत्तराधिकारी कौन है, यह वह एक बार भी हमें नहीं बतलाता। ऐसे मार्मिक प्रश्न पर वह केवल इतना ही प्रकाश डालता है कि जेकब के उद्धरण में "जन्मजात अधिकार" शब्द का प्रयोग किया गया है जो इसाऊ से जेकब को हस्तान्तरित हुआ। इससे हम शायद यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उत्तराधिकारी से उसका तात्पर्य ज्येष्ठ पुत्र से होगा, यद्यपि मुझे याद नहीं आता कि कहीं भी उसने स्पष्ट रूप से ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का उल्लेख किया हो। सब जगह वह अनिश्चित शब्द "उत्तराधिकारी" का ही प्रयोग करता है। परन्तु यदि यह मान लें कि उसका अभिप्राय है कि ज्येष्ठपुत्र उत्तराधिकारी हो, (क्यों कि यदि ज्येष्ठ नहीं होगा, तो कोई कारण नहीं कि सब पुत्र समान उत्तराधिकारी न हों) और ज्येष्ठाधिकार के आधार पर उसे अपने भाइयों पर आधिपत्य प्राप्त हो, तो यह उत्तराधिकार के समाधान में पहला कदम होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई

कठिनाइयाँ हैं। जब तक वह यह न बतलाये कि ऐसी स्थिति में, जब सम्पत्ति के वर्त्तमान स्वामी के कोई पुत्र न हो, सच्चा उत्तराधिकारी कौन होगा ? इस विषय पर वह मौन है और शायद यह उसकी बुद्धिमत्ता ही है। इससे अधिक बुद्धिमानी और क्या हो सकती है, क्योंकि हमारा लेखक यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लेता है कि "वह व्यक्ति जिसके अधीन यह सत्ता है, और यह सत्ता तथा शासन का रूप, सब परमेश्वर के आदेश और दैव व्यवस्था के अनुसार है।" उससे व्यक्ति की सत्ता में सन्देह उत्पन्न करनेवाला कोई प्रश्न न करना चाहिए क्योंकि तब उसे निश्चयपूर्वक यह स्वीकार करना पड़ेगा कि परमेश्वर और प्रकृति ने ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ पूर्व निश्चय नहीं किया है। यदि हमारा लेखक यह नहीं बतला सकता कि प्राकृतिक अधिकार या परमेश्वर के स्पष्ट निश्चित विधान के अनुसार इस प्राकृतिक सम्राट् का जिसकी निःसन्तान मृत्यु हो गयी हो, अगला उत्तराधिकारी कौन हो जिसे उत्तराधिकार में वह साम्राज्य प्राप्त करने का अधिकार हो, जिसे उस सम्राट् ने इतने परिश्रम से स्थापित किया हो, तो हमारे लेखक का सारा परिश्रम ही व्यर्थ है। मनुष्य के विवेक को सन्तुष्ट करने के लिए और उनकी अधीनता और आज्ञापालन प्राप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है कि उन्हें यह बतलाया जाय कि ऐसे मूल अधिकार के आधार पर, जो मनुष्यों की इच्छा या किसी भी कार्य में श्रेष्ठ और पुरातन है, यह "पितृत्व का अधिकार" किसे प्राप्त है। केवल यह कहना निरर्थक है कि प्रकृति के अनुसार ऐसा "पितृत्व का अधिकार" है। जब तक मुझे यह न मालूम हो कि सत्ता का उचित अधिकारी कौन है, विशेषतया जब कई व्यक्ति इस अधिकार का दावा करें। मुझे इस ज्ञान से कुछ लाभ नहीं है कि सचमुच पितृत्व पर आधारित कोई ऐसी सत्ता है जिसकी आज्ञा का मुझे पालन करना चाहिए।

१२०. समस्या का मर्म यह है कि मैं अपने सच्चे सम्राट् और शासक का आज्ञा-पालन करने को कर्तव्यबद्ध हूँ और उसे ऐसा आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार है, अतः मुझे यह अवश्य मालूम होना चाहिए कि पितृत्व का अधिकार किसको प्राप्त है जिससे मै उसकी आज्ञा का पालन करने को तत्पर रहूँ। जो कुछ हमारे लेखक ने कहा है, उसे सच भी मान लिया जाय : "केवल सामान्य रूप से ही राजकीय सत्ता दैव व्यवस्था द्वारा निर्धारित नहीं है, परन्तु निश्चित रूप से वह ज्येष्ठतम दम्पत्ति को प्रदान की गयी है : और "केवल शासन की सत्ता या अधिकार ही नहीं, वरन् शासन करनेवाली सत्ता का रूप, और किस व्यक्ति को यह सत्ता प्राप्त हो, यह सब परमेश्वर के आदेश द्वारा निश्चित हैं।" परन्तु जब तक लेखक इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देकर हमें यह न बतला ये कि प्रत्येक परिस्थिति में "परमेश्वर द्वारा नियुक्त" यह

व्यक्ति कौन है, यह "ज्येष्ठतम दम्पत्ति" कौन है, तब तक राजकीय सत्ता के सब काल्पनिक सिद्धान्त निरर्थक होंगे, और व्यक्तियों को विवेकपूर्ण आज्ञापालन करने के आदेश में उनसे सहायता न मिलेगी। किसी को "पितृत्व का अधिकार" प्राप्त होने से उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य नहीं है क्योंकि वह आज्ञा नही दे सकता। इससे केवल व्यक्ति को ऐसे अधिकार मिलते हैं जो दूसरे के पास नही हैं, और उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त होने पर यह आवश्यक नहीं है कि जिसे यह प्राप्त हो, वह आज्ञा दे और दूसरे उसकी आज्ञा का पालन करें। ऐसा कहना उपहासजनक है कि मैं "पितृत्व के अधिकार" का आज्ञापालन करता हूँ, क्योंकि मैं जिसका आज्ञा-पालन करता हूँ उसे आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार इस आधार पर प्राप्त नहीं है। जब तक शासक मुझे यह प्रमाणित न कर दे कि उसे मेरे ऊपर शासन करने का दैव अधिकार है, और दैव अधिकार द्वारा संसार में ऐसी सत्ता स्थापित है, तब तक उसे मेरा आज्ञा-पालन प्राप्त करने का कोई दैव अधिकार नही हो सकता।

१२१. चूँकि लेखक किसी भी राजा को आदम का उत्तराधिकारी प्रमाणित करके उसके अधिकार को स्थापित नहीं कर पाया है, इसलिए उसका यह सिद्धान्त व्यर्थ और निरर्थक है, परन्तु लेखक सब समस्याओं का हल वर्तमान सम्पत्ति के आधार पर करने का प्रयास करता है जिससे वैधानिक और अवैधानिक राजा में कोई भेद नहीं रह जाता और दोनों को आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। लेखक के शब्द यह हैं जिन्हें याद रखना उचित होगा, "यदि कोई व्यक्ति सच्चे उत्तराधिकारी को हटाकर, उसके राज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर लेता है, उस स्थिति में, पितृत्व पर आधारित सत्ता के प्रति प्रजा से आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार भी परमेश्वर की व्यवस्था द्वारा उसे प्राप्त होता है।" मैं राज्य पर अन्यायपूर्वक अधिकार प्राप्त करनेवालों के प्रति लेखक के विचारों की उचित स्थान पर जाँच करूँगा। यहाँ मैं अपने पाठकों से यह अनुरोध करूँगा कि वे इस पर विचार करें कि इस राजनीतिक सिद्धान्त से राजाओं को क्या लाभ हो सकता है जब इसके अनुसार "पितृत्व का अधिकार"—शासन करने का अधिकार—केड (Cade) या क्रामवेल (Cromwell) को भी प्राप्त हो सकता है। चूँकि पितृत्व का अधिकार ही सब आज्ञा पालन प्राप्त करने के अधिकार का आधार है, अतः उन्हें भी वैधानिक राजाओं के बराबर इसी अधिकार के कारण प्रजा का आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार होगा। यदि हम यह मानें कि सब राजनीतिक सत्ता आदम की "दैव व्यवस्था" द्वारा प्राप्त पितृत्व का अधिकार है जो उसके वंशानुक्रम से चली आ रही है और यह न बतला सकें

कि यह उत्तराधिकारी कौन है, तो इस आपत्तिजनक सिद्धान्त से ऐसा निष्कर्ष अवश्यं-भावी है।

१२९. मेरे विचार से संसार में शासन स्थापित करने के लिए और किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा को आज्ञापालन को बाध्य करने के लिए यदि यह बतलाना आवश्यक है कि पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है, तो यह भी बतलाना उतना ही आवश्यक है कि (यदि हम लेखक के अनुसार यह मान लें कि सब सत्ता का आधार आदम का "पितृत्व का अधिकार" ही है) इस "सत्ता" का इस "पितृत्व" पर आधारित सत्ता का—अधिकार किसे प्राप्त होगा यदि जिसके पास यह सत्ता है, उसकी निःसन्तान मृत्यु हो जाय। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि मुख्य प्रश्न यही है, जिसका उत्तर देने का हमारे लेखक को कठिन प्रयास करना चाहिए; यद्यपि वह इसे कभी-कभी भूल जाता है कि आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार किन व्यक्तियों को है। संसार में "पितृत्व" पर आधारित कोई सत्ता है या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना यह मालूम होना कि यह सत्ता किसमें है, क्योंकि ऐसी सत्ता को—शासन के अधिकार को—चाहे जिस नाम से पुकारें, कोई चाहे उसे "पितृत्व", "राजकीय", "प्राकृतिक" या "प्राप्त", "सर्वोच्च पितृत्व" या "सर्वोच्च भ्रातृत्व" कहे; जब तक हमें यह न मालूम हो कि यह सत्ता किसे प्राप्त है इसका कोई महत्त्व नहीं है।

१२३. मैं यह पूछता हूँ कि इस "पितृत्व के सर्वोच्च अधिकार" के उत्तराधिकार में पुत्री के पुत्र का प्रथम अधिकार है या भाई के पुत्र का ? क्या ज्येष्ठ पुत्र के पुत्र का है, जो अभी बच्चा ही है, या छोटे पुत्र के पुत्र का जो वयस्क और योग्य है ? क्या चाचा के पूर्व पुत्री का अधिकार है ? क्या छोटी पुत्री के पुत्र का अधिकार पहले है या बड़ी पुत्री की पुत्री का ? रखैल से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार श्रेष्ठ है या पत्नी से उत्पन्न छोटे पुत्र का ? इन प्रश्नों पर विचार करने से न्याय के और कई प्रश्न खड़े होंगे। पत्नी और रखैल में क्या अन्तर है ? क्योकि यहाँ मानव और राजकीय विधान का कोई मूल्य नहीं है। यह भी पूछा जा सकता है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र मूर्ख है, तो भी क्या उसे बुद्धिमान् छोटे पुत्र की अपेक्षा इस "पितृत्व की सत्ता" का उत्तराधिकारी होना चाहिए ? ऐसे छोटे पुत्र को इस सत्ता से वंचित करना कितनी मूर्खता होगी ? और इसका निर्णय कौन करेगा ? क्या ऐसे मूर्ख के पुत्र को, जिसे अपनी मूर्खता के कारण शासन से वंचित कर दिया गया है, प्रथम अधिकार मिलेगा या उसकी पत्नी के भाई के पुत्र को, जिसके पास सत्ता हो। यदि मृत राजा की विधवा रानी के गर्भ में सन्तान हो, और कोई न

जानता हो कि पुत्र होगा या पुत्री, तो तब तक "पितृत्व का अधिकार" किसे मिलना चाहिए? यदि माँ के गर्भ से शल्य क्रिया द्वारा दो जुड़वा पुत्र हों, तो उनमें से कौन उत्तराधिकारी होगा? क्या सौतेली बहन का पहले अधिकार है या भाई की पुत्री का?

१२४. उत्तराधिकार में यह, और ऐसे ही और भी कई, संदेह खड़े हो सकते हैं। यह कोई व्यर्थ का सैद्धान्तिक अनुसंधान नही है, इतिहास में हम देखते हैं कि ऐसे प्रश्न राजाओं और साम्राज्य के उत्तराधिकार में उपस्थित हो चुके हैं। यदि हमारे पाठक ऐसे उदाहरण चाहते हैं तो हमें इसी द्वीप के दूसरे राज्य में कई प्रसिद्ध उदाहरण मिलेंगे और चूँकि उनका पैट्रिआर्कानिन मोनार्का (Patriachanon Monarcha) के प्रतिभाशाली और ज्ञानी लेखक का पूरा ज्ञान है, अत:मैं उन पर और कुछ नहीं कहूँगा जब तक हमारा लेखक अगले उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में सब सन्देहों का निवारण नहीं कर देता, और यह नहीं प्रमाणित कर देता कि वह स्पष्टतया प्राकृतिक विधान या परमेश्वर के प्रकटित विधान द्वारा स्थापित होता है, तब तक उसकी "राजतन्त्रीय" "निरंकुश", "सर्वोच्च" और "आदम का "पितृत्व का अधिकार" के, और उस सत्ता के वंशानुक्रम उत्तराधिकार के सब सिद्धान्त—जो सब स्वयं उसके सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं—संसार के एक भी वर्त्तमान राजा का पद निर्धारित नहीं कर सकते, वरन् सब राजाओं के पद अव्यवस्थित कर सकते हैं और सबके लिए सन्देह उत्पन्न कर सकते हैं। यदि हम अपने लेखक का यह कथन मान भी लें कि आदम के पास "पितृत्व पर आधारित सत्ता" थी, जिससे उसे "राजतन्त्रीय सत्ता" प्राप्त हुई और यह सत्ता (संसार की एकमात्र सत्ता) उसके "उत्तराधिकारियों को प्राप्त हुई" और संसार में इसके अलावा और कोई सत्ता नहीं है; परन्तु, इससे इस सन्देह का निवारण नहीं होता कि इस "पितृत्व पर आधारित सत्ता" का उत्तराधिकारी कौन है तथा आजकल वह किसे प्राप्त है, और जब तक यह ज्ञात न हो, तब तक कोई किसी की आज्ञा मानने को बाध्य नहीं है। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति मुझे ऐसे व्यक्ति की आज्ञा को पालन करने को कहेगा जिसे ऐसी सत्ता उतनी ही प्राप्त है जितनी मुझे। या यों कहिए कि मैं एक व्यक्ति की आज्ञा का पालन इसलिए करता हूँ क्योंकि उसे शासन करने का अधिकार है। यदि मुझसे यह पूछा जाय कि मुझे कैसे पता चला कि उसे शासन करने का अधिकार है तो मैं उत्तर दूँगा कि यह नहीं पता चल सकता कि उसे कोई भी अधिकार प्राप्त है। यदि मैं उसकी आज्ञा-पालन करने का कोई कारण नहीं जानता तो मैं उसका आज्ञापालन नहीं करता, और यदि कोई भी यह कारण नहीं जानता, तो उसका आज्ञापालन करना और भी कम आवश्यक है।

१२५. अतः आदम के "पितृत्व", उसकी सत्ता की महानता और उसको स्वीकार करने के औचित्य को इतने परिश्रम से स्थापित करने पर भी वर्तमान शासकों की सत्ता स्थापित करने में, और प्रजा द्वारा आज्ञापालन निर्धारित करने में कोई सहायता नहीं मिलती जब तक यह न बतलाया जा सके कि प्रजा को किसका आज्ञापालन करना चाहिए या जब तक यह न मालूम हो कि कौन शासन करेंगे और किसका आज्ञापालन करना चाहिए। आदम का "पितृत्व" और "राजतन्त्रीय सत्ता", जो उसके वंश में उत्तराधिकार से चली आ रही है, मानव जाति के शासन के लिए उतनी ही अनुपयोगी है जितनी उनकी आत्मा की शान्ति के लिए और स्वास्थ्य के लिए लेखक का यह कहना उपयोगी है कि आदम में पाप क्षमा करने की या रोग निदान करने की "शक्ति" थी जो दैव व्यवस्था द्वारा उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हुई है, परन्तु उत्तराधिकारी कौन है, इसका पता न हो। यदि कोई व्यक्ति हमारे लेखक के इस कथन पर विश्वास करके किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाये जो अपने को पुजारी या चिकित्सक कहता हो, और उससे क्षमा की आशा में, अपने सब पाप स्वीकार कर ले, या स्वास्थ्य की आशा में उससे चिकित्सा करवाये, या स्वयं ही यह कहकर इन कार्यों को करने लगे कि उसे आदम की क्षमा प्रदान करने की शक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है, या उसे आदम की चिकित्सा की शक्ति प्राप्त है, तो क्या यह उतना ही अविवेकपूर्ण कार्य न होगा जितना यदि कोई कहे कि मै आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त "पितृत्व की सत्ता" का आज्ञापालन कर रहा हूँ, विशेषतः जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि ऐसी सत्ता का केवल एक उत्तराधिकारी हो सकता है और वह उत्तराधिकारी अज्ञात है।

१२६. यह सच है कि राजाओं के उत्तराधिकार के कुछ मामलों का निर्णय करने का प्रयास विधि-वेत्ताओं ने किया है, लेकिन हमारे लेखक के सिद्धान्तानुसार उन्होंने ऐसे मामले में हस्तक्षेप किया है जो उनके क्षेत्र के बाहर है। क्योंकि यदि सब राजनीतिक सत्ता केवल आदम से ही प्राप्त हुई है और उसके उत्तराधिकारियों को "परमेश्वर के विधान" और "दैव व्यवस्था" द्वारा ही प्राप्त होती है, तो यह अधिकार सब शासनों से पूर्ववर्त्ती और सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्यों के विधान ऐसी सत्ता को निर्धारित नहीं कर सकते, जो स्वयं ही विधि और शासन का आधार है और जिसका केवल परमेश्वर और प्रकृति का विधान ही निर्णय कर सकते है। परमेश्वर और प्रकृति इस विषय में मौन हैं, अतः मेरे विचार से इस प्रकार का कोई अधिकार है ही नहीं जो वंशानुगत हस्तान्तरित होता आया हो। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि ऐसा अधिकार होता, तो भी वह हमारे लेखक के उद्देश्य की पूर्ति न कर पाता और जनता के लिए

शासन और राजाओं के आज्ञापालन के विषय उतने ही अन्धकार में रहते जितना ऐसा अधिकार न होने पर रहते, क्योंकि "दैव व्यवस्था" (यदि ऐसी कुछ व्यवस्था है) के अनुसार निश्चित विधान तथा अनुबन्ध की आवश्यकता नही रहती और ऐसे अनगिनत संदेह सरलता से समाप्त हो जाते है जो शायद वैसे न सुलझाये जा सकते। परन्तु यह कभी समझ में नहीं आ सकता कि कैसे यह दैव प्राकृतिक अधिकार, जो संसार में शान्ति और व्यवस्था के समान ही महत्त्वपूर्ण है, भावी सन्तान को बिना किसी स्पष्ट, प्राकृतिक और दैव नियम द्वारा प्राप्त हो सकता है। यदि राजकीय सत्ता के उत्तराधिकारी का "निर्धारण" "दैव व्यवस्था" द्वारा ही होता है, और इस "दैव व्यवस्था" द्वारा यह पता नहीं चलता कि यह उत्तराधिकारी कौन है, तो राजकीय शासन का सारा आधार ही समाप्त हो जाता है। यदि यह "पितृत्व की राजकीय सत्ता" "दैव अधिकार" द्वारा केवल निश्चित व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकती है तो वह अपने विवेक द्वारा या अनुबन्ध द्वारा, उसे किसी और को नहीं दे सकता। यदि केवल एक ही व्यक्ति को मानव जाति के आज्ञापालन का दैव अधिकार है तो जब तक कोई अपना अधिकार प्रमाणित न करे, वह आज्ञापालन प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता और न मनुष्यों का विवेक ही किसी और कारण से ऐसा आज्ञापालन करने को बाध्य हो सकता है। अतः यह सिद्धान्त वर्तमान समस्त शासनों को आमूल नष्ट कर देता है।

१२७. हमारा लेखक सम्राट् के पद की नींव सुदृढ़ बनाता है, सम्राट् "परमेश्वर के आदेश" और "दैव व्यवस्था" द्वारा शासन करता है; और यह भी विस्तार सहित बतलाता है कि वह सत्ता का उत्तराधिकारी है। परन्तु यह उत्तराधिकारी कौन है, इस विषय पर वह मौन है। अतः दैव व्यवस्था द्वारा ऐसे व्यक्ति को अधिकार प्राप्त होता है जिसे मालूम करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसके अर्थ यह हैं कि किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता। परन्तु, हमारा लेखक चाहे जो कहे, "दैव व्यवस्था" अधिकार का ऐसा असम्भव निर्धारण नहीं करती और न परमेश्वर ऐसा पवित्र विधान बना सकता है कि एक निश्चित व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त हों और फिर भी उस व्यक्ति का पता लगाने का कोई साधन न हो; या उत्तराधिकारी को सत्ता का दैव अधिकार प्राप्त हो और यह न बतलाया जाय कि उत्तराधिकारी कौन है ऐसा सोचना उचित प्रतीत होता है कि उत्तराधिकारी को "दैव व्यवस्था" से ऐसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं हुए और यह अनुचित प्रतीत होता है कि परमेश्वर उत्तराधिकारी को ऐसा अधिकार दे और उत्तराधिकारी कौन है, इस पर संदिग्ध तथा अनिश्चित रहे।

१२८. यदि परमेश्वर केनान (Canan) की भूमि एब्राहम को, और उसके बाद अन्य किसी को, बिना उसका वंश बतलाये, अस्पष्ट शब्दों में प्रदान करे, जिससे यह न पता चल सके कि यह "अन्य व्यक्ति" कौन है ? तो यह दृष्टान्त केनान की भूमि पर अधिकार निर्धारित करने में उतना ही निरर्थक और अनुपयोगी होगा, जितना राजसिंहासन प्राप्त करने के अधिकार का निर्धारण जिसमें आदम और उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों को साम्राज्य दिया गया, परन्तु यह न बतलाया गया कि उसका उत्तराधिकारी कौन होगा। जब तक उत्तराधिकार का नियम मुझे न बतलाया जाय, जिससे उत्तराधिकारी का पता चल सके, तब तक केवल "उत्तराधिकारी" शब्द से कोई स्पष्ट मतलब मेरी समझ में नहीं आता। परमेश्वर ने जब "दैव व्यवस्था" द्वारा यह स्थापित किया कि अपने "निकट सम्बन्धियों" से विवाह न हो, तो उसने केवल इतना कहना ही पर्याप्त नही समझा, "तुममें से कोई निकट सम्बन्धी से समागम न करे, और उसकी नग्नता का आवरण न हटाये; वरन्, उसने निश्चित नियम बनाये जिससे "दैव व्यवस्था" द्वारा वर्जित इन "निकट सम्बन्धियों" की परिभाषा होती है, अन्यथा ऐसे विधान से न मर्यादा स्थापित होती और न यह पता चलता कि उक्त "निकट सम्बन्धी" कौन है और यह विधान निरर्थक होता। परमेश्वर ने कहीं ऐसा नहीं कहा है कि अगला उत्तराधिकारी अपने पिता की सब सम्पत्ति और आधिपत्य को उत्तराधिकार में प्राप्त करेगा, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसने उत्तराधिकारी का कहीं निर्धारण नही किया है। जब एसा आदेश देने का उसका कभी अभिप्राय ही नहीं था, इस अर्थ में उसने कभी उत्तराधिकारी की कल्पना ही नहीं की, अतः हम यह आशा कैसे करें कि वह कहीं भी ऐसे व्यक्ति का निर्देश या नियुक्ति करेगा ? हम ऐसी आशा तब कर सकते थे, यदि ऐसा न होता। यद्यपि धर्मग्रन्थ में "उत्तराधिकारी" शब्द आता है, परन्तु ऐसा उत्तराधिकारी कोई नहीं है जैसा हमारे लेखक का अभिप्राय है—जो प्राकृतिक अधिकार से अपने पिता का सब कुछ, अपने भाइयों पर आधिपत्य सहित, उत्तराधिकार में प्राप्त करे। सारा को यह डर था कि यदि इस्माइल, एब्राहम की मृत्यु के बाद, उसकी सम्पत्ति में हाथ बँटाने को घर में रह गया तो यह दासी पुत्र आइज़क के साथ उत्तराधिकारी बन जायगा। अतः वह कहती है, "इस दासी और उसके पुत्र को निकाल दो क्योंकि इस दासी का पुत्र, मेरे पुत्र के साथ उत्तराधिकारी नही होगा।" परन्तु इससे लेखक के इस कथन का समर्थन नहीं किया जा सकता कि व्यक्तियो के प्रत्येक समूह में एक व्यक्ति ऐसा होता है जो आदम का "अगला" और "सच्चा उत्तराधिकारी" हो।

उसे उत्तराधिकार का विधान बतलाना आवश्यक था, परन्तु उसने उत्तराधिकारी का पता लगाने के लिए कोई नियम नहीं बतलाये हैं। अतः हम देखें कि धर्मग्रन्थीय इतिहास, जिस पर लेखक अपने शासन के सिद्धान्त को आधारित करने का दावा करता है, इस महत्त्वपूर्ण और मुख्य प्रश्न पर क्या कहता है।

१२९. हमारा लेखक अपनी पुस्तक के शीर्षक को ध्यान में रखते हुए, आदम की राजकीय सत्ता के उत्तराधिकार का इतिहास इन शब्दों से आरम्भ करता है, "परमेश्वर के आदेशानुसार आदम को समस्त संसार पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ था और जिसे उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त करने का अधिकार था उस पूर्ण सत्ता का उपभोग परिवार-पिताओं ने किया" इत्यादि। वह इसे कैसे प्रमाणित करता है कि परिवार-पिताओं को यह अधिकार उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, "जीवन और मृत्यु पर अधिकार", के विषय में लेखक कहता है, "हम देखते हैं कि पिता जूडा ने अपनी पुत्रवधू थामर (thamer) को वेश्यावृति के अपराध में मृत्युदण्ड दिया।" इससे प्रमाणित होता है कि जूडा के पास निरंकुश और संप्रभु सत्ता थी ?—"उसने मृत्यु-दण्ड दिया ?" केवल मृत्युदंड देने से ही संप्रभु सत्ता प्राप्त नहीं हो जाती। ऐसा दण्ड तो बहुधा निम्न श्रेणी के राजकीय अधिकारी भी देते हैं। जीवन और मृत्यु पर विधान बनाने की सत्ता, अवश्य संप्रभुता का लक्षण है। पर इन विधानों के अनुसार दण्ड देना अन्य व्यक्तियों का काम हो सकता है। अतः इससे उसकी संप्रभु सत्ता प्रमाणित नहीं होती। यह तो ऐसा ही कथन हुआ कि न्यायाधीश जैफरीज़ (Jafferis) ने मृत्यु दण्ड दिया, अतः उसे संप्रभु सत्ता प्राप्त थी।" परन्तु इसका शायद यह उत्तर दिया जाय कि "जूडा ने यह दण्ड दूसरे से प्राप्त अधिकार से नहीं दिया, अतः उसने स्वयं अपने अधिकार से दिया।" यह कौन जानता है कि उसको कोई अधिकार भी था या नहीं ? उग्र क्रोध से प्रेरित हो वह ऐसा कार्य कर सकता है, जो उसके अधिकार से बाहर हो। "जूडा को जीवन और मृत्यु पर अधिकार प्राप्त था" यह निष्कर्ष कैसे निकला ? "उसने इस अधिकार का प्रयोग किया—उसने थामर को मृत्युदण्ड दिया।" हमारा लेखक इसे बहुत अच्छा प्रमाण मानता है : चूंकि उसने ऐसा किया, अतः उसे ऐसा करने का अधिकार था। उसने उसके साथ समागम भी किया। इसी तर्क के आधार पर उसे इसका भी अधिकार था। यदि कुछ करने से ही उसे करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो हमारे लेखक के राजाओं की सूची में एबसालोम (Absalom) का नाम भी होना चाहिए, क्योंकि उसने अपने भाई एमनोन (Amnon) को मृत्युदण्ड दिया और प्रायः समान परिस्थिति में दिया और उसे कार्यान्वित भी कराया, यदि इतना ही जीवन और मृत्यु पर आधिपत्य प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त माना जाय।

यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि इससे संप्रभु सत्ता प्रमाणित होती है, तो प्रश्न होगा कि किसे "आदम की यह संप्रभुता, जो किसी भी राजा के निरंकुशतम आधिपत्य के समान ही विस्तृत और व्यापक है उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई ?" हमारे लेखक के अनुसार, संप्रभुता जूडा को प्राप्त हुई—जूडा, जो जेकब का छोटा पुत्र था और उसके पिता और बड़े भाई उस समय जीवित थे। यदि हम स्वयं लेखक के प्रमाण स्वीकार करें, तो एक छोटे भाई को, अपने पिता और बड़े भाइयों के जीवन काल में, आदम की राजतान्त्रिक सत्ता "उत्तराधिकार में" प्राप्त हो सकती है। यदि एक को इस प्रकार उत्तराधिकार प्राप्त हो सकता है तो सबको क्यों नहीं हो सकता ? यदि जूडा, अपने पिता और बड़े भाइयों के जीवन काल में ही, आदम का उत्तराधिकारी हो सकता था, तो इस उत्तराधिकार से किसको वंचित किया जा सकता है ? सभी, जूडा की भाँति, उत्तराधिकार द्वारा राजा बन सकते है।

१३०. युद्ध के क्षेत्र में, हम देखते हैं कि एब्राहम के अधीन, उसके ही परिवार के सदस्यों की ३१८ सैनिकों की सेना थी, और इसाऊ ने अपने भाई जेकब का ४०० सशस्त्र सैनिकों से सामना किया था। शान्ति के क्षेत्र में, एब्राहम ने अबीमेलीख (Abimelech), इत्यादि से सन्धि की थी। क्या एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है कि बिना आदम का उत्तराधिकारी हुए, उसके परिवार में ३१८ व्यक्ति हों ? वेस्ट इंडीज (West Indies) में एक उपनिवेशिक के पास इससे अधिक आदमी होते है, जिन्हें, यदि वह चाहे तो, सेना के रूप में संगठित करके वहाँ के आदिवासियों के विरुद्ध, उनके द्वारा की गयी किसी क्षति की पूर्ति के लिए आक्रमण कर सकता है; और यह सब वह "आदम के निरंकुश आधिपत्य का उत्तराधिकारी" हुए बिना कर सकता है। क्या यह उचित प्रमाण माना जाय कि सब सत्ता, "दैव व्यवस्था" द्वारा आदम के उत्तराधिकारी को ही प्राप्त होती है, और उपनिवेशिक की सत्ता भी "दैव विधान" से स्थापित हुई है, क्योंकि उसके परिवार को अपने सेवकों पर, जो उसी के घर में पैदा हुए है और उसी के धन से खरीदे गये हैं, ऐसी सत्ता प्राप्त है ? एब्राहम का दृष्टान्त भी ऐसा ही था। परिवार पिताओं के काल में धनी वर्त्तमान वेस्ट इंडीज की तरह, दास और दासियों को खरीद लेते थे और उनके वंश की वृद्धि द्वारा तथा नये क्रय द्वारा बहुत बड़े और विस्तृत परिवारों के स्वामी हो जाते थे। यद्यपि इनका उपयोग वे युद्ध या शान्ति काल में करते थे, परन्तु क्या ऐसा सोचा जा सकता है कि उन पर उनकी सत्ता आदम से उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त थी ? यदि कोई व्यक्ति अपने दुश्मन के विरुद्ध आक्रमण में एक घोड़े पर सवार होकर जा रहा हो जिसे उसने एक

मेले में खरीदा था तो क्या इससे यह प्रमाणित माना जायगा कि घोड़ के स्वामी को घोड़े पर "वह आधिपत्य प्राप्त है जो आदम को दैव आदेशानुसार समस्त संसार पर प्राप्त था और आदम से उसे उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त हुआ है ? क्योंकि परिवार पिता का अपने परिवार के सेवकों को युद्ध में ले जाने से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि परिवार पिताओं को यह आधिपत्य आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था ? दोनों में ही स्वामी की सत्ता का आधार एक ही है, यह सत्ता, दास या घोड़े के ऊपर केवल खरीदने से ही प्राप्त हुई थी। उत्तराधिकार से प्राप्त सत्ता को प्रमाणित करने के लिए मोल और धन से प्राप्त सत्ता का दृष्टान्त प्रस्तुत करना एक नया तरीका है।

१३१. "परन्तु युद्ध और सन्धि का अधिकार संप्रभुता का लक्षण है।" मान लीजिए यह राजनीतिक समाज के लिए सच है। क्या वेस्ट इंडीज़ में कोई व्यक्ति, जिसके पास उसके निजी मित्रों के पुत्र हों, या सेना दल हों, वेतन प्राप्त सैनिक हों, या धन द्वारा खरीदे दास हों, या इन सबका एकत्रित दल हो, तो क्या वह मौका आ जाने पर, युद्ध और सन्धि नहीं कर सकता और क्या वह "सन्धि की शर्तों की शपथ द्वारा पुष्टि नहीं कर सकता ?" क्या इसके लिए यह आवश्यक है कि वह उन सब व्यक्तियों का, जो उसके सहयोगी हैं, "संप्रभु और निरंकुश शासक" ही हो ? यदि यह सच है तो जहाजों के बहुत से मालिकों को और बहुत से उपनिवेशिकों को निरंकुश शासक के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वे सब ऐसा करते हैं। राजनीतिक समाजों में केवल सर्वोच्च सत्ता में ही युद्ध और सन्धि का अधिकार निहित है क्योंकि वही उस समाज का निर्देशन करती है, और जिसे उस समाज का निर्देशन प्राप्त नहीं है वह युद्ध या सन्धि नहीं कर सकती। राजनीतिक समाज में ऐसा निर्देशन केवल सर्वोच्च सत्ता को ही प्राप्त होता है। स्वेच्छाकृत समाज में, जिसे सहमति से ऐसी सत्ता प्राप्त होती है, वही युद्ध या सन्धि कर सकता है और ऐसी सहमति के आधार पर कई व्यक्ति अकेले अपने ही लिए युद्ध और सन्धि कर सकते हैं। युद्ध में विभिन्न पक्षों की संख्या का उतना महत्त्व नहीं है जितना ऐसे पक्षों की शत्रुता का है, जिनके समाधान के लिए कोई श्रेष्ठ सत्ता उपलब्ध न हो।

१३२. युद्ध और सन्धि द्वारा विद्रोही पक्ष से शत्रुता करने या समाप्त करने के अधिकार को छोड़कर और कोई सत्ता प्रमाणित नहीं होती। ऐसी सत्ता किसी को भी प्राप्त हो सकती है और यह आवश्यक नहीं है कि उसे इसके आधार पर 'राजनीतिक संप्रभुता' प्राप्त हो। अतः यह प्रमाणित नहीं माना जा सकता कि युद्ध और सन्धि करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति समाज का शासक है—सम्राट् तो और बड़ी बात है, क्योंकि

यदि ऐसा होता तो प्रजातन्त्र के शासक भी सम्राट् माने जाते क्योंकि वे भी राजतान्त्रिक शासनों की तरह युद्ध और सन्धि करते हैं।

१३३. यदि हम इसे एब्राहम की संप्रभुता का लक्षण मान भी लें, तो क्या इससे यह प्रमाणित होता है कि उसे आदम की समस्त संसार पर "संप्रभुता" उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी ? यदि ऐसा ही है तो निश्चय इसी तर्क से यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि दूसरों को भी "आदम का प्रभुत्व" उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है और फिर प्रजातन्त्र भी एब्राहम की तरह आदम के उत्तराधिकारी होंगे क्योंकि वे भी उसी की तरह "युद्ध और सन्धि" करते हैं। यदि आप यह कहें कि आदम के "प्रभुत्व" का उत्तराधिकार इन प्रजातन्त्रों को नहीं है, यद्यपि यह युद्ध और सन्धि कर सकते हैं, तो ऐसा ही मैं एब्राहम के लिए भी कह सकता हूँ और फिर यहीं आपकी दलील समाप्त हो जायगी। यदि आप यह तर्क स्वीकार करते हैं कि जो युद्ध और सन्धि करते हैं—जैसा निःसन्देह प्रजातन्त्र करते हैं—वे "आदम की संप्रभुता" के उत्तराधिकारी हैं, तो आपके राजतन्त्र समाप्त हो जाते हैं; या आप यह मान लें कि वे प्रजातन्त्र, जिन्होंने आदम की संप्रभुता उत्तराधिकार में प्राप्त की है, राजतन्त्र है, तो संसार में सब शासनों को राजतन्त्र का रूप देने की यह नवीन विधि होगी।

१३४. इस नयी विधि के आविष्कार का श्रेय हमारे लेखक को ही प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने यह निष्कर्ष उसके सर्वप्रथम सिद्धान्तों से निकाल कर उस पर नहीं थोपा है। मेरे पाठकों को यह ज्ञात हो कि (यद्यपि यह असंगत प्रतीत होगा) स्वयं हमारे लेखक का भी ऐसा ही निष्कर्ष है जहाँ निपुणता से वह कहता है, "संसार के सब साम्राज्यों और प्रजातन्त्रों में, चाहे सर्वोच्च पिता सबका राजा हो या ऐसे पिता का सच्चा उत्तराधिकारी हो, या उसे राजसिंहासन छीन कर या चुनाव से प्राप्त हुआ हो, या चाहे राज्य में थोड़े या बहुसंख्यक शासक हों; फिर भी इन सबमें जो सत्ता एक को या बहुतों को प्राप्त है, वही सर्वोच्च पिता की सच्ची और प्राकृतिक सत्ता है।" और वह बार-बार हमें यह बतला चुका है कि पितृत्व का अधिकार "राजकीय अधिकार" है, विशेषतया एब्राहम के इस उदाहरण के एक पृष्ठ पहले। वह कहता है कि प्रजातन्त्र के शासकों को भी यह राजकीय सत्ता प्राप्त है, अगर यह सच है कि जो प्रजातन्त्र में शासन करते हैं, उन्हें राजकीय सत्ता प्राप्त है, तो फिर यह भी सत्य माना जाय कि प्रजातन्त्र के शासक राजा होते है। यदि शासन करनेवाले को राजकीय सत्ता प्राप्त है, तो जो शासन करता है वह अवश्य ही राजा होगा। अतः सब प्रजातन्त्र पूर्णतया राजतन्त्र हैं। फिर इसके लिए इतना श्रम करने

की क्या आवश्यकता है ? संसार के शासन ऐसे ही हैं, जैसे उन्हे होना चाहिए; वे सब केवल राजतन्त्र है। निःसन्देह, संसार से राजतन्त्र के अतिरिक्त सब शासनों को समाप्त करने का, हमारा लेखक यही सबसे निश्चित साधन ढूंढ़ पाया है।

१३५. परन्तु इन सवसे यह प्रमाणित नहीं होता कि एब्राहम आदम का उत्तराधिकारी होने के कारण राजा था। यदि उत्तराधिकार से ही वह राजा बनता, तो लॉट को जो उसी के परिवार का सदस्य था, कुटुम्ब के सेवकों से पूर्व ही, उसकी प्रजा होना चाहिए था; परन्तु हम देखते है कि वे मित्रों और समानाधिकारियों की तरह रहते थे और जब उनके चरवाहों में मतभेद हो गया तो उनमें से किसी ने अपनी श्रेष्ठता या अधिकार का दावा नहीं किया और वे सहमति से पृथक् हो गये, (जेनेसिस १३); लॉट को एब्राहम और धर्मग्रन्थ, दोनों, एब्राहम का भाई कहते है जो मित्रता और समानता का सूचक है और अधिकार तथा आधिपत्य का नहीं, यद्यपि वह वास्तव में उसका भतीजा था। यदि हमारा लेखक यह जानता है कि एब्राहम आदम का उत्तराधिकारी और राजा था, तो शायद वह स्वयं एब्राहम से या उसके सेवक से, जिसे उसने अपने पुत्र के लिए वधू ढूँढ़ने भेजा था, अधिक जानता है, क्योंकि जब सेवक इस विवाह के लाभ उस नवयुवती तथा उसकी सहेलियों को बतलाता है (जेनेसिस २४.३५) तो वह कहता है, "मैं एब्राहम का सेवक हूँ और परमेश्वर की मेरे स्वामी पर बड़ी अनुकम्पा है, और उसने उसे महान् बनाया है, तथा उसे भेड़ और पशु, और चाँदी तथा सोना, दास और दासियाँ, और ऊँट तथा गधे प्रदान किये हैं; और मेरे स्वामी की पत्नी सारा ने अपनी वृद्धावस्था में एक पुत्र को जन्म दिया है, और उस पुत्र को मेरे स्वामी नें अपना सब कुछ दे दिया है।" क्या हम इसकी कल्पना कर सकते हैं कि एक विनीत सेवक, जो अपने स्वामी की महानता का इतना बढ़ाचढ़ा कर वर्णन कर रहा है, उसके राजसिंहासन का उल्लेख न करेगा जो आइज़क को प्राप्त होता यदि उसे किसी ऐसे पद का ज्ञान होता ? क्या ऐसे अवसर पर वह यह बतलाना भूल जाता कि एब्राहम राजा था ? उस समय राजा शब्द सर्वविदित था और उसके पड़ोस में ही नौ राजा रहते थे। यदि एब्राहम या उसके सेवक को इसका ज्ञान होता तो उनके उद्देश्य की सफलता में क्या यही सबसे अधिक सहायक न होता ?

१३६. परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह खोज दो-तीन हज़ार वर्ष बाद हमारे लेखक के लिए सुरक्षित रखी हुई थी कि उसी को इसका श्रेय मिले। परन्तु उसे केवल इतना ध्यान रखना चाहिए था कि आदम की संप्रभुता के साथ-साथ इस "उत्तराधिकारी" को आदम की भू-सम्पत्ति का भी कुछ भाग प्राप्त होना चाहिए था। यदि

अपने लेखक के अनुसार हम यह स्वीकार करें कि यह संप्रभुता एब्राहम को—और सब परिवार पतियों को—"उत्तराधिकार" के आधार पर प्राप्त थी और यह "इतनी विस्तृत और प्रचुर थी जितनी सृष्टिरचना के काल से किसी भी राजा की निरंकुशतम सत्ता रह चुकी है," परन्तु फिर भी, उसकी जायदाद, उसकी भूमि का क्षेत्र, उसका साम्राज्य बहुत कम और अपर्याप्त था, क्योंकि उसके पास एक हाथ भूमि भी नहीं थी, सारा को दफ़नाने के लिए उसे हेथ (Heth) के पुत्रों से ज़मीन और एक गुफा खरीदनी पड़ी।

१३७. इसाऊ का उदाहरण, जो एब्राहम के इस उदाहरण के साथ-साथ यह प्रमाणित करने के लिए दिया गया है कि "आदम को समस्त संसार पर जो प्रभुत्व प्राप्त था, वह उत्तराधिकार में परिवार पतियों को प्राप्त हुआ," इससे भी अधिक रोचक है। "इसाऊ अपने भाई जेकब से ४०० सशस्त्र सैनिकों सहित मिला," अतः वह आदम का उत्तराधिकारी था, और इसलिए राजा था। ४०० सशस्त्र सैनिकों को किसी भाँति एकत्रित करके जो उनका संचालन करे, वह राजा और आदम का उत्तराधिकारी प्रमाणित हो जाता है। आयरलैण्ड में ऐसे कई बड़े ज़मीदार हो चुके हैं (और अन्य देशों में भी,) जो हमारे लेखक को इस विचारधारा के लिए धन्यवाद देते, विशेषतया, यदि उनके निकटस्थ ऐसे व्यक्ति न होते जिनके पास ५०० सशस्त्र सैनिक हों जिनसे वे ४०० सशस्त्र सैनिकवाले की राजकीय सत्ता का विरोध कर सकते। इतने गम्भीर विषय का ऐसे तुच्छ तर्कों से खिलवाड़ करनेवालों को धिक्कार है। यहाँ आदम की संप्रभुता के प्रमाण में इसाऊ का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—"आदम की निरंकुश सत्ता जो किसी भी राजा की सत्ता के समान व्यापक है, और जो उत्तराधिकार में परिवार पतियों को प्राप्त है।" इसी अध्याय में जेकब का उदाहरण दिया गया है जो "जन्मजात अधिकार के कारण अपने भाइयों का सम्राट् था।" अतः हमारे सम्मुख दो भाई हैं जिनके निरंकुश शासन का एक ही आधार है और एक ही समय आदम के उत्तराधिकारी हैं। ज्येष्ठ पुत्र तो इसलिए उत्तराधिकारी हैं क्योंकि वह अपने भाई से ४०० सशस्त्र सैनिकों सहित मिला, और सबसे छोटा भाई "जन्मजात अधिकार" के कारण उत्तराधिकारी है। "इसाऊ को उत्तराधिकार में आदम का समस्त संसार पर प्रभुत्व प्राप्त हुआ था जो उतना ही विस्तृत और प्रचुर था जितना किसी भी राजा का निरंकुशतम आधिपत्य होता है," परन्तु, साथ ही, "जेकब को उसके ऊपर आधिपत्य प्राप्त था जैसा उत्तराधिकारियों को अपने भाइयों पर आधिपत्य प्राप्त होता है।" मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे इस भाँति तर्क करने में सर राबर्ट से अधिक कुशल, और कोई व्यक्ति नहीं मिला। परन्तु यह उनका दुर्भाग्य है कि उन्होंने ऐसा सिद्धान्त

अपनाया जिसका न तो मानवीय व्यवस्था से सामञ्जस्य है और न परमेश्वर ने संसार की जो व्यवस्था की है, उसके अनुकूल वह है। अतः वह सामान्य बुद्धि और अनुभव के नितान्त प्रतिकूल है।

१३८. अगले भाग में हमारा लेखक कहता है, "यह परिवार पिताओं का अधिकार केवल जल-प्रलय तक ही नहीं, वरन्, उसके बाद भी कायम रहा, जैसा "परिवार पिता" शब्द से कुछ अंश तक प्रमाणित होता है। "परिवार पिता" शब्द से यह "कुछ अंश" से भी अधिक प्रमाणित होता है कि संसार में जबतक परिवार पिता थे, परिवार पिताओं का अधिकार कायम रहा। क्योंकि यह आवश्यक है कि जबतक परिवार पिता होंगे, यह अधिकार अवश्य रहेगा, जैसे जबतक पति या पिता होंगे, पिता की और वैवाहिक सत्ता अवश्य रहेगी। परन्तु यह तो केवल शब्दों के साथ खिलवाड़ करना है। जिसे वह भ्रमोत्पादक तर्क द्वारा स्वीकृत कराना चाहता है, उसे अभी प्रमाणित करना आवश्यक है; कि "आदम का संसार पर प्रभुत्व" जो आदम का निरंकुश सर्वव्यापी आधिपत्य माना जाता है, वह "उससे परिवार पिताओं ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया।" यदि लेखक यह कहता है कि ऐसा निरंकुश राजतन्त्र जल प्रलय तक संसार में था, तो मुझे हर्ष होगा यदि वह इसका प्रमाण किसी ग्रन्थ से प्रस्तुत कर सकें, क्योंकि बाइबिल में इसके समर्थन में एक शब्द भी नहीं मिलता। यदि "परिवार पिताओं के अधिकार" से उसका अभिप्राय किसी अन्य सत्ता से है तो उसका वर्तमान समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। और "परिवार पिता" शब्द से यह कुछ अंश तक" कैसे प्रमाणित हो जाता है कि जिनको इस नाम से सम्बोधन किया जाता था उन्हें निरंकुश राजकीय सत्ता प्राप्त अवश्य होगी, यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः मेरे विचार से जब तक तर्क को अधिक स्पष्ट न किया जाय इसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है।

१३९. हमारा लेखक कहता है, "नोआ के तीनों पुत्रों में उनके पिताने सारा संसार विभाजित किया क्योंकि उन्हीं से सारा संसार आबाद हुआ।" यद्यपि नोआ ने संसार को विभाजित नहीं किया, फिर भी उसके पुत्रों की सन्तान से "पृथ्वी" "आबाद" हुई। पृथ्वी बिना विभाजित हुए भी आबाद हो सकती है। अतः यहाँ हमारे लेखक के सारे तर्क से पृथ्वी का ऐसा विभाजन प्रमाणित नहीं होता। फिर भी, मैं इसे स्वीकार करता हूँ, और तब मैं पूछता हूँ, यदि पृथ्वी उनमें विभाजित कर दी गयी तो उन तीनों में से कौन आदम का उत्तराधिकारी था? यदि आदम का "प्रभुत्व", आदम के "राजतन्त्र" का उत्तराधिकार, केवल ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता है, तो शेष दोनों केवल उसकी "प्रजा", उसके "दास" ही हो सकते हैं। यदि वह तीनो भाइयों को उत्तरा-

धिकार में प्राप्त हुआ, तो उसी आधार पर समस्त मानव जाति को भी वही उत्तराधिकार प्राप्त होगा, और तब लेखक का यह कथन असम्भव हो जायगा कि "उत्तराधिकारी अपने भाइयों के सम्राट् होते हैं "और सब भाई—अर्थात् सब मनुष्य—समान और स्वतन्त्र हो जायेंगे; चूंकि वे सब आदम की राजतान्त्रिक सत्ता के उत्तराधिकारी होंगे, अतः सब राजा होंगे। परन्तु शायद यह कहा जाय, "उनके पिता नोआ ने, उनमें सारा संसार विभाजित किया था।" अतः हमारा लेखक नोआ को, स्वयं सर्वशक्तिशाली परमेश्वर से भी अधिक सत्ता देता है, क्योंकि उसने यह स्वीकार करने में आपत्ति की थी कि स्वयं परमेश्वर ने नोआ के जन्मजात अधिकार के विपरीत, नोआ को, उसके पुत्रों के साथ, संसार प्रदान किया था। उसके शब्द ये हैं, "नोआ समस्त संसार का एकमात्र उत्तराधिकारी शेष रह गया था।" ऐसा विचार क्यों हो कि परमेश्वर उसे, उसके जन्मजात अधिकार से वंचित करके, उसे अपने पुत्रों के साथ कई शासकों में एक शासक बना देगा। पर यहाँ लेखक इसे उचित समझता है कि नोआ शेम को उसके जन्मजात अधिकार से वंचित करे और समस्त पृथ्वी को उसमें तथा उसके भाइयों में विभाजित कर दे। अतः यह "जन्मजात अधिकार" हमारे लेखक के स्वेच्छानुसार कभी पवित्र और सनातन हो जाता है और कभी नहीं।

१४०. यदि नोआ ने, वास्तव में, सारा संसार अपने पुत्रों में विभाजित किया था और उसने उनके लिए जो क्षेत्र निर्धारित किये थे, वे वास्तविक थे, तो फिर दैव व्यवस्था समाप्त हो जाती है और हमारा लेखक आदम के उत्तराधिकारी के लिए जो कुछ भी कहता है और जिस आधार पर कहता है, सब निरर्थक हो जाता है, राजाओं की सत्ता का प्राकृतिक अधिकार समाप्त हो जाता है तथा शासन सत्ता का रूप और ऐसी सत्ता प्राप्त करने वाला व्यक्ति, सब मानव विधान पर अवलम्बित हो जाते हैं—दैव व्यवस्था पर नहीं, जैसा हमारा लेखक कहता है। यदि उत्तराधिकारी का अधिकार परमेश्वर के विधान पर आधारित है—दैव अधिकार है,—तो कोई व्यक्ति, चाहे वह पिता हो या नहीं, उसे बदल नहीं सकता। यदि यह अधिकार दैव नहीं है तो वह केवल मानवीय है और मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, अतः जहाँ मानवीय व्यवस्था ऐसी नहीं है, वहाँ ज्येष्ठ पुत्र को अपने भाइयों के ऊपर अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता और तब मनुष्य शासन का जैसा चाहे वैसा रूप निर्धारित करके उसे जिसे चाहे, सौंप सकता है।

१४१. लेखक आगे कहता है, "संसार के अधिकांश सभ्यतम देश, अपना मूल आधार नोआ के पुत्रों या भतीजों से प्राप्त हुआ प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।" ये अधिकांश सभ्यतम देश कितने हैं और कौन-से हैं? मेरे विचार से चीन बहुत बड़ा

और सभ्य देश है, और इसी तरह, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में कई ऐसे देश हैं जो इसके लिए अधिक परेशान नहीं होते। जिनका बाइबिल में विश्वास है (जो मेरे विचार से हमारे लेखक के "अधिकांश सभ्यतम देश हैं") वे अवश्य ही अपने को नोआ से व्युत्पन्न मानेंगे, परन्तु शेष संसार उसके पुत्रों या भतीजों को अधिक महत्व नहीं देता। यदि सब देशों की वंशावलियों का ब्योरा रखनेवाले अधिकारी, और पुरातत्त्वज्ञ (क्योंकि सामान्यतः ऐसे ही व्यक्ति राष्ट्र का मूल आधार ढूढ़ने का श्रम करते हैं), या समस्त राष्ट्र भी अपने पूर्वज नोआ के पुत्रों या भतीजों में ढूँढ़ने का प्रयास करें; तब भी, इससे यह कैसे प्रमाणित होगा कि "आदम को समस्त संसार पर जो प्रभुत्व प्राप्त था, वह परिवार-पिताओं को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ।" राष्ट्र या जातियाँ जिस किसी में भी अपने "आदि पूर्वजों को ढूढ़ने का प्रयास करती हैं" वे उन्हें प्रसिद्ध व्यक्ति मानती हैं जिनकी ख्याति अपने महान् गुणों और कार्यों के कारण भावी सन्तान तक पहुँचती है। इससे अधिक उन्हें और कोई विचार नहीं होता कि आदि पूर्वज स्वयं किसके उत्तराधिकारी थे। वे केवल उनको इस प्रकार मानते हैं मानो महान् ख्याति और गुण के कारण उनके वंशज होने में उनकी प्रतिष्ठा हो। यदि प्राचीन और अर्वाचीन काल में विभिन्न जातियाँ, औगीजीस (Ogygis), हरक्यूलीज़ (Hercules), ब्रह्मा, तैमूर लंग, फैरामन्ड (Pharamond) या बृहस्पति और शनि से अपना उद्भव ढूंढ़ने का प्रयास करती हैं, तो क्या इससे यह प्रमाणित होता है कि उन्हें "आदम का आधिपत्य उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त हुआ था?" यदि नहीं, तो हमारा लेखक अलंकृत भाषा का प्रयोग करके पाठकों को भ्रम में डालता है और उसका वास्तव में कोई अर्थ नहीं है।

१४२. इसी तरह संसार के इस विभाजन के लिए, लेखक जो कहता है, वह भी उसका उद्देश्य पूरा नहीं करता। "कुछ का कहना है कि यह लॉट द्वारा हुआ, और दूसरों का कहना है कि नोआ ने भूमध्य सागर की दस वर्ष में प्रदक्षिणा कर संसार को एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप में विभाजित किया।" यही उसके तीनों पुत्रों के भाग थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अमेरिका उसके लिए छोड़ दिया गया था जो उसे हस्तगत कर ले। हमारा लेखक नोआ द्वारा संसार का उसके तीनों पुत्रों में विभाजन प्रमाणित करने का इतना परिश्रम क्यों करता है और उसके समर्थन में कोई भी काल्पनिक प्रमाण बाकी नहीं छोड़ता, यह समझना कठिन है; क्योंकि ऐसे "विभाजन" से तो आदम के उत्तराधिकारी का अधिकार नष्ट ही होता है। अन्यथा, यह माना जाय कि तीनों भाई संयुक्त रूप से आदम के उत्तराधिकारी हो सकते हैं। लेखक के शब्द ये हैं "चाहे इस विभाजन की क्रिया कितनी ही अनिश्चित क्यों न हो, यह पूर्णरूप से निश्चित है कि यह

विभाजन नोआ और उसकी सन्तान के परिवारों में हुआ था जिनमें परिवार पिता अग्रणी और राजा थे।" यदि हम लेखक का यह कथन सत्य मान लें और यदि इससे यह किसी प्रकार प्रमाणित भी मान लिया जाय कि संसार में समस्त सत्ता केवल "आदम का संप्रभुत्व है जो उत्तराधिकार से प्राप्त होता है" तो केवल यही प्रमाणित होगा कि सब पिता आदम के इस आधिपत्य के उत्तराधिकारी हैं। क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त उस समय यदि चाम (Cham) और जाफट (Japhet) और अन्य माता-पिता अपने परिवारों के अध्यक्ष और राजा थे, और उन्हें पृथ्वी को, परिवारों के आधार पर विभाजित करने का अधिकार था, तो छोटे भाइयों को भी, जो अपने परिवारों के पिता थे, ऐसा अधिकार क्यों नहीं हो सकता ? जैसे चाम या जाफेट उत्तराधिकार द्वारा राजा हो सकते थे, चाहे उनके ज्येष्ठ भाई को उत्तराधिकार प्राप्त हो या न हो, उसी तरह, आजकल भी, छोटे भाई उसी अधिकार से राजा हो सकते हैं और तब हमारे लेखक का राजाओं की प्राकृतिक सत्ता का क्षेत्र केवल अपनी सन्तान तक ही सीमित रह जायगा और इस प्राकृतिक अधिकार से कोई भी साम्राज्य एक परिवार से बड़ा नहीं हो सकेगा। क्योकि या तो "आदम का समस्त संसार पर प्रभुत्व" केवल ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त हो सकता है और तब केवल एक उत्तराधिकारी ही सम्भव है–जैसा हमारा लेखक कहता है, या वह "सब पुत्रों को समान रूप से प्राप्त होता है" और तब, नोआ के तीनों पुत्रों की तरह, हर परिवार पिता को प्राप्त होगा। आप चाहें जिस मत को मानें, उससे संसार के वर्त्तमान शासन और साम्राज्य का आधार नष्ट हो जाता है, क्योंकि जिस किसी को भी "राजत्व की यह प्राकृतिक सत्ता" उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है, उसे या तो हमारे लेखक के अनुसार, केन की तरह अधिकार प्राप्त होने चाहिए, और अपने भाइयों का सम्राट् होना चाहिए और समस्त संसार का एकमात्र राजा होना चाहिए; या, उसे, शैम, चाम और जाफेट की भाँति, अधिकार मिलने चाहिए। यह तीनों भाई केवल अपने परिवार के राजा थे और इनके परिवार एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। या तो उत्तराधिकारी के अधिकार से सारा संसार केवल एक साम्राज्य होना चाहिए, और या हर परिवार का एक विशिष्ट शासन होना चाहिए, जिसमें "आदम का प्रभुत्व उत्तराधिकार द्वारा परिवार पिताओं को प्राप्त हो।" लेखक ने आदम के आधिपत्य के उत्तराधिकार के जितने प्रमाण दिये हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है। उत्तराधिकार की कथा में आगे लेखक कहता है :

१४३. "जातियों के बाबेल (Babel) से प्रस्थान में ही संसार के सब साम्राज्यों की राजकीय सत्ता की स्थापना निःसन्देह मिलेगी।" यदि लेखक को निः-

सन्देह ऐसी ही सत्ता ढूंढ़नी है तो वह उसे अवश्य ढूंढ़े और हमारे लिए एक नया इतिहास प्रस्तुत करे। परन्तु वह अवश्य उसे पहले हमें प्रमाणित कर दे जिससे हम यह विश्वास करने को बाध्य हों कि संसार में राजकीय सत्ता का उसी के सिद्धान्त के आधार पर निर्माण हुआ है। ऐसी राजकीय सत्ता "संसार के साम्राज्यों में" स्थापित हुई, इसे प्रमाणित करने की माँग का, मेरे विचार से, कोई प्रतिवाद नहीं करेगा, परन्तु संसार में ऐसे साम्राज्य होने चाहिए जिनके राजाओं को अपना पद "आदम से उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त" हुआ हो इसे, मेरे विचार से, प्रमाणित करना नितान्त असम्भव है। यदि हमारे लेखक के पास अपने राजतन्त्र के आधार के लिए, बेबल के प्रस्थान के अतिरिक्त और कोई अच्छा उदाहरण नहीं है, तो जिस राजतन्त्र की वह, मानवजाति को एक करने के उद्देश्य से स्थापना करता है, वह राजतन्त्र बाबेल की मीनार की तरह मानवजाति को विभाजित और अस्तव्यस्त करके अव्यवस्था ही उत्पन्न करेगा।

१४४. हमारा लेखक कहता है कि जिन जातियों में उनका विभाजन हुआ, वे जातियाँ विशिष्ट परिवार थीं, जिनके राजा परिवार पिता थे जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस अव्यवस्था में भी "परमेश्वर ने पितृत्व के अधिकार को सुरक्षित रखा और विभिन्न भाषाओं का विभिन्न परिवारों के अनुसार वितरण किया।" धर्मग्रन्थ के इस उद्धरण से इतना स्पष्ट यह निष्कर्ष निकालना कि साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर सब जातियों के शासक परिवार पिता थे और "परमेश्वर ने पितृत्व के अधिकार को सुरक्षित रखा", केवल हमारे लेखक को छोड़ कर और किसी के लिए सम्भव नहीं है। धर्मग्रन्थ के शब्द यह हैं, "यह शेम के पुत्र हैं जिनके अपने परिवार हैं, अपने क्षेत्र में अपनी भाषा है, और अपनी जाति है।' चाम और जाफेट और उनकी भावी सन्तान के उल्लेख के बाद फिर ऐसे ही शब्द कहे गये हैं। इनमें एक भी शब्द उनके शासकों के रूप, या "पिता" या "पितृत्व के अधिकार" के लिए नहीं हैं। परन्तु हमारा लेखक "पितृत्व" ढूंढ़ निकालने में बड़ा तत्पर है। जब किसी और को उसकी झलक भी नहीं दिखाई पड़ती, वह यहाँ निश्चय पूर्वक कहता है कि उनके "सम्राट् परिवार पिता थे और परमेश्वर ने पितृत्व के अधिकार को सुरक्षित रखा।" परन्तु क्यों? क्योंकि एक ही परिवार के सदस्य एक ही भाषा बोलते थे, अतः यह अनिवार्य था कि विभाजन के समय वे एकत्रित रहें। यह ऐसा ही तर्क हुआ जैसे हैनीबॉल (Hannibal) की सेना में विभिन्न जातियाँ थीं और वह अलग अलग भाषा का प्रयोग करने-वालों को अलग अलग रखता था; और हर दल के सेनापति, उसी जाति के अग्रणी होते थे और हैनीबॉल ने "पितृत्व के अधिकार" को सुरक्षित रखा था। या, केरोलीना को आबाद करने में अंग्रेज, फ्रेन्च, स्कॉच

और वेल्श, सब सम्मिलित हैं, और उनमें सारा देश "उनकी भाषा के आधार पर और उनकी जातियों के आधार पर" विभाजित किया गया है अतः वहाँ पितृत्व के अधिकार पर आधारित सत्ता सुरक्षित है। या चूंकि अमेरिका के कई भागों में, छोटी-छोटी जातियों का विशिष्ट रूप हैं, जिनकी भाषा भिन्न होती है, अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "परमेश्वर ने पितृत्व के अधिकार को सुरक्षित रखा है" या उनके शासनों को "आदम की संप्रभुता उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है," यद्यपि, हम यह नहीं जानते कि उनके शासक कौन है, या उनके शासन का क्या रूप है, केवल इतना जानते है कि वह छोटे-छोटे स्वतन्त्र साम्राज्यों में विभाजित हैं जो भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं।

१४५. धर्मग्रन्थ में राजाओं या शासनों के रूप के विषय में एक भी शब्द नहीं है, केवल यही वर्णन किया गया है कि मानव जाति विशिष्ट भाषाओं और जातियों में विभाजित हुई। अतः धर्मग्रन्थ पर आधारित तर्क से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनके "शासक" "परिवार पिता" थे; धर्मग्रन्थ में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है। यदि हम पूर्ण विश्वास से कुछ कहें जिस पर लैख्य प्रमाणों में कुछ न लिखा हो, तो वह केवल अपने मस्तिष्क की कल्पना होगी। ऐसा ही आधार उसके आगामी कथन का है जहाँ वह कहता है, "वे अव्यवस्थित समूह नहीं थे जिनका कोई शासक या राजा न हो, फलस्वरूप वे अपने राजा या शासन को इच्छानुसार चुनने में स्वतन्त्र न थे।"

१४६. मैं यह पूछता हूँ कि जब समस्त मानवजाति में केवल एक ही भाषा थी और सब शिनार (Shinar) के मैदान में एक साथ रहते थे, तब क्या उन सबका एक ही राजा था जो "आदम के आधिपत्य का उत्तराधिकारी था ?" यदि ऐसा नहीं था, तो यह स्पष्ट है कि उस समय आदम के उत्तराधिकारी की कोई कल्पना नहीं थी। उस समय तक शासन सत्ता का ऐसा कोई आधार नहीं माना जाता था। परमेश्वर या मनुष्य ने आदम के "पितृत्व के अधिकार" की स्थापना नहीं की थी। जिस समय सारी मानवजाति एक समुदाय थी, एक साथ रहती थी, एक ही भाषा का प्रयोग करती थीं, और मिलकर एक नगर का निर्माण कर रही थी; और जब यह स्पष्ट है कि वह उचित उत्तराधिकारी को अवश्य मालूम कर सकती थी, क्योंकि शैम बाबेल के विभाजन के बहुत समय बाद आइज़ेक के समय तक जीवित था; मै कहता हूँ कि यदि उस समय आदम के पितृत्व के अधिकार के सच्चे उत्तराधिकारी का राजतान्त्रिक शासन नहीं था, तो यह स्पष्ट है कि "पितृत्व" का कुछ महत्त्व नहीं था। आदम के उत्तराधिकारी का कोई सर्वमान्य राजतन्त्र नहीं था, शैम का एशिया में कोई साम्राज्य नहीं था और इसलिए नोआ ने, हमारे लेखक के विपरीत, संसार का कोई विभाजन नहीं किया था। धर्म-

ग्रन्थ के इस उद्धरण से, इस विषय में यदि कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है, तो वह यह है कि यदि उस समय कोई शासन था तो वह निरंकुश राजतन्त्र न होकर जनतन्त्र (Common wealth) था; क्योंकि, धर्मग्रन्थ में लिखा है (जेनेसिस ११), "उन्होंने कहा", अर्थात् इस नगर और मीनार के निर्माण का आदेश एक राजा ने नहीं दिया, वरन् यह स्वतन्त्र समाज ने विचार विमर्श करके दिया है—"हम एक नगर का निर्माण करेंगे"; उन्होंने सम्राट् और स्वामी के लिए दास की तरह नहीं, वरन् स्वतन्त्र मनुष्यों की तरह, अपने लिए, उसका निर्माण किया—"जिससे हम छिन्न-भिन्न न हो जायँ।" नगर निर्माण के बाद, उन्होंने यह निर्धारित किया कि कौन-कौन से परिवार उसमें निवास करेंगे। यह ऐसे व्यक्तियों की मंत्रणा और उद्देश्य था जो पृथक् होने के लिए स्वतन्त्र थे, परन्तु जो सम्मिलित रहना चाहते थे। यह सब ऐसे व्यक्तियों के लिए आवश्यक या सम्भव नहीं हो सकता जो एक राजा के शासन में बँधे हुए हों। यदि हमारे लेखक के अनुसार वे सब राजा की निरंकुश सत्ता के दास थे तो वे उसके आधिपत्य की सीमा से बाहर जाने में स्वयं इतनी बाधा न डालते। मेरा स्पष्ट मत है कि आदम के उत्तराधिकारी या "पितृत्व की सत्ता" की अपेक्षा धर्मग्रन्थ से यही अधिक स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है।

१४७. यदि मान लिया जाय कि परमेश्वर का अभिप्राय (जेनेसिस १०, १६) था कि एक जाति होने से उनका एक राजा हो, एक ही राजा को उन पर निरंकुश और सर्वोच्च सत्ता का प्राकृतिक अधिकार हो; तो परमेश्वर ने सर्वोच्च पितृत्व की सत्ता की सुरक्षा के लिए क्या किया? उसने ७२ विशिष्ट जातियों की (इतनी जातियों का हमारे लेखक ने उल्लेख किया है) स्थापना होने दी जिनके अलग-अलग राजा थे और जो तुरन्त अपने संप्रभु के आज्ञापालन से मुक्त हो गये। यह परमेश्वर के कार्यों की अपने इच्छानुसार व्याख्या करना हुआ। क्या इसमें कुछ भी तत्त्व है कि परमेश्वर ने "पितृत्व की सत्ता" को उनमें सुरक्षित रखा जिनको वह प्राप्त न थी? क्योंकि यदि वे सब एक सर्वोच्च पिता के अधीन दास थे, तो उनको क्या सत्ता प्राप्त थी जब उसी समय परमेश्वर ने प्राकृतिक सम्राट् की सच्ची "पितृत्व की सत्ता" को समाप्त कर दिया था? क्या यह कहना युक्तिसंगत होगा कि परमेश्वर ने "पितृत्व की सत्ता" की सुरक्षा के लिए, कई नये शासकों और शासनों को स्थापित हो जाने दिया, जिन्हें यह सत्ता प्राप्त नहीं थी? और क्या यह कहना उतना ही युक्तिसंगत न होगा कि परमेश्वर ने "पितृत्व पर आधारित सत्ता" को नष्ट कर दिया जब उसने देखा कि ऐसी सत्ता प्राप्त होनेवाले ने अपने शासन को छिन्न-भिन्न हो जाने दिया है और अपनी प्रजा में से

कई लोगों को उस पर अधिकार स्थापित करने दिया ? यदि कोई भी राजतन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाय और विद्रोह के कारण उसके कई खण्ड हो जायँ, तो क्या राजतन्त्रिक शासन के पक्ष में ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि परमेश्वर ने एक स्थापित साम्राज्य को, बहु-संख्यक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित करके राजकीय सत्ता को सुरक्षित रखा ? यदि कोई ऐसा कहे कि जो कुछ भी भाग्य द्वारा नष्ट होने से बच जाय; उसे परमेश्वर की इच्छा द्वारा सुरक्षित समझा जाय, और इसलिए मनुष्य उसे आवश्यक और उपयोगी समझें, तो यह स्पष्टतया भाषा का दुरुपयोग करना है। परन्तु इतना मुझे निश्चय है कि यह न उचित और न सत्य हो सकता है कि, उदाहरणार्थ—शैम (क्योंकि वह उस समय जीवित था) के पास पितृत्व की सत्ता हो या बेबल की जनता पर "पितृत्व" के अधिकार के आधार पर संप्रभुता प्राप्त हो, और दूसरे ही क्षण, शैम के जीवित रहते हुए, ७२ अन्य व्यक्तियों को वही प्राप्त हो जाय या उसी जनता पर, उसे इतने ही विभिन्न शासनों में विभाजित करके, "पितृत्व" के अधिकार के आधार पर संप्रभुता प्राप्त हो यदि ये ७२ परिवार पिता इस अव्यवस्था के पूर्व वास्तव में राजा थे और प्रजा के रूप में नहीं थे तो केवल एक ही जाति नहीं हो सकती, परन्तु परमेश्वर स्वयं कहता है, उन सब पर एक शासन था। उस समय, राजतन्त्र कहाँ था ? यदि इन ७२ परिवार पिताओं को पितृत्व की सत्ता प्राप्त थी तो अवश्य उन्हें इसका ज्ञान नहीं था। यह आश्चर्य है कि "पितृत्व की सत्ता" ही मानव जाति में शासन का एकमात्र आधार हो, परन्तु समस्त मानव जाति को उसका ज्ञान न हो, और इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि भाषाओं की विभिन्नता से उन्हें अकस्मात् ही इसका बोध हो जाय; एक ही क्षण में इन ७२ व्यक्तियों को ज्ञात हो कि उन्हें पितृत्व की सत्ता प्राप्त है, और शेष सबको यह ज्ञात हो जाय कि उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए, और हर व्यक्ति को उस विशेष "पितृत्व पर आधारित सत्ता" का ज्ञान हो, जिसके अधीनस्थ उसे होना चाहिए। धर्मग्रन्थ के आधार पर जो ऐसा तर्क प्रस्तुत कर सकता है, वह उसी पर आधारित अपनी कल्पना और हित के अनुसार जिस काल्पनिक राज्य का आदर्श उसे सबसे उपयुक्त प्रतीत हो, उसे प्रस्तुत कर सकता है। यही "पितृत्व" एक राजा को न्यायोचित अधिकार प्रदान करता है जो विश्वव्यापी राजतन्त्र का दावा करे, और उसकी प्रजा को भी, जो परिवारों के पिता होने के कारण अधिकार देता है कि वह राजा की अधीनता अस्वीकार कर दे और उसके साम्राज्य में अपना शासन स्थापित कर दें। जब तक हमारा लेखक इसका समाधान न कर दे कि शैम को, जो उस समय तक जीवित था, शासन करने का अधिकार था या इन ७२ नये राजाओं को, जिन्होंने उसके साम्राज्य में, उसकी प्रजा

पर इतने नये शासन स्थापित कर दिये थे तब तक यह सदैव सन्दिग्ध प्रश्न रहेगा कि इनमें से किसे पितृत्व पर आधारित सत्ता प्राप्त थी। हमारा लेखक कहता है कि दोनों को "पितृत्व की सत्ता" (अर्थात्, सर्वोच्च सत्ता) प्राप्त थी और उसने दोनों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है जिन्हें "आदम का आधिपत्य उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त हुआ था और जो इतना विशाल और प्रचुर था जितना किसी भी राजा का निरंकुशतम आधिपत्य सम्भव है।" कम से कम यह निष्कर्ष तो अवश्यम्भावी है कि "यदि परमेश्वर ने यत्नपूर्वक इन ७२ नवीन स्थापित राष्ट्रों में पितृत्व की सत्ता सुरक्षित रखी", तो अवश्य ही उसने यत्नपूर्वक आदम के उत्तराधिकारी का अधिकार नष्ट कर दिया। कारण यह है कि परमेश्वर ने यत्न करके इतने व्यक्तियों में (कम से कम ७२) में पितृत्व की सत्ता सुरक्षित रखी जो सब, स्पष्ट है, आदम के उत्तराधिकारी नही हो सकते और यह उस समय जब सच्चा उत्तराधिकारी स्पष्टतः ज्ञात था, (यदि परमेश्वर ने कभी ऐसे उत्तराधिकारी की व्यवस्था की हो), क्योंकि शैम उस समय जीवित था, और वे सब एक ही जाति के थे।

१४८. लेखक का पितृत्व की सत्ता के उपभोग में अगला उदाहरण निमरोड (Nimrod) का है। परन्तु पता नहीं किस कारण से हमारा लेखक उसके प्रति ज़रा अनुदार है और लिखता है कि, "उसने दूसरे परिवारों के राजाओं के अधिकारों का बलपूर्वक अपहरण करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया जिसका उसे अधिकार नहीं था।" इस स्थान पर परिवारों के राजाओं को लेखक ने बाबेल से प्रस्थान के वर्णन में "परिवारों के पिता" कहा था। परन्तु वे चाहे जिस नाम से सम्बोधित किये जायँ, इस पर हमारी बहस नहीं है, हमें यह पता चलना चाहिए कि वे कौन हैं। उन्हें यह पितृत्व की सत्ता या तो आदम के उत्तराधिकारी होने के कारण प्राप्त हो सकती है, परन्तु ७२ उत्तराधिकारी या एक से अधिक उत्तराधिकारी एक ही समय नहीं हो सकते; या उन्हें यह सत्ता अपनी सन्तान के प्राकृतिक पिता होने के कारण प्राप्त हो सकती है और तब इसी आधार पर हर पिता को अपनी सन्तान पर "ऐसी ही सत्ता" प्राप्त होगी और उतने ही विस्तृत रूप में प्राप्त होगी जितनी उन ७२ राजाओं को प्राप्त थी और तब सब पिता अपनी सन्तान के ऊपर स्वतन्त्र राजा के रूप में होंगे। लेखक के "परिवार के राजाओं" पर इतना विचार कर हम आगे देखते हैं कि उसने राजतन्त्र के मूल आधार का बहुत ही अपर्याप्त वर्णन इन शब्दों में किया है, "और इस अर्थ में वह राजतन्त्र का संस्थापक और निर्माता माना जा सकता है"—अर्थात् पिताओं के अपनी सन्तान पर अधिकारों को बलपूर्वक छीन कर, जिसका उसे अधिकार नहीं था। यदि पितृत्व की यह सत्ता

उन्हें प्राकृतिक अधिकार से प्राप्त थी (अन्यथा, वह इन ७२ व्यक्तियों को कैसे प्राप्त होती ?) तो उनकी सहमति के बिना, उनसे इसे कोई छीन नहीं सकता। मैं अपने लेखक और उसके मित्रों से पूछूंगा कि वे विचार करें कि इसका अन्य राजाओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या स्वयं लेखक के निष्कर्ष के अनुसार, इसके यह अर्थ न होंगे कि समस्त राजकीय सत्ता, जिसका क्षेत्र उनके परिवारों की सीमा से अधिक विस्तृत है, या तो बलपूर्वक छीन कर प्राप्त होती है या परिवारों के पिताओं की सहमति और चुनाव से प्राप्त होती है, जो जनता की सहमति से अधिक भिन्न नहीं है ?

१४९. अगले अध्याय में उसने जितने भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; ईडोम के बारह ड्यूक्स का, एब्राहम के समय एशिया के एक छोटे से कोने में ९ राजाओं का, केनान में ३१ राजाओं का, जिन्हें जौशुआ ने नष्ट कर दिया था, और तत्कालीन नगरों के राजाओं का; यह सब लेखक के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करते हैं कि आदम का "आधिपत्य" "उत्तराधिकार" द्वारा प्राप्त करने से राजा नहीं बनते, क्योंकि यदि इसी आधार पर उन्हें अपना राजसिंहासन प्राप्त होता, तो या तो सबके ऊपर केवल एक ही संप्रभु सम्राट् होता, या परिवार का हर पिता राजा के समान होता और वह भी राजपद का अधिकारी होता। यदि इसाऊ के सब पुत्रों को—छोटे और ज्येष्ठ—सभी को "पितृत्व का अधिकार" प्राप्त था जिसके आधार पर वे अपने पिता की मृत्यु के बाद संप्रभु सम्राट् बने, तो उनके बाद उनके पुत्रों को भी ऐसा ही अधिकार अवश्य प्राप्त हुआ और इस तरह सब भावी सन्तान को प्राप्त हुआ। इससे पितृत्व की प्राकृतिक सत्ता केवल अपनी निजी सन्तान और उनके वंशजों तक ही सीमित रहेगी। ऐसी "पितृत्व की सत्ता" परिवार के अध्यक्ष की मृत्यु के बाद समाप्त हो जायगी और उसके पुत्रों को ऐसी ही सत्ता अपनी सन्तान पर प्राप्त होगी। इस रीति से पितृत्व की सत्ता सुरक्षित रखी जा सकती है और यह समझ में भी आ जाता है। परन्तु इससे हमारे लेखक के उद्देश्य को कोई समर्थन नहीं मिलता और न उन सब उदाहरणों से ऐसा समर्थन मिलता है जिन्हें वह पितृत्व के आधार पर प्राप्त सत्ता को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत करता है; चाहे यह पितृत्व की सत्ता उन्हें आदम की पितृत्व पर आधारित सत्ता के उत्तराधिकारी होने से प्राप्त हुई हो या स्वयं अपने गुणों से। चूंकि, आदम का "पितृत्व" समस्त मानव-जाति के ऊपर था, अतः वह उत्तराधिकार के रूप में एक समय में केवल एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। इस आधार पर संसार में एक समय में केवल एक ही राजा हो सकता है। और यदि पितृत्व का यह अधिकार, आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुआ, तो वह राजाओं को स्वयं पिता होने के कारण प्राप्त हुआ होगा, अतः उनको

केवल अपनी ही सन्तान पर यह अधिकार प्राप्त होगा। यदि इडोम के यह बारह ड्यूक, एब्राहम और उसके पड़ौसी नौ राजा, जेकब, इसाऊ और केनान के ३१ राजा, ७२ राजा जिन्हें एडोनिबेसेक (Adonibeseck) ने नष्ट कर दिया था, बेनाडेड (Benaded) से आये हुए बत्तीस राजा, ग्रीस के सत्तर राजा जिन्होंने ट्रॉय से युद्ध किया था; —हमारे लेखक के अनुसार यदि यह सब संप्रभु राजा थे तो यह स्पष्ट है कि राजाओं की सत्ता का मूल आधार पितृत्व नहीं हो सकता—कुछ और होगा, क्योंकि, इनमें से कुछ को अपनी सन्तान के अलावा औरों पर भी सत्ता प्राप्त थी और यह स्पष्ट है कि वे सब आदम के उत्तराधिकारी नहीं हो सकते थे। मैं चुनौती देता हूँ कि कोई "पितृत्व" के अधिकार के आधार पर अपनी सत्ता का दावा तो करे और स्पष्ट प्रमाणों से प्रमाणित करे कि यह उसे आदम के उत्तराधिकारी के रूप में, या स्वयं अपने वंशजों के पूर्वज होने के कारण उसे प्राप्त हुई हैं। यदि हमारा लेखक यह प्रमाणित कर दे कि इनमें से किसी भी राजा को, जिनकी उसने यहाँ इतनी लम्बी सूची दी है, इन दो में से किसी भी आधार पर अपना पद प्राप्त हुआ है, तो मैं उसके आगे अपनी हार स्वीकार कर लूंगा। यद्यपि यह स्पष्ट है कि, लेखक उनके उदाहरण से जो प्रमाणित करना चाहता है, उसके प्रत्यक्ष विपरीत और अप्रासंगिक हैं; अर्थात्, "आदम की संप्रभुता उत्तराधिकार द्वारा परिवार पिताओं को प्राप्त हुई।"

१५०. हमें यह बतलाने के बाद कि "परिवार पिताओं का शासन मिस्र में बन्दी होने तक, एब्राहम, आइजेक और जेकब में स्थापित रहा", लेखक कहता है, "इजराइल निवासियों के मिस्र में आने तक, हम इस संप्रभु पितृत्व पर आधारित शासन का क्रमशः विकास देखते हैं। मिस्र में सर्वोच्च पितृत्व सत्ता कुछ समय के लिए स्थगित हो गयी, क्योंकि वे एक अधिक शक्तिशाली राजा के अधीन हो गये थे।" हमारे लेखक के अनुसार पैतृक शासन का—अर्थात् आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त निरंकुश राजतन्त्रीय सत्ता का, जो पितृत्व के अधिकार से प्राप्त होती है—यह क्रमशः विकास क्या है! हम देखते हैं कि २२९० वर्षों तक यह श्रृंखला टूटी रही, क्योंकि हमारा लेखक उदाहरण में कोई एक भी ऐसा व्यक्ति प्रस्तुत नहीं कर सकता जिसे २२९० वर्षों की इस अवधि में "पितृत्व के आधार पर" राजकीय सत्ता प्राप्त हुई हो या वह ऐसी सत्ता का दावा करता हो, या जो "आदम का उत्तराधिकारी" होने के कारण राजा हो। उसके सब प्रमाणों का सार केवल यह है कि उस काल में पिता, परिवार पिता और राजा होते थे। परन्तु धर्मग्रन्थ में यह कहीं नहीं लिखा है कि पिताओं को, और परिवार पिताओं को निरंकुश स्वेच्छाचारी सत्ता प्राप्त थी या नहीं, या उन राजाओं की सत्ता का आधार क्या था और

उनका क्या क्षेत्राधिकार था । यह स्पष्ट है कि "पितृत्व" के अधिकार" से न तो उन्हें ऐसा आधिपत्य और साम्राज्य प्राप्त हुआ था और न वे ऐसे अधिकार का दावा करते थे ।

१५१. यह कहना कि "सर्वोच्च पितृत्व की सत्ता का प्रयोग कुछ समय के लिए स्थगित हो गया क्योंकि वे एक अधिक शक्तिशाली राजा के अधीन हो गये, "वही प्रमाणित करता है जिसका मुझे पहले ही सन्देह था, अर्थात्, "पितृत्व की सत्ता या शासन" भ्रमोत्पादक धारणा है और इसका वह अधिप्राय नही है जिसकी ओर हमारा लेखक संकेत करता है—"पितृत्व की राजकीय सत्ता", ऐसी निरंकुश संप्रभु सत्ता जो हमारे लेखक के अनुसार आदम को प्राप्त थी ।

१५२. हमारा लेखक यह कैसे कह सकता है कि "पितृत्व का अधिकार मिस्र में कुछ समय के लिए स्थगित हो गया", मिस्र में एक राजा था और इज़राइल निवासी उसके राजकीय शासन के अधीन हो गये थे । यदि "पितृत्व की सत्ता" में "निरंकुश राजतन्त्रिक अधिकार" थे, तो ऐसी सत्ता मिस्र में भी थी । यदि उसमें ऐसे अधिकार नहीं थे, और वह भिन्न थी, तो ऐसी सत्ता के लिए इतना व्यर्थ श्रम करने से क्या लाभ जब वह उद्देश्य ही पूरा नहीं करती । "पितृत्व के अधिकारों" का प्रयोग—यदि पितृत्व के अर्थ "राजकीय" हैं, मिस्र में, जब इजराइल निवासी वहाँ रहते थे, स्थगित नही हो गया था । यह सच है कि उस समय "राजकीय सत्ता" का प्रयोग एब्राहम के वंश में नहीं था, परन्तु, जहाँ तक मुझे मालूम है, वह पहले भी नही था, परन्तु इसका "आदम की उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त राजकीय सत्ता" के स्थगन से क्या म्सम्बन्ध है ? यदि हमारा लेखक यह मानता है कि आदम के आधिपत्य को उत्तराधिकार में प्राप्त करने का अधिकार केवल एब्राहम के वंश को ही था तो ७२ राजाओं के उदाहरण से उसे अपने सिद्धान्त में क्या सहायता मिल सकती है । इन्हीं राजाओं में बाबेल से प्रस्थान के बाद इसाऊ की पितृत्व पर आधारित सत्ता सुरक्षित रखी गयी थी । और ईडोम के १२ ड्यूक्स के उदाहरण से क्या सहायता मिलती है ? इनको क्यों सच्चे "पितृत्व के शासन" के उदाहरणों में एब्राहम और जूडा के साथ प्रस्तुत किया गया है ? यदि जेकब के वंश में सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जाने से संसार में "पितृत्व की सत्ता" का प्रयोग स्थगित होना माना जाता है, तो मेरे विचार से फ़राऊन (Pharaoh) या किसी अन्य द्वारा प्राप्त राजतन्त्रिक शासन से भी लेखक का उद्देश्य पूरा हो सकता था । परन्तु उसकी विचारधारा किस दिशा में जाती है, यह सब स्थानों पर पता लगाना सरल नहीं है; विशेषतया इस स्थान पर उसका अभिप्राय समझना कठिन है, जब वह कहता है, मिस्र

में सर्वोच्च पितृत्व के अधिकारों का प्रयोग", इससे इस निष्कर्ष में कैसे सहायता मिल सकती है कि आदम के आधिपत्य का उत्तराधिकार परिवार पिताओं को या किसी अन्य को प्राप्त था।

१५३. मेरा यह अनुमान था कि लेखक धर्मग्रन्थ से उदाहरणों द्वारा पितृत्व की सत्ता पर आधारित, और आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त राजतंत्रीय शासन के प्रमाण प्रस्तुत कर रहा था, यहूदियों का इतिहास नहीं। यहूदियों में उनकी जाति को स्थापित होने के अनेक वर्षों बाद तक हमें कोई राजा नहीं मिलते। और जिस समय उनके राजा थे, तो उनका आदम के उत्तराधिकारी के रूप में या पितृत्व की सत्ता के आधार पर राजा बनने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। चूंकि लेखक धर्मग्रन्थ का इतना अधिक उपयोग करता है, अतः मेरा विचार था कि वह उसमें से ऐसे राजाओं की सूची प्रस्तुत करेगा, जो आदम की पितृत्व की सत्ता के स्पष्ट उत्तराधिकारी हों और जिनका इस अधिकार के कारण अपनी प्रजा पर पितृत्व की सत्ता हो, जिसका वे प्रयोग करते हों। परन्तु उसने न तो यह प्रमाणित किया है कि परिवार-पिता राजा थे और न यह कि राजा या परिवार-पिता आदम के उत्तराधिकारी थे। उसने प्रयास तक नहीं किया है। यों उसकी विधि से तो कोई भी प्रमाणित कर सकता है कि परिवार-पिता सब निरंकुश सम्राट् होते थे और राजाओं तथा परिवार-पिताओं, दोनों की सत्ता केवल पितृत्व पर आधारित थी और आदम से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी। मेरा कहना है कि ऐसे कथन वेस्ट इन्डीज के बहुसंख्यक छोटे-छोटे राजाओं के अस्पष्ट वर्णन से भी ऐसे ही प्रमाणित किये जा सकते हैं; या फरडिनेन्डो सोटो (Ferdinendo Soto) से, या उत्तरी अमेरिका के किसी भी हाल के इतिहास से, या हमारे लेखक के यूनान के ७० राजाओं से या होमर से, या धर्मग्रन्थ के किसी भी अंश से, जिन्हें लेखक ने अपने बहु-संख्यक राजाओं के समर्थन में, आधार बना कर, प्रस्तुत किया है, प्रमाणित किये जा सकते हैं।

१५४. मेरे विचार से लेखक को होमर और ट्रॉय के युद्धों का उपयोग नहीं करना चाहिए था। सत्य या राजतन्त्र के लिए असीम उत्साह के कारण वह दार्शनिकों और कवियों के इतना विरुद्ध था कि वह अपनी प्रस्तावना में लिखता है, "आजकल बहुत से लोग दार्शनिकों और कवियों के विचारों का अनुसरण करते हैं, जिससे उन्हें शासन का ऐसा मूल आधार प्राप्त हो सके जिसमें उन्हें कुछ स्वतन्त्रता का अधिकार हो, जो ईसाई धर्म के विरुद्ध है और नास्तिकता का समर्थन करते हैं।" परन्तु जब यही नास्तिक दार्शनिक अरस्तू और कवि होमर, लेखक के उद्देश्य के लिए उपयोगी सिद्ध होते

हैं, तो हमारे ईसाई धर्म में उत्साह रखनेवाला यह राजनीतिज्ञ उनकी अवहेलना नहीं करता।

हम अपने लेखक के धार्मिक इतिहास पर एक दृष्टि और डालें। हमारा लेखक आगे चलकर यह बतलाता है, "जब इज़राइल निवासी बन्धन से मुक्त हो कर वापस लौट आये, तो परमेश्वर ने, उनकी विशेष चिन्ता करते हुए, मोज़ेज़ और जोशुआ को, परिवार-पतियों के स्थान पर, उन पर राजा की तरह शासन करने के लिए नियुक्त किया।" यदि यह सच है कि वे "बन्धन से मुक्त होकर वापस लौटे" तो वे अवश्य स्वतन्त्र होंगे और इससे यह भी सूचित होता है कि इस बन्धन के पहले और बाद-दोनों समय--वह स्वतन्त्र होंगे। अन्यथा, हमारे लेखक का तात्पर्य यह है कि स्वामियों का परिवर्तन ही "बन्धन से मुक्त होना है", या यह कि "एक दास तभी बन्धन से मुक्त होता है" "जब वह एक कारागार से दूसरे कारागार में भेज दिया जाता है। अस्तु, जब वे "बन्धन से मुक्त" होकर वापस लौटे, तो यह स्पष्ट है कि उस समय, पुत्र, प्रजा और दास में भिन्नता अवश्य रही होगी। हमारा लेखक अपनी प्रस्तावना में चाहे इसके विपरीत कुछ भी कहे, मिस्र में पराधीनता के न तो पहले, परिवारपति और न बाद के राजा "अपने पुत्रों और प्रजा को अपनी सम्पत्ति में गिनते थे" और न उन्हें, उनको हस्तान्तरित करने का ऐसा पूर्ण प्रभुत्व था जितना "अपनी अन्य सम्पत्ति" को।

१५५. यह जेकब से स्पष्ट हो जाता है, जिससे रयूबेन (*Renben*) ने अपने दो पुत्रों को बन्धक रूप में रखने का प्रस्ताव किया था, और जूडा, आखिरकार, बैन्जा-मिन के मिस्र से सुरक्षित लौट आने की ज़मानत बना। यह सब निरर्थक और अनावश्यक और एक प्रकार का उपहास मात्र था, यदि जेकब को अपने परिवार के हर सदस्य पर ऐसी ही सत्ता प्राप्त थी जैसी उसे अपने बैल या गधे पर अपनी सम्पत्ति के स्वामित्व में थी, तो रयूबेन या जूडा ने बैन्जामिन के लौट आने के लिए जो ज़मानत स्वरूप प्रस्ताव रखे थे, वे इसी प्रकार थे जैसे, कोई व्यक्ति अपने स्वामी की भेड़ों में से दो मेमने ले, और एक को ज़मानत स्वरूप रखने का प्रस्ताव करे जब तक वह दूसरा सुरक्षित वापस न कर दे।

१५६. इस बन्धन से मुक्त होने के पश्चात् क्या हुआ ? परमेश्वर ने इजराइल निवासियों की विशेष चिन्ता के कारण"--यह हर्ष की बात है कि कम से कम एक बार लेखक ने परमेश्वर को जनता की चिन्ता करते हुए बतलाया है, क्योंकि अन्य स्थानों पर वह मानव जाति के लिए इस प्रकार लिखता है मानो परमेश्वर को किसी मनुष्य की चिन्ता न हो, केवल उनके राजाओं की ही चिन्ता हो--"शेष व्यक्तियों का--मानव

समाजों का—इस भाँति निर्माण हुआ जैसे गाय, बैलों के झुंड का, मानो वे केवल अपने राजाओं की सेवा, उपयोग और सुख के लिए ही होते हों।"

१५७. "उसने मूसा और जोशुआ को नियुक्त किया जो क्रमशः राजाओं की तरह शासन करें।" पितृत्व की सत्ता और आदम के उत्तराधिकारियों के लिए परमेश्वर की चिन्ता को प्रमाणित करने का यह अनूठा तर्क है कि परमेश्वर अपने विशेष जनों के राजाओं के लिए ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करता है जिनमें से कोई भी पितृत्व की सत्ता का किंचित मात्र भी दावा नहीं कर सकता। मोज़ेज लेवी जाति का था और जोशुआ इफ़राइम (Ephraim) जाति का। परन्तु, हमारा लेखक कहता है कि वे सर्वोच्च पिताओं के स्थान पर नियुक्त किये गये। यदि परमेश्वर ने किसी भी स्थान पर ऐसे पिताओं के राजा होने की स्पष्ट घोषणा की होती, जैसी उसने मोज़ेज और जोशुआ के लिए की, तो शायद हम यह विश्वास कर लेते कि मोज़ेज़ और जोशुआ को "उनके स्थान पर" नियुक्त किया गया था। परन्तु यह अभी विवादग्रस्त प्रश्न है और जब तक यह प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक मोज़ेज़ का परमेश्वर द्वारा अपनी जाति का शासक नियुक्त होना यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि शासन आदम के उत्तराधिकारी को प्राप्त था या "पितृत्व" पर आधारित था, जैसे परमेश्वर द्वारा लेवी जाति के आरोन का पुरोहित नियुक्त होना यह प्रमाणित नहीं करता कि पुरोहित का पद आदम के उत्तराधिकारी को, या "आदि पूर्वजों" को प्राप्त था, क्योंकि परमेश्वर आरोन को पुजारी और मोज़ेज को इज़राइल का राजा नियुक्त कर सकता था, यद्यपि यह दोनों पद आदम के उत्तराधिकार अथवा "पितृत्व" पर आधारित नहीं थे।

१५८. हमारा लेखक आगे लिखता है, "इसी प्रकार उसने, उनके बाद कुछ समय के लिए न्यायकर्त्ता (Judges) बनाये जिससे संकट के समय जाति की रक्षा हो सके।" इससे यह प्रमाणित माना गया है कि पितृत्व की सत्ता शासन का मूल आधार है, और यह आदम से उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हुई है जैसे पिछले अंश में प्रमाणित माना गया है। यहाँ हमारा लेखक केवल यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि यह न्यायकर्त्ता, जो सभी शासक थे, केवल वीर पुरुष थे जिन्हें उन्होंने संकट के समय अपनी रक्षा के लिए, अपना सेनापति बनाया था। क्या बिना पितृत्व को शासन का मूल आधार माने, परमेश्वर ऐसे व्यक्तियों को पद प्रदान नहीं कर सकता ?

१५९. परन्तु हमारा लेखक कहता है कि जब परमेश्वर ने इज़राइल निवासियों को राजा, प्रदान किये, तो उसने पितृत्व पर आधारित शासन के वंशगत उत्तराधिकार का पुरातन और प्राथमिक अधिकार पुनःस्थापित किया।

१६०. परन्तु परमेश्वर ने उसे कैसे "पुनःस्थापित" किया ? विधान द्वारा ? या निश्चित आदेश द्वारा ? हमें ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। हमारे लेखक का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ने उन्हें जब राजा प्रदान किया, तो राजा प्रदान करने से, उसने "अधिकार पुनःस्थापित किया" आदि। पितृत्व की सत्ता के यथार्थ वंशगत उत्तराधिकार को पुनःस्थापित करने का अर्थ ऐसे व्यक्ति को शासन सौंपना है, जिसके पिताओं को वह प्राप्त रहा हो, और जिस पर उसका वंशगत उत्तराधिकार हो। क्योंकि, प्रथम—यदि वह उसके पूर्वजों को प्राप्त शासन से कोई भिन्न शासन हो, तो वह "पुरातन अधिकार" का उत्तराधिकार प्राप्त करना नही कहा जा सकता, वरन् एक नये अधिकार का आरम्भ माना जायगा। यदि कोई राजा एक व्यक्ति को उसकी पुरातन पैतृक सम्पत्ति, जो कुछ समय से उसके परिवार से छीन ली गयी हो, के अतिरिक्त एक और सम्पत्ति प्रदान करे जो कभी उसके पूर्वजों की सम्पत्ति का भाग न रही हो, तो इसे "वंशागत उत्तराधिकार की पुनःस्थापना" नही कहा जा सकता; केवल उसी भाग के लिए "अधिकार की पुनःस्थापना" मानी जायगी, जो उसके पूर्वजों को पहले प्राप्त था। अतः यदि इजराइल के राजाओं को आइजक या जेकब से अधिक सत्ता प्राप्त हुई, तो उनमें ऐसी सत्ता के उचित उत्तराधिकार की "पुनःस्थापना" होना नहीं कहा जा सकता, वरन् उनका एक नयी सत्ता प्राप्त करना कहा जायगा; आप इस सत्ता को चाहे जिस नाम से पुकारें—उसे "पितृत्व की सत्ता" कहें या न कहें ? क्या आइज़क और जेकब को उतनी ही सत्ता प्राप्त थी जितनी इज़राइल के राजाओं को ? मैं आपको ऊपर लिखे अंशों के आधार पर इस पर विचार करने को कहूँगा और मेरे विचार से आपको कहीं ऐसा नहीं मिलेगा कि एब्राहम, आइज़क या जेकब को किसी प्रकार की राजकीय सत्ता प्राप्त थी।

१६१. जब तक "वंशागत उत्तराधिकार के पुरातन और आदि अधिकार" का दावा करनेवालों को उत्तराधिकार का अधिकार न हो और वे अपने पूर्वजों के अगले और सच्चे उत्तराधिकारी न हों, तब तक इसकी "पुनःस्थापना" नहीं मानी जा सकती। यदि शासन-सत्ता एक नये परिवार को प्राप्त हो, तब क्या हम उसे "पुनःस्थापित" कह सकते हैं ? यदि सिंहासन ऐसे व्यक्ति को दिया जाय जिसे उत्तराधिकार का कोई अधिकार न हो, जिसका वंशागत उत्तराधिकारी के सामने किसी दावे का कोई हक न हो, तब क्या हम यह कहेंगे कि "वंशागत उत्तराधिकार का पुरातन अधिकार पुनःस्थापित" हुआ है ? परमेश्वर ने इज़राइल निवासियों को पहला राजा साउल प्रदान किया ? साउल बेन्जामिन की जाति का था। क्या "वंशागत उत्तराधिकार का पुरातन और

प्राथमिक अधिकार" इसके द्वारा "पुनःस्थापित" किया गया ? दूसरा राजा डेविड था जो जेसी (Jesse) का सबसे छोटा पुत्र और जेकब के तृतीय पुत्र जूडा के वंश का था। क्या "परम्परागत उत्तराधिकार का पुरातन और प्राथमिक अधिकार" उसमें पुनःस्थापित किया गया ? या उसके छोटे पुत्र और उत्तराधिकारी सोलोमन में ? या दस जाति के राजा जेरोबोआम (Jeroboam) में ? या अथालिया (Athaliah) में, जिसने छः वर्ष राज्य किया और जिसमें नाम मात्र को भी राजवंश का रक्त नहीं था ? यदि इनमें से किसी में भी, या उनके वंश में, "पितृत्व की सत्ता का वंशागत उत्तराधिकार का पुरातन और प्राथमिक अधिकार पुनःस्थापित" किया गया था, तो "पितृत्व की सत्ता का वंशागत उत्तराधिकार का प्राथमिक और पुरातन अधिकार" छोटे और बड़े, दोनों भाइयों को प्राप्त मानना पड़ेगा और यों तो वंशागत उत्तराधिकार के पुरातन और प्राथमिक अधिकार द्वारा छोटे या बड़े भाई को जो अधिकार प्राप्य होगा, उससे वह किसी भी व्यक्ति में "पुनःस्थापित" किया जा सकेगा और तब हर व्यक्ति को वंशगत उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त हो सकता है—सर रॉबर्ट को या और किसी को भी। लेखक ने अपने "पितृत्व पर आधारित", "राजतन्त्रीय" शासन को वंशागत उत्तराधिकार द्वारा, राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए कितने बढ़िया अधिकार की पुनःस्थापना की है, जो हर व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है; इस पर पाठक स्वयं विचार करें।

१६२. परन्तु हमारा लेखक कहता है "जब कभी भी परमेश्वर ने किसी विशेष व्यक्ति को राजा बनाया, तो यद्यपि अनुदान केवल पिता के नाम ही था, उसका अभिप्राय यह था कि उसकी सन्तान को भी उसका उपभोग प्राप्त हो, क्योंकि सन्तान भी पिता के व्यक्तित्व में समाविष्ट होती है।" इससे भी उत्तराधिकार निर्धारित करने में सहायता नहीं मिलेगी, क्यों कि यदि हमारे लेखक के अनुसार अनुदान का लाभ, अनुदान प्राप्त करनेवाले की सन्तान के लिए भी लक्षित माना जाय, तो इससे उत्तराधिकार का निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि परमेश्वर ने कुछ भी एक व्यक्ति और सामान्य रूप से उसकी सन्तान को दिया, तो उस पर उसकी एक विशेष सन्तान का दावा नहीं हो सकता। उसके वंश के हर व्यक्ति को समान उत्तराधिकार होगा। यदि यह कहा जाय कि हमारे लेखक का अर्थ उत्तराधिकारी से था, तो मेरा विचार है कि हमारा लेखक या अन्य कोई भी इस शब्द का प्रयोग कर सकता था। परन्तु इससे भी उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता। सौलोमन को डेविड का राजसिंहासन प्राप्त हुआ था, उसे उतना ही उत्तराधिकार था, जितना जैरोबोआम (Jeroboam)

को, जिसने उसके बाद दस जातियों का शासन प्राप्त किया था। उनमें पिता-पुत्र का सम्बन्ध नहीं था। हमारा लेखक यह नहीं कहना चाहता कि परमेश्वर का अभिप्राय उत्तराधिकारियों से था, क्योंकि वास्तव में कुछ उत्तराधिकारियों को शासन सत्ता प्राप्त नही हुई, कारण कि जिन्हें प्राप्त हुई उन्हें हमारा लेखक वर्जित नहीं कर सकता था। अतः जानबूझकर उसने उत्तराधिकार का सिद्धान्त इतना स्पष्ट रखा है मानो उस पर उसने कुछ कहा ही न हो। यदि परमेश्वर ने राजतन्त्रिक सत्ता एक व्यक्ति और उसकी सन्तान को दी, जैसे केनान का प्रदेश एब्राहम और उसके वंश को दिया, तो क्या सब सन्तान को उसका अधिकार न होना चाहिए—उसमें सबका भाग न होना चाहिए ? यदि हम यह कहें कि परमेश्वर के अनुदान से एब्राहम और उसके वंश को केनान का जो प्रदेश प्राप्त हुआ, वह केवल उसी के वंश की सम्पत्ति हो सकती थी और अन्य किसी की नहीं; तो इसी तरह परमेश्वर के अनुदान द्वारा किसी व्यक्ति और "उसी की सन्तान" को जो आधिपत्य प्राप्त हुआ, वह केवल उसी के वंश की सम्पत्ति हो सकती है, अन्य की नहीं।

१६३. परन्तु हमारा लेखक इसे कैसे प्रमाणित कर सकता है कि जब कभी परमेश्वर ने किसी व्यक्तिविशेष को राजा बनने के लिए चुना तो उसका अभिप्राय यह था कि उसकी सन्तान को भी उसका लाभ प्राप्त हो ? क्या वह इतनी जल्दी मोज़ेज़ और जोशुआ को भूल गया जिनके लिए वह इसी भाग में कहता है कि उन्हें "परमेश्वर ने विशेष सावधानी से, शासन करने के लिए शासक नियुक्त किया।" क्या वह परमेश्वर द्वारा नियुक्त न्यायकर्त्ताओं को भूल गया ? क्या इन शासकों को "पितृत्व पर आधारित सर्वोच्च सत्ता" प्राप्त होने के कारण, राजाओं के बराबर सत्ता प्राप्त नहीं थी और चूँकि परमेश्वर ने उन्हें विशेष सावधानी से चुनकर नियुक्त किया था, तो क्या उनकी "संतान" को, डेविड और सोलोमन की तरह ऐसी नियुक्ति का लाभ प्राप्त न होना चाहिए ? यदि उन्हें स्वयं परमेश्वर के हाथों से सत्ता प्राप्त हुई थी, तो इनकी 'सन्तान' को इस अनुदान का लाभ क्यों प्राप्त नहीं हुआ और वे इस सत्ता के उत्तराधिकारी क्यों नहीं हुए ? और यदि उन्हें आदम के उत्तराधिकारी होने के कारण यह सत्ता प्राप्त हुई थी तो उनके उत्तराधिकारियों को इसका उपभोग करने का अधिकार वंशानुक्रम से क्यों प्राप्त नहीं हुआ ? मैं पूछता हूँ कि, क्या मोज़ेज़, जोशुआ और न्यायकर्त्ताओं को जो सत्ता प्राप्त थी, वह डेविड और अन्य राजाओं की सत्ता के समान थी, और क्या दोनों का मूल आधार एक ही था ? क्या उसका एक को प्राप्त होना अनिवार्य था और दूसरे को नहीं ? यदि यह "पितृत्व पर

आधारित सत्ता" नहीं थी, तो आप मानेंगे कि स्वयं परमेश्वर के अपने प्रिय जनों पर शासन ऐसों को प्राप्त था, जिन्हें सत्ता "पितृत्व के उत्तराधिकार" के आधार पर प्राप्त नहीं थी, परन्तु शासक इस सत्ता के अभाव में भी मान्य और कुशल शासक थे। यदि उनकी सत्ता "पितृत्व के अधिकार" पर आधारित थी, और परमेश्वर ने उसका उपयोग करनेवाले व्यक्तियों को नियुक्त किया था, तो हमारे लेखक का यह नियम लागू नहीं होता कि "जब कभी भी परमेश्वर सर्वोच्च शासक को चुनता है (मेरे विचार से "राजा" शब्द के प्रयोग की यहाँ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पद का नहीं, सत्ता का महत्व है। उसका अभिप्राय यही होता है कि सन्तान को भी उसका लाभ प्राप्त हो"। मिस्र से मुक्त होकर लौटने के बाद डेविड के समय तक (४०० वर्ष) सत्ता कभी भी "पिता के व्यक्तित्व में इतनी पर्याप्त रूप से समाविष्ट नहीं हुई थी" कि इज़राइल पर शासन करनेवाले शासकों के किसी भी पुत्र ने, अपने पिता की मृत्यु के बाद शासन पर उत्तराधिकार का दावा किया हो। यदि इस तर्क से बचने के लिए यह कहा जाय कि परमेश्वर ने सदैव स्वयं उत्तराधिकारी को चुना और इससे "पितृत्व की सत्ता" हस्तान्तरित होकर उसे प्राप्त हो गयी, परन्तु उसकी सन्तान उत्तराधिकार से वंचित रखी गयी, तो उत्तर यह है कि ऐसा स्पष्टतः जैफथा के विषय में नहीं कहा जा सकता जहाँ उसने जनता के साथ अनुबन्ध किये और उन्होंने उसे अपना न्यायकर्त्ता बनाया जैसा जजेज़ ११ से स्पष्ट है।

१६४. अतः यह कहना निरर्थक है कि "जब भी परमेश्वर किसी विशेष व्यक्ति को पितृत्व की सत्ता का प्रयोग करने के लिए चुनता है (क्योंकि यदि उसे राजा नहीं माना जाता, तो मैं जानना चाहूँगा कि राजा और "पितृत्व की सत्ता" का प्रयोग करनेवालों में क्या अन्तर है ? "तो उसका अभिप्राय यह होता है कि सन्तान को भी उससे लाभ हो" क्योंकि हम देखते हैं कि न्यायकर्ताओं को जो सत्ता प्राप्त थी वह उन्हीं के साथ समाप्त हो गयी और उनकी सन्तान को उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हुई। यदि न्यायकर्त्ताओं को प्राप्त सत्ता "पितृत्व के अधिकार पर आधारित सत्ता" नहीं थी, तो हमारा लेखक या उसके सिद्धान्त के समर्थक हमें यह बतलाने का कष्ट करें कि यह सत्ता अर्थात् इज़राइल निवासियों में शासन की तथा सर्वोच्च सत्ता तब किसे प्राप्त थी ? मैं निश्चित हूँ कि उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि परमेश्वर के अपने प्रिय जनों में सैकड़ों वर्षों तक "पितृत्व के अधिकार पर आधारित सत्ता" की धारणा नहीं थी और उनमें राजतन्त्रिक शासन का विकास नहीं हुआ था।

१६५. वह केवल लेवी की जाति का इतिहास और उसका बेन्जेमिन की जाति से

युद्ध के वृत्तान्त को पढ़े जो जजेज़ के अन्तिम तीन अध्यायों में दिया गया है और उसे जब यह लिखा मिलेगा कि लेवी की जाति ने जनता से न्याय के लिए अपील की, और जाति तथा धार्मिक समाज ने ही उस पर वाद-विवाद और निर्णय किया और आज्ञा दी कि उक्त अवसर पर क्या उचित है, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि या तो परमेश्वर ने अपने प्रिय जनों में "पितृत्व के आधार पर आधारित सत्ता" को सुरक्षित रखने का यत्न नहीं किया, या "पितृत्व की सत्ता" वहीं सुरक्षित रखी जा सकती है जहाँ राजतन्त्रिक शासन नहीं होता। यदि हम दूसरे निष्कर्ष को ग्रहण करें, तो उसके यह अर्थ होंगे कि यद्यपि "पितृत्व की सत्ता" उचित रूप से प्रमाणित नहीं हुई है, उसमें राजतन्त्रिक शासन का होना अवश्यम्भावी नहीं है। यदि पहले निष्कर्ष को ग्रहण करें तो यह आश्चर्यजनक प्रतीत होगा कि यदि परमेश्वर ने "पितृत्व की सत्ता" को इतना पवित्र स्थान दिया कि उसके बिना कोई शासन या सत्ता नहीं बन सकती; और फिर भी अपने ही प्रिय जनों में, उनको शासन प्रदान करते समय और उसमें अनेक राज्यों के तथा मनुष्यों के सम्बन्धों के नियम बनाते समय, इस महान् और मुख्य नियम की, जो सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण था, चार सौ वर्ष तक अवहेलना की और यह नियम अज्ञात रहा।

१६६. इस लेख को समाप्त करने के पूर्व, मैं अपने लेखक से यह अवश्य पूछूँगा कि उसने यह निष्कर्ष कैसे निकाला कि "जब कभी भी परमेश्वर किसी व्यक्तिविशेष को राजा नियुक्त करता है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि सन्तान को भी उसका लाभ प्राप्त हो।" क्या इसे परमेश्वर प्राकृतिक विधान द्वारा या अपने प्रकटित सत्य द्वारा स्थापित करता है ? उसी विधि द्वारा परमेश्वर को यह भी बतलाना चाहिए कि "सन्तानों" में किसे राजसिंहासन उत्तराधिकार में प्राप्त होना चाहिए, जिसके द्वारा उत्तराधिकारी स्पष्ट प्रकट हो, अन्यथा, "सन्तानों" में शासन का विभाजन या परस्पर संघर्ष अवश्यम्भावी होगा। दोनों ही समान रूप से असंगत हैं और दोनों ही "सन्तान" के ऐसे अनुदान द्वारा प्राप्त लाभ को नष्ट कर देते हैं। जब कभी भी परमेश्वर का ऐसा मन्तव्य प्रकट होगा, तो इस पर विश्वास करना हमारा कर्त्तव्य हो जायगा कि परमेश्वर का यह मन्तव्य है। परन्तु जब तक ऐसा मन्तव्य प्रकट नहीं होता, हमारे लेखक को कुछ अधिक उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए, जिसके आधार पर हम उसे परमेश्वर के मन्तव्य को सच्चाई से प्रकट करनेवाला समझने को बाध्य हों।

१६७. हमारा लेखक कहता है कि "पिता के व्यक्तित्व में सन्तान भी पर्याप्त रूप से समाविष्ट है, यद्यपि अनुदान में केवल पिता का ही नाम है।" फिर भी परमेश्वर

ने जब एब्राहम को केनान का प्रदेश दिया (जेनेसिस १३, १५) तो उसने अनुदान देते समय "उसकी सन्तान" का भी उल्लेख करना उचित समझा, और इसी प्रकार पुजारी का पद "आरोन और उसकी सन्तान" को दिया गया। परमेश्वर ने राजसिंहासन केवल डेविड को नहीं पर "उसकी सन्तान" को भी दिया। हमारा लेखक चाहे जितना हमें विश्वास दिलाये कि परमेश्वर का "अभिप्राय यह है कि सन्तान को भी उससे लाभ प्राप्त हो, जब वह किसी व्यक्ति को राजा नियुक्त करे", फिर भी हम देखते हैं कि उसने साउल को साम्राज्य प्रदान किया जिसमें "उसकी सन्तान" का उल्लेख नहीं किया, और वस्तुतः, साउल की किसी संतान को राज्य प्राप्त नहीं हुआ। इसका क्या उत्तर है कि परमेश्वर जब किसी व्यक्ति को राजा नियुक्त करे, तो उसका यह अभिप्राय हो कि उसकी सन्तान को भी उससे लाभ प्राप्त हो, परन्तु इज़राइल के न्यायकर्त्ता नियुक्त करते समय ऐसा न हो। मुझे इसका कारण जानकर बहुत प्रसन्नता होगी। राजा के "पितृत्व की सत्ता" के अनुदान में सन्तान समाविष्ट क्यों है और न्यायकर्त्ता के ऐसे ही अनुदान में क्यों नहीं? क्या पितृत्व पर आधारित सत्ता का अधिकार एक में तो सन्तान के उत्तराधिकार से प्राप्त होगा और दूसरे में नहीं? इस भिन्नता के लिए कुछ कारण बतलाने की आवश्यकता है; केवल नाम की भिन्नता पर्याप्त नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अनुदान में दी गयी, वह एक ही थी, और वह किस रूप में दी गयी केवल यह परमेश्वर द्वारा व्यक्ति के चुनाव पर निर्भर है। जब हमारा लेखक न्यायकर्त्ताओं के लिए कहता है "परमेश्वर ने न्यायकर्त्ता बनाये" तो मेरे विचार से उसका यह अर्थ तो कभी नहीं होगा कि वे जनता के द्वारा चुने गये।

१६८. चूँकि हमारा लेखक इतने निश्चयपूर्वक हमें परमेश्वर द्वारा "पितृत्व के अधिकार" को सुरक्षित रखने के यत्न का विश्वास दिलाता है और अपने सब सिद्धान्तों का आधार धर्मग्रन्थ को ही मानता है, तो हमारी ऐसी आशा उचित है कि उन जातियों में—जिनके विधान, संविधान और इतिहास धर्मग्रन्थ में लिखे हुए हैं और जिनके लिए परमेश्वर को विशेष चिन्ता थी, लेखक को परमेश्वर द्वारा पितृत्व की सत्ता को सुरक्षित रखने के यत्न के स्पष्टतम उदाहरण प्राप्त हो सकेंगे। अतः हम देखें कि यहूदियों में, जब से उन्होंने जाति का रूप ग्रहण किया, इस "पितृत्व की सत्ता" और शासन की क्या स्थिति थी। यह तो हमारा लेखक स्वयं स्वीकार करता है कि उनके मिस्र में जाने, और वहाँ से बंधन मुक्त होकर लौट आने तक—प्रायः २०० वर्षों से अधिक समय तक—यह सत्ता नहीं थी। इसके बाद, जब तक परमेश्वर ने इज़राइल नवासियों को राजा प्रदान नहीं किये—यानी प्रायः ४०० वर्ष के बारे में लेखक ने

बहुत कम ही लिखा है। सच यह है कि इस कालान्तर में यहूदियों में पितृत्व पर आधारित सत्ता के या राजतन्त्रीय शासन के कोई चिह्न नहीं मिलते। फिर भी, हमारा लेखक कहता है "परमेश्वर ने पितृत्व की सत्ता पर आधारित शासन के वंशागत उत्तराधिकार का पुरातन और प्राथमिक अधिकार पुनःस्थापित किया।"

१६९. इससे "पितृत्व की सत्ता का कैसा अद्भुत वंशागत उत्तराधिकार" स्थापित हुआ, यह हम पहले ही देख चुके हैं। अब मैं केवल यह विचार करूँगा कि यह कितने काल तक स्थापित रहा। यह यहूदियों के पराधीन होने तक रहा——प्रायः ५०० वर्ष; उसके बाद रोम द्वारा उनके पतन तक——प्रायः ६५० वर्ष तक "यह पितृत्व की सत्ता का वंशागत उत्तराधिकार का प्राथमिक और पुरातन अधिकार" रहा और फिर अदृश्य हो गया और यहूदी जाति पवित्र भूमि में इससे विमुख विद्यमान रही। अतः उन १७५० वर्षों में, जब वे परमेश्वर की विशेष प्रिय जाति के रूप में रहे, उनमें वंशानुक्रमिक राजकीय शासन केवल इसके एक तिहाई समय तक ही था और इस कालान्तर में भी पितृत्व की सत्ता पर आधारित शासन के उत्तराधिकार का एक भी महत्त्वपूर्ण उदाहरण नहीं मिलता न "उसके वंशागत उत्तराधिकार के पुरातन और प्राथमिक अधिकार" की पुनःस्थापना का ही, चाहे हम उसे उसके मूल आधार, डेविड, साउल, एब्राहम या जो हमारे लेखक के सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र सच्चा आधार है–आदम से······व्युत्पन्न मानें।

द्वितीय खण्ड

शासन के सच्चे स्रोत, सीमा तथा उद्देश्य विषयक निबन्ध

अध्याय १

राजनीतिक सत्ता का आधार

१. पूर्वगामी निबन्ध में प्रमाणित किया जा चुका है कि—

प्रथम—न तो पितृत्व के प्राकृतिक अधिकार के आधार पर, और न परमेश्वर के निश्चित अनुदान द्वारा आदम को अपनी सन्तान पर ऐसी कोई सत्ता, या संसार पर ऐसा कोई आधिपत्य जिसका दावा किया जाता है प्राप्त था।

द्वितीय—यदि आदम को ऐसा कोई अधिकार था भी, तो उसके उत्तराधिकारियों को वह प्राप्त नहीं हुआ।

तृतीय—यदि उसके उत्तराधिकारियों को ऐसा अधिकार प्राप्त भी हुआ, तो प्रत्येक संभावित अवस्था में, सच्चे उत्तराधिकारी को पहचानने के लिए कोई भी प्राकृतिक विधान या परमेश्वरीय विधान मौजूद नहीं है, अतः उत्तराधिकार और परिणामतः शासनाधिकार का निश्चित रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता।

चतुर्थ—यदि इस प्रकार का निर्धारण मौजूद भी हो, तो आदम की सन्तानों में से ज्येष्ठ पुत्र के वंश का इतिहास पूर्ण रूप से अज्ञात होने के कारण, संसार के परिवारों और मानव समाज की जातियों में से किसी भी एक वंश को आदम के ज्येष्ठ पुत्र का वंशज होने के कारण अन्य वंशों की अपेक्षा ज्येष्ठतम होने का दावा करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

इन सबको, मेरे विचार से, स्पष्टतया प्रमाणित किया जा चुका है। अतः यह असम्भव है कि संसार के वर्तमान राजा इससे कुछ लाभ उठा सकें, या, इस समस्त सत्ता के स्रोत माने जानेवाले "आदम के निजी आधिपत्य और पितृत्व पर आधारित अधिकारों" के आधार पर किसी भी मात्रा में अपनी सत्ता का औचित्य प्रमाणित करने का प्रयत्न करें। ऐसे व्यक्ति को, जो यह मानने को तैयार नही कि संसार के सब शासन केवल बल और हिंसा के ही परिणाम हैं और मनुष्य केवल उस पाशवी व्यवस्था के अनुसार ही जीवनयापन करते हैं जहाँ सबसे अधिक शक्तिवाला ही सत्ता प्राप्त करता है, तथा जिस व्यवस्था के कारण चिरस्थायी अराजकता, अनिष्ट, दंगा, राजद्रोह और विद्रोह की नींव पड़ती है (इस सिद्धान्त के अनुयायी इन्हीं का बहुत बलपूर्वक प्रतिरोध

करते हैं) शासन का कोई अन्य आधार, राजनीतिक सत्ता का कोई अन्य मूल आधार ढूंढ़ना पड़ेगा, और सत्ता के औचित्य और सत्ताधिकारी के अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए दूसरे साधन ढूंढ़ने होंगे। इसके लिए सर रॉबर्ट फ़िलमर के सिद्धान्त उपयोगी न होंगे।

२. इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, मेरे विचार से, उचित होगा कि मैं राजनीतिक सत्ता पर अपने विचार प्रकट करूँ। राजकीय अधिकारी की प्रजा के ऊपर जो सत्ता होती है, वह पिता को अपनी सन्तान पर, गृहपति को अपने भृत्य पर, पति को अपनी पत्नी पर और मालिक को अपने दास पर प्राप्त सत्ता से भिन्न प्रकार की होती है। कभी-कभी, ये विभिन्न सत्ताएँ एक ही व्यक्ति में न्यस्त होती हैं। यदि हम इस बारे में, इन भिन्न सम्बन्धों की दृष्टि से विचार करें, तो हमें इन सत्ताओं की परस्पर विभिन्नता मालूम करने में सहायता मिलेगी और हमें विदित होगा कि राज्य के राजा, परिवार के पिता और युद्धपोत के कप्तान की सत्ताओं में क्या भेद है

३. मेरा विचार है कि राजनीतिक सत्ता विधि निर्माण का अधिकार है। विधि में मृत्युदंड देने की और सम्पत्ति के नियम और सुरक्षा के लिए अन्य छोटे-मोटे दण्ड देने की व्यवस्था होती है तथा समाज की शक्ति का इन विधानों के निष्पादन में उपयोग करने की, और वैदेशिक आक्रमण से देश की सुरक्षा की व्यवस्था होती है, और इनका प्रयोग केवल जनहित के लिए होता है।

अध्याय २

प्राकृतिक अवस्था

४. राजनीतिक सत्ता को ठीक तरह समझने के लिए, और उसका मूल आधार जानने के लिए, हमें यह विचार करना होगा कि मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था क्या है ? प्राकृतिक विधान की सीमा में रहते हुए किसी दूसरे मनुष्य की इच्छा या अनुमति से स्वतन्त्र अपना कार्य करने की, अपनी सम्पत्ति और व्यक्तित्व की अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था ही मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है।

यह अवस्था समानता की है। इसमें प्रत्येक को सब अधिकार, समान रूप से, होते हैं, किसी को अन्य से अधिक नहीं। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि एक ही जाति और पद के जीव प्राकृतिक नियमानुसार अभिन्न रूप से, समान गुण सम्पन्न दशा में जन्म लेते हैं। जब तक उन सबका स्वामी और सम्राट् परमेश्वर, अपनी इच्छा की स्पष्ट घोषणा द्वारा एक को दूसरे से श्रेष्ठ नियुक्त न करे और स्पष्ट तथा निश्चित नियुक्ति द्वारा आधिपत्य और संप्रभुता का निश्चित अधिकार प्रदान न करे तब तक इन गुणों का उपयोग करनेका साधन भी उनमें परस्पर समान होना चाहिए और किसी को दूसरे के अधीन न रहना चाहिए।

५. मनुष्यों की यह प्राकृतिक समानता विद्वान् हुकर (Hooker) को इतनी स्पष्ट और सन्देह रहित प्रतीत हुई कि उसने इसे मनुष्यों में पारस्परिक प्रेम के उस बंधन का आधार माना जिस पर वह उनके पारस्परिक कर्तव्यों की स्थापना करता है और जिनके आधार पर उसने न्याय और दया के महान् सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके शब्द यह हैं—

"मनुष्य समान प्रकृति से प्रेरित होकर यह परस्पर अनुभव करते हैं कि उनका एक दूसरे से प्रेम करना वैसा ही कर्त्तव्य है जैसा कि अपने आपसे। चूँकि, सबके गुण समान हैं, अतः सबकी आवश्यकताएं भी समान हैं। यदि मैं अपने हितों की रक्षा चाहूँ, जैसा अन्य सब लोग चाहते हैं, तो दूसरों के समान हितों की पूर्ति में योग दिये बिना मैं दूसरों से अपने भले की कैसे आशा कर सकता हूँ ? अपने हितों के प्रति शुभेच्छा, निसन्देह निर्बल ही होती है। यदि मै उनके हितों को हानि पहुँचाऊँ तो उन्हें

उतना ही दुःख होगा जितना मुझे अपने हितों के अनिष्ट से होगा। अतः यदि मैं दूसरों का अनिष्ट करता हूँ तो मुझे भी ऐसा ही अनिष्ट भोगने को तैयार रहना चाहिए। कोई कारण नहीं है कि उनके प्रति मेरे प्रेम से कहीं अधिक वे मुझसे प्रेम करें। अतः प्रकृति में जो मेरे समान हैं, उनसे प्रेम प्राप्त करने की मेरी इच्छा, यथासंभव मुझे इस प्राकृतिक कर्त्तव्य के लिए बाध्य करती है कि मैं भी उनके प्रति पूर्णरूप से समान प्रेम दर्शाऊँ। हमारे तथा जो हमारे समान हैं, उनके सम्बन्धों में स्वाभाविक विवेक तत्त्व के आधार पर जीवन के संचालन के लिए जो नियम है और जो व्यवस्था बनी है, वह सबको विदित है" (लॉज ऑव इक्लिजियेस्टिकल पौलिटी ?)[1]।

६. यद्यपि यह अवस्था स्वतन्त्रता की अवस्था अवश्य है, परन्तु वह उच्छृंखलता की अवस्था नहीं है। यद्यपि इस अवस्था में मनुष्य को अपनी सम्पत्ति या व्यक्तित्व की स्वेच्छापूर्वक व्यवस्था करने की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता है, परन्तु उसे अपने को, या अपने अधीनस्थ किसी जीव को नष्ट करने की स्वतन्त्रता नहीं है। यदि अपने अधीनस्थ किसी जीव को नष्ट करने से किसी उच्चतर उद्देश्य की प्राप्ति होती हो, तभी उसे नष्ट किया जा सकता है। प्राकृतिक दशा में व्यवस्था के लिए, प्राकृतिक विधान है, जो सर्वमान्य है। विवेकतत्त्व यह विधान है। समस्त जिज्ञासु मानव जाति को यह विधान शिक्षा देता है कि सब मनुष्य समान और स्वतन्त्र हैं, अतः किसी को अन्य के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का अनिष्ट नहीं करना चाहिए। सब मनुष्यों को एक सर्वशक्तिशाली और अनन्त बुद्धिमान् सृष्टिकर्त्ता ने बनाया है, और सब एक ही प्रभु, स्वामी के सेवक हैं और उन्हें इस संसार में उसी सृष्टिकर्त्ता के आदेश से और उसी के कार्य से भेजा गया है। वे उसी परमात्मा की सम्पत्ति हैं, जिसकी वह कृति हैं और अपने या अन्य के इच्छानुसार नहीं, वरन्, उसी की इच्छानुसार प्राणवायु चलती है। सब मनुष्यों में समान क्षमता होती है और सबकी प्रकृति समान होती है, अतः हममें से किसी को ऐसा अधिकार नहीं है जिसके बल पर एक दूसरे को नष्ट कर सकें या एक दूसरे को अपना साधन बना सकें जैसे निम्न कोटि के जीव, मनुष्य के साधन होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन रक्षा करता है और जीने की इच्छा स्वतः नहीं त्यागता, इसी प्रकार उसे, यथासंभव, शेष मानव जाति के जीवन की भी रक्षा करने का प्रयास करना चाहिए, यदि इसके कारण स्वयं उसकी सुरक्षा का प्रश्न न उपस्थित होता हो। अपराधी को दण्ड देने के अतिरिक्त, उसे किसी अन्य

१. Laws of Ecclisiastical Polity

का जीवन हरण करने का अधिकार नहीं है और न उसे किसी के जीवन, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य, अंग या सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का ही अधिकार है।

७. व्यक्ति एक दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण न कर सकें, एक दूसरे का अनिष्ट न करें और समस्त मानव जाति में शान्ति और जीवन की सुरक्षा स्थापित करनेवाले प्राकृतिक विधान का पालन हो, इस हेतु, इस अवस्था में, प्राकृतिक विधान के निष्पादन करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस विधान का अतिक्रमण रोकने के हेतु, इसका उल्लंघन करनेवालों को उचित दण्ड देने का अधिकार होता है। यदि प्राकृतिक अवस्था में इस विधान के निष्पादन की सत्ता, जिससे निरपराधियों की जीवन-रक्षा हो सके और अपराधियों पर रोक रहे, किसी को प्राप्त न हो, तो इस संसार के अन्य मानवीय विधानों की भाँति, प्राकृतिक विधान निरर्थक होगा। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अनिष्ट कार्य के लिए अनिष्टकारी को दण्ड दे सकता है; क्योंकि पूर्ण समानता की अवस्था में, जिसमें प्रकृतिवश, किसी को दूसरे पर कोई श्रेष्ठता या अधिकार प्राप्त नहीं है, इस विधान के निष्पादन का अधिकार प्रत्येक के लिए आवश्यक है।

८. अतः प्राकृतिक अवस्था में, एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता अवश्य होती है, परन्तु यह सत्ता निरंकुश या स्वेच्छाचारी सत्ता नहीं है। कोई व्यक्ति अपराधी को पकड़ने के बाद उन्मुक्त क्रोध और उग्र भावावेग के वशीभूत हो जैसा चाहे दण्ड नहीं दे सकता। स्थिर विवेक के आधार पर ही वह केवल उतना ही प्रतिशोध ले सकता है जितना क्षति की पूर्ति के लिए तथा भविष्य में अपराध रोकने के लिए पर्याप्त हो। केवल यही दो कारण हैं, जिनके लिए एक व्यक्ति दूसरे का वैधानिक रूप से अनिष्ट कर सकता है जिसे हम दण्ड कहते हैं। प्राकृतिक विधान का उल्लंघन करने के कारण अपराधी अपने को विवेक और लोक न्याय के नियम का शत्रु घोषित कर देता है। इन नियमों को परमेश्वर ने मनुष्यों के व्यवहार पर, उनकी पारस्परिक सुरक्षा के लिए स्थापित किया है। ऐसा व्यक्ति मानव जाति के लिए अनिष्टकारी होता है। चूँकि उसने मानव जाति को हानि पहुँचायी है, हिंसा से सुरक्षित रखनेवाले विधान की अवहेलना करके उसे भंग किया है और समस्त मानव जाति और प्राकृतिक विधान द्वारा स्थापित उसकी शान्ति और सुरक्षा का अतिक्रमण किया है, अतः प्रत्येक व्यक्ति, मानव जाति को सुरक्षित रखने के अधिकार के आधार पर अपराधी को पकड़ सकता है और जहाँ ऐसी आवश्यकता हो वहाँ मानव जाति के प्रति इस अनिष्ट को नष्ट कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति विधान का उल्लंघन करनेवाले का ऐसा

अनिष्ट कर सकता है, जिससे वह अपने दुष्कर्म पर पश्चात्ताप करे, और उसे, तथा उसके उदाहरण से दूसरों को वैसा ही अनिष्ट करने का साहस न हो। इस आधार पर, प्रत्येक व्यक्ति को अपराधी को दण्ड देने और प्राकृतिक विधान को निष्पादित करने का स्वाभाविक अथवा सहज अधिकार है।

९. मुझे सन्देह नहीं है कि कुछ व्यक्तियों को यह सिद्धान्त बड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत होगा, परन्तु इसको अस्वीकार करने के पूर्व, मैं उनसे इसका समाधान माँगता हूँ कि कोई भी राजा या राज्य किस अधिकार से अपने देश में किये गये अपराध के लिए किसी विदेशी नागरिक को दण्ड या मृत्युदण्ड देता है? यह निश्चित है कि उस राज्य के विधान, जिनका निर्माण व्यवस्थापिका की घोषित इच्छा के आधार पर होता है, विदेशियों पर व्यवस्थापिका की इच्छा के आधार पर लागू नहीं हो सकते। विदेशियों के लिए यह विधान नहीं बने हैं और यदि उनके लिए बने भी हैं, तो वे उन्हें मानने के लिए बाध्य नहीं किये जा सकते। जो व्यवस्थापक सत्ता विधान को उस राज्य की प्रजा के ऊपर लागू करती है, उस सत्ता का विदेशियों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। इंग्लैंड, फ्रांस या हालैण्ड में विधि निर्माण की सर्वोच्च सत्ताप्राप्त व्यक्तियों को, भारतीय या शेप संसार के अन्य निवासियों पर कोई सत्ता प्राप्त नहीं है। यदि प्राकृतिक विधान द्वारा, प्रत्येक व्यक्ति को, प्रकृति के विरुद्ध अपराधों को दण्ड देने का अधिकार, जिसे वह स्थिर बुद्धि द्वारा आवश्यक समझे, न माना जाय, तो कोई मुझे यह बतलाये कि किसी देश के राजकीय अधिकारी अन्य देश के नागरिकों को किस अधिकार के आधार पर दण्ड देते हैं? यह स्पष्ट है कि जहाँ तक विदेशियों का सम्बन्ध है, राजकीय अधिकारियों को उन पर केवल वही सत्ता प्राप्त है जो प्राकृतिक अवस्था में, प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर होती है।

१०. विधानों का उल्लंघन करने और विवेक के उचित नियम के विपरीत कार्य करने से एक व्यक्ति इतना पतित हो जाता है और मानव स्वभाव के नियमों को त्यागने की घोषणा करके अनिष्टकारी जीव बन जाता है कि, सामान्यतः किसी न किसी व्यक्ति की उसके दुष्कर्म से क्षति होती है। ऐसी परिस्थिति में, जिसकी हानि होती है, उसको (सबके साथ, सामान्य रूप से, दण्ड देने के अधिकार के अलावा) हानि करनेवाले से क्षति पूर्ति कराने का विशेषाधिकार होता है। कोई अन्य व्यक्ति भी, जो इसे न्यायपूर्ण समझे, पीड़ित व्यक्ति की सहायता करके, अपराधी को उतनी क्षति-पूर्ति के लिए बाध्य करने में सहायता कर सकता है, जितने से उस हानि की संतोषजनक पूर्ति हो सके।

११. इन दो विभिन्न अधिकारों के कारण अपराध के निरोध का, तथा ऐसे अन्य अपराधों को रोकने की दृष्टि से दण्ड देने का अधिकार, सबको प्राप्त है, और दूसरा, क्षतिपूर्ति का अधिकार, केवल पीड़ित व्यक्ति को ही होता है। यह सम्भव है कि राजकीय अधिकारी, जिसे दण्ड देने का लोकाधिकार सौंपा जाता है, बहुधा जनहित में, जहाँ उस विधान के निष्पादन की आवश्यकता न हो, सामान्य जनता के विरुद्ध अपराधों को अपनी निजी सत्ता से क्षमा कर सके। फिर भी, वह किसी सामान्य व्यक्ति के क्षतिपूर्ति के अधिकार को रद्द नहीं कर सकता। जिसकी हानि हुई है, उसी को, क्षति पूर्ति की माँग करने का अधिकार है और वही अपराध को क्षमा कर सकता है। पीड़ित व्यक्ति को अपराधी की सम्पत्ति पर, या, अपराधी द्वारा की गयी सेवा को अपने लिए उपयोग में लाने का अधिकार आत्म सुरक्षा के अधिकार से जैसे प्राप्त होता है, वैसे ही, हर व्यक्ति को, अपराध की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए, अपराधी को दण्ड देने का अधिकार समस्त मानव जाति की जीवन रक्षा, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सब विवेकपूर्ण कार्य करने के अधिकार से प्राप्त होता है। अतः प्राकृतिक अवस्था में, प्रत्येक व्यक्ति को खूनी को कत्ल करने का अधिकार है। ऐसा उदाहरण रूप दण्ड दूसरों को ऐसा कार्य करने से रोकता है जिसकी कोई क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता। ऐसे दण्ड द्वारा सबकी सुरक्षा ऐसे अपराधी से होती है, जिसने विवेक—परमेश्वर द्वारा मनुष्य को दिये गये सामान्य नियम और व्यवस्था को त्याग कर, एक व्यक्ति पर अन्यायपूर्ण हिंसा तथा उसकी हत्या करके समस्त मानव जाति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है जिसके कारण, उसे, हिंसक बाघ या सिह की तरह, विनष्ट किया जा सकता है। ऐसा अपराधी उन जंगली पशुओं की श्रेणी में आ जाता है जिनसे मनुष्य को कोई सहयोग और सुरक्षा नहीं मिल सकती। प्रकृति के इस महान् नियम का आधार है—"जो मनुष्य का खून बहायेगा, उसका खून भी मनुष्य द्वारा बहाया जायगा।" प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ऐसे अपराधी को नष्ट करने के अधिकार में केन को इतना पूर्ण विश्वास था कि उसने अपने भाई की हत्या के बाद यह कहा था, "जो कोई मुझे पायेगा, वह मुझे कत्ल कर देगा।" समस्त मानव जाति के हृदय में यह विश्वास इतने स्पष्ट रूप से बैठा हुआ था।

१२. क्या इसी तर्क के आधार पर प्राकृतिक अवस्था में, प्राकृतिक विधान को, इससे कम मात्रा में भंग करने पर भी मृत्युदण्ड देना उचित होगा? मेरा उत्तर है, हर अपराध का दण्ड उतनी ही मात्रा में और उतनी ही कठोरता से उचित रूप में दिया जा सकता है जितना अपराधी के अपराध की पर्याप्त क्षतिपूर्ति कर सके और उसके

प्रायश्चित्त का कारण हो सके, और अन्य व्यक्तियों को ऐसा अपराध करने से भयभीत कर उससे विमुख कर सके। प्राकृतिक अवस्था में जो भी अपराध किया जा सकता है, उसका उतनी ही मात्रा में दण्ड भी दिया जाता है, जैसा राज्य में होता है। यद्यपि यहाँ प्राकृतिक विधान की विशेषताओं को, या, उसके दण्डो की मात्रा को बतलाना मेरे वर्तमान उद्देश्य की सीमा के बाहर होगा, परन्तु यह निश्चित है कि विधान ऐसा ही होता है और यह विधान विवेकशील जीव और विधान का अध्ययन करनेवाले के लिए, राज्य के विधान के समान ही, सुगम और स्पष्ट होता है—शायद अधिक ही हो। मनुष्यों की कल्पनाओं और ऐसे जटिल उपायों की अपेक्षा, जो विरोधी और अदृश्य स्वार्थों को उलझे हुए शब्दों में प्रस्तुत करते हैं, विविक्त विचार अधिक सरलता से समझ में आते हैं। यह सच है कि विभिन्न देशों के अधिकांश राजकीय विधानों का जितना अंश प्राकृतिक विधान पर आधारित होता है, उतनी ही मात्रा में राजकीय विधान न्यायपूर्ण होते हैं, और इस न्याय के अंश के कारण उनका निष्पादन होता है और उसी के आधार पर उनकी व्याख्या होती हैं।

१३. निःसन्देह इस आश्चर्यजनक सिद्धान्त के लिए कि प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक को प्राकृतिक विधान के निष्पादन की सत्ता प्राप्त होती है, यह आपत्ति उठायी जायगी कि व्यक्तियों का अपने वैयक्तिक मामलों में न्याय करना युक्तिसंगत नहीं है। आत्म प्रेम के कारण वे अपने और अपने मित्रों के प्रति पक्षपात दिखलायेंगे। इसके विपरीत दुष्ट प्रकृति, क्रोध तथा प्रतिशोध की भावना के कारण, वे अनुचित दण्ड देंगे, और अव्यवस्था और उपद्रव फैलेगा। निश्चय ही, इसी कारण, परमेश्वर ने मनुष्यों में वर्तमान पक्षपात और हिंसा की भावना पर रोक लगाने के लिए, शासन बनाया है। मैं यह मानता हूँ कि शासन, प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं का उचित उपचार है। जहाँ मनुष्य अपने व्यक्तिगत मामलों में निर्णय करेंगे, वहाँ पक्षपात और अव्यवस्था की असुविधाएं निश्चय ही सामने आयेंगी। यह आसानी से समझ में आ सकता है कि जो अपने भाई को हानि पहुँचाने का अन्याय कर सकता है, वह इतना न्यायपूर्ण नहीं हो सकता कि अपने आपको ही दोषी ठहराये। परन्तु ऐसी आपत्ति उठानेवालों को मैं यह याद दिलाना चाहता हूँ कि निरंकुश शासक भी तो मनुष्य ही होते हैं। यदि मनुष्यों के अपने व्यक्तिगत मामलों में निर्णय करने से उत्पन्न दोषों का उपचार शासन है और इसीलिए प्राकृतिक अवस्था को सहन नहीं किया जा सकता, तो मेरा प्रश्न यह होगा कि शासन का क्या रूप हो और वह प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा कितना अधिक अच्छा होगा ? क्या ऐसा शासन, जिसमें एक व्यक्ति को, अनेक पर अधिकार होने के कारण,

अपने व्यक्तिगत मामले में निर्णय करने की और अपनी समस्त प्रजा पर मनमानी करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और क्या उसकी इच्छा को कार्यान्वित करने-वालों का उस पर कोई नियंत्रण न हो प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा श्रेयकर होगा ? क्या ऐसे शासक की आज्ञा का पालन जो विवेक, अविवेक या क्रोध के आवेश में चाहे जो करे अनिवार्य होगा ? प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक दूसरे के प्रति ऐसी स्थिति में बाध्य नहीं हैं। यदि निर्णय करनेवाला, अपने, या किसी और मामले में गलत निर्णय करता है, तो वह ऐसे निर्णय के लिए, शेष मानव जाति के प्रति उत्तरदायी होता है।

१४. बहुधा, एक प्रश्न यह पूछा जाता है और बहुत बड़ी आपत्ति यह उठायी जाती है कि क्या आज भी किसी स्थान पर मनुष्य ऐसी प्राकृतिक अवस्था में है, या किस समय ऐसी अवस्था में थे ? इस स्थान पर मेरा केवल इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि चूँकि संसार के सब "स्वतन्त्र" राज्यों के राजा, एक दूसरे के प्रति प्राकृतिक अवस्था में हैं, अतः यह स्पष्ट है कि अवश्य ही संसार में, कुछ व्यक्ति इस अवस्था में सदैव थे, और हैं। मैंने स्वतन्त्र राज्यों के सब शासकों का उल्लेख किया है, चाहे उनके परस्पर सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण सन्धि के हों या न हों। हर प्रकार का अनुबन्ध मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था का अन्त नहीं करता; केवल वही अनुबन्ध प्राकृतिक अवस्था का अन्त करता है जिसके द्वारा सहमति के आधार पर सहसमाज और राज्य की स्थापना करना मनुष्य स्वीकार करते हैं। किसी अन्य प्रकार के वचन और अनुबन्ध, प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए भी, मनुष्य आपस में कर सकते हैं। सौलडेनिया (Soldaniā) के दो व्यक्तियों के मध्य गाड़ियों के सौदे की बातचीत या सौदा अथवा अमेरिका के जंगलों में, भारतीयों और स्विस व्यक्तियों के मध्य सौदा उनके लिए बाध्य हो सकता है, भले ही, वे एक दूसरे के प्रति, पूर्णरूप से, प्राकृतिक अवस्था में क्यों न हों और सत्य तथा वचन का पालन करने के लिए, समाज के सदस्य होने के कारण नहीं, मनुष्य होने के नाते, उत्तरदायी होते हैं।

१५. जो यह कहते है कि मनुष्य कभी भी प्राकृतिक अवस्था में नहीं थे, वे विद्वान् हुकर के इस कथन का विरोध करते है: (लॉज़ ऑव़ एक्लिजियेस्टिकल पोलिटी,[1] १.१०) "जिन विधानों का अभी तक उल्लेख किया गया है"—अर्थात् प्राकृतिक विधानों का— "वे मनष्यों को पूर्णरूप से बाध्य करते है। इस अवस्था में यह मनुष्य किसी व्यवस्थापित

१. Laws of Ecclisiastical Polity

समाज में संगठित नहीं हैं, वह केवल मनुष्य का रूप मात्र हैं, और उन दोनों के मध्य उचित और अनुचित की सीमा बाँधने के लिए आपस में कभी कोई गम्भीर अनुबन्धन नहीं हुआ है। चूँकि हम अपने जीवन के लिए ऐसे जीवन के लिए जो प्राकृतिक मानव प्रतिष्ठा और प्रतिभा के अनुकूल हो,—आवश्यक वस्तुएँ उचित मात्रा में, स्वयं उपलब्ध करने के लिए समर्थ नहीं हैं; अतः इन कमियों को जो अकेले और पूर्णतया अलग रहने के उत्पन्न होती हैं दूर करने के लिए मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह दूसरों का साथ और सहवास ढूँढ़े। मनुष्य द्वारा राजनीतिक समाज बनाने का सर्वप्रथम यही कारण था। मैं यह निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि सब व्यक्ति प्रकृतिवश प्राकृतिक अवस्था में होते हैं और वे तब तक इसी अवस्था में बने रहते है, जब तक अपनी सहमति से वे अपने को किसी राजनीतिक समाज का सदस्य नहीं बना लेते। मुझे पूरा विश्वास है कि इस निबन्ध में, मैं इस बात को स्पष्ट कर सकूँगा।

अध्याय ३

युद्ध की अवस्था

१६. युद्ध की अवस्था, शत्रुता और संहार की अवस्था है। कोई व्यक्ति उन्माद-पूर्ण और उतावले नहीं, वरन् निश्चित वचन और कार्य द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के जीवन के विरुद्ध बनायी गयी योजना की घोषणा करके उस व्यक्ति के प्रति, जिसके विरुद्ध उसने ऐसी घोषणा की है, युद्ध की अवस्था में आ जाता है। ऐसी अवस्था में वह दूसरे व्यक्ति के सम्मुख, या, उसकी सुरक्षा में सम्मिलित होनेवाले और उसके जीवन का पक्ष लेनेवाले अन्य व्यक्तियों के सम्मुख, अपने जीवन को खतरे में डालता है। यह युक्तिसंगत और न्यायपूर्ण है कि मेरा नाश करने की धमकी देनेवाले को नष्ट करने का मुझे अधिकार हो। प्रकृति के मूल विधान के अनुसार, मनुष्य जीवन रक्षा का यथा-शक्ति प्रयत्न करता है और यदि सबकी जीवन रक्षा सम्भव न हो, तो निरपराधियों की जीवन रक्षा, अपेक्षित और वांछनीय होती है; और उस दशा में ऐसे व्यक्ति को नष्ट किया जा सकता है जो दूसरे के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करे या शत्रु-भाव उत्पन्न करे। भेड़िया या सिंह का वध इसलिए किया जाता है क्योंकि ये हिंस्र पशु विवेक के लोक-विधान से बाध्य नहीं होते और केवल बल तथा हिंसा का नियम जानते हैं। इसीलिए उनके साथ हिंसक पशुओं की तरह व्यवहार किया जाता है। यह भयानक और अनिष्टकारी पशु मनुष्य को अपने चंगुल में पाते ही निश्चय उसका विनाश कर देते हैं।

१७. अतः दूसरे व्यक्ति को अपनी निरंकुश सत्ता के अधीन करने के प्रयत्न में व्यक्ति प्रायः अपने को अन्य के प्रति युद्ध की अवस्था में डाल देता है, क्योंकि ऐसे प्रयत्न जीवन को नष्ट करने की घोषणा के समान होते हैं। ऐसे निष्कर्ष के लिए मेरे पास पर्याप्त कारण हैं। जो व्यक्ति मुझे, मेरी निजी इच्छा के प्रतिकूल, अपनी सत्ता के अधीन करना चाहता है, वह मुझे अपने अधीन करके अपनी इच्छानुसार मेरा उपयोग करेगा और अपनी इच्छानुसार मुझे नष्ट भी कर देगा। मुझे अपनी निरंकुश सत्ता के अधीन करने की इच्छा का कारण, बलपूर्वक मुझे मेरी स्वतन्त्रता के अधिकार के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य करना ही हो सकता है—इससे मुझे दास की-सी स्थिति प्राप्त होती है। ऐसे बल से स्वतन्त्र होने में ही मेरी एकमात्र सुरक्षा है और विवेक के आधार

पर, मेरी स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाला मेरा शत्रु है, क्योकि स्वतन्त्रता में ही मेरे जीवन की सुरक्षा है। अतः जो मुझे दास बनाने का प्रयास करता है, वह मेरे प्रति युद्ध की अवस्था मे आ जाता है। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक को प्राप्त स्वतन्त्रता का जो कोई हरण करता है, वह अवश्य ही सर्वस्व हरण करनेवाला माना जायगा, क्योंकि, स्वतन्त्रता ही सर्वस्व का आधार है। इसी प्रकार समाज में, समाज या राज्य के हर सदस्य को प्राप्त स्वतन्त्रता का जो व्यवित अपहरण करता है, वह उनका शत्रु माना जाता है और उसे उनके प्रति युद्ध की स्थिति में आया हुआ माना जाता है।

१८. इस दृष्टि से, किसी व्यवित द्वारा ऐसे चोर की हत्या भी वैधानिक है जिसने भले ही उसे कोई शारीरिक आघात न पहुँचाया हो, न उसका जीवन लेने का कोई प्रयास किया हो, अपितु केवल उतने ही बल का प्रयोग किया हो जिससे वह उसे अपने वश में करके, उसका धन या जो कुछ वह चुराना चाहे, चुरा सके। यदि वह उसे अपने वश में करने के लिए बल का प्रयोग करता है, जिसका उसे अधिकार नहीं है, चाहे इसके लिए उसका जो भी उद्देश्य हो, तो वह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके, उसे अपने अधीन बनाने के वाद और क्या कुछ नहीं छीन सकता ? अतः उसके साथ ऐसा समझकर ही व्यवहार करना वैधानिक है कि वह चोर उसके प्रति युद्ध की स्थिति में है; अर्थात् यदि सम्भव हो तो वह व्यक्ति उस चोर की हत्या भी कर सकता है, क्योंकि, जो भी युद्ध की स्थिति आरम्भ करता है, और आक्रमणकारी होता है, वह अपने ऐसे कर्म से अपने जीवन को अवश्य खतरे में डालता है।

१९. प्राकृतिक अवस्था और युद्ध की अवस्था में यही स्पष्ट भिन्नता है जिसे कुछ विचारकों ने स्वीकार नहीं किया है। इन दोनों अवस्थाओं में उतनी ही भिन्नता है जितनी शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की अवस्था और शत्रुता, ईर्षा, हिसा और पारस्परिक संहार की अवस्था में होती है। उचित प्राकृतिक अवस्था वह है, जिसमें व्यक्ति, पृथ्वी पर, किसी एक व्यापक श्रेष्ठ सत्ता के अधीन हुए बिना सहयोग से, विवेक के आधार पर, निवास करते हैं, और उन्हें परस्पर न्याय पाने का अधिकार होता है। परन्तु जब संसार में कोई व्यापक श्रेष्ठ सत्ता न हो, जिसकी सहायता, मिल सके, दूसरे व्यक्ति पर बल का प्रयोग करना, या, ऐसे प्रयोग करने के प्रयोजन की घोषणा करना, युद्ध की अवस्था, है और ऐसी सहायता के अभाव में ही किसी व्यक्ति को आक्रमणकारी के विरुद्ध युद्ध का अधिकार प्राप्त होता है, भले ही वह आक्रमणकारी समाज में रहता हो और उसी की तरह प्रजा का एक सदस्य क्यों न हो। मैं किसी चोर का, जिसने मेरी सम्पत्ति चुरा ली है, न्याय-सत्ता का दरवाज़ा खटखटाये

बिना कुछ नहीं बिगाड़ सकता। परन्तु यदि वह मेरे कोट या घोड़े को लूटने के लिए, मुझ पर आक्रमण करे, तो मुझे अधिकार है कि मैं उसे जान से मार डालूँ। कारण यह है कि कानून, जो मेरी सुरक्षा के लिए बना है मेरे जीवन की उस चोर के आक्रमण से रक्षा करने के लिए तत्काल सहायतार्थ नहीं आ सकता, और मेरा जीवन नष्ट हो जाने से हुई क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता; अतः मुझे आत्मरक्षा का और युद्ध का अधिकार है, और आक्रमणकारी के जीवनहरण की स्वतन्त्रता है, क्योंकि, आक्रमणकारी मुझे, उन मामलों में जहाँ हानि की पूर्ति नहीं हो सकती, न्यायकर्त्ता से अपील करने का और न्याय प्राप्त करने का समय नहीं देता। सत्ता प्राप्त न्यायकर्त्ता के अभाव में सब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में होते हैं। अधिकार के अभाव में दूसरे व्यक्ति के शरीर पर बल प्रयोग करने से युद्ध की अवस्था आरम्भ हो जाती है चाहे वहाँ न्याय कर्त्ता हो या न हो।

२०. परन्तु समाज में, एक ही न्यायकर्त्ता के आधीन रहनेवालों के लिए, वास्तविक बल प्रयोग का अवसर समाप्त हो जाने के कारण, युद्ध की अवस्था भी समाप्त हो जाती है। अतः विवादग्रस्त विषयों के निर्णय के लिए, जब पूछा जाता है कि "न्यायकर्त्ता कौन बनेगा ?" तो उसका अर्थ यह नही होता कि कौन विवादग्रस्त विषय का निर्णय करेगा। सभी जानते हैं कि जैफथा (Jephtha) ने इसका क्या उत्तर दिया था, "परमेश्वर, जो न्यायाधीश है, वही न्याय करेगा।" इस पृथ्वी पर जिस समय कोई न्यायकर्त्ता न हो, तो स्वर्ग में परमेश्वर से अपील की जा सकती है। अतः इस प्रश्न का अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि कौन यह न्याय करेगा कि किसने मेरे प्रति युद्ध की स्थिति स्थापित की है और क्या मैं जैफथा की तरह परमेश्वर से अपील कर सकता हूँ ? या मैं स्वयं अपने अन्तःकरण के अनुसार निर्णय कर सकता हूँ, जिसके लिए मैं परमेश्वर के सम्मुख, महा न्याय के दिन (Day of Judgement) उत्तरदायी रहूँगा।

अध्याय ४

दासता

२१. प्राकृतिक स्वतन्त्रता में मनुष्य संसार की किसी भी श्रेष्ठ सत्ता के अधिकार से मुक्त होता है। वह मानवीय इच्छा या व्यवस्थापक सत्ता के अधीन नहीं होता और केवल प्राकृतिक विधान का पालन करता है। समाज में मनुष्य की स्वतन्त्रता के अर्थ हैं, सहमति द्वारा राज्य को प्रदान की गयी व्यवस्थापक सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के, और किसी अन्य की इच्छा के आधीन न होना, उस सत्ता द्वारा पारित विधानों के अतिरिक्त किसी अन्य विधान या इच्छा का आधिपत्य न मानना जब तक उसके पीछे सहमति और स्वीकृति न हो। अतः स्वतन्त्रता का वह अर्थ नहीं है जो सर रॉबर्ट फ़िलमर ने हमें बताया है, अर्थात् "प्रत्येक को अपने इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता, अपने इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता और किसी भी प्रकार के विधान द्वारा नियंत्रित न होना।" शासन के अधीनस्थ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसे स्थायी विधान का पालन करना है, जो उस समाज में सबके लिए प्रचलित हो और समाज की व्यवस्थापक सत्ता द्वारा बनाया गया हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता उतनी ही मात्रा में है, जितनी उस विधान के प्रतिकूल न हो। कोई व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति की अस्थिर, अनिश्चित, अज्ञात और स्वैर इच्छा का वंशवद नहीं है। इसी तरह, प्राकृतिक अवस्था में, स्वतन्त्रता का नियंत्रण केवल प्राकृतिक विधान द्वारा ही होता है।

२२. निरंकुश और स्वेच्छाचारी बल से स्वतन्त्रता उतनी ही आवश्यक है और उसका व्यक्ति की जीवन रक्षा से उतना ही अन्तरंग सम्बन्ध है जितना इस स्वतन्त्रता को त्यागने से वह अपनी सुरक्षा और जीवन को, सर्वस्व को, खो देता है। क्योंकि जब एक व्यक्ति को स्वयं अपने जीवन पर अधिकार प्राप्त नहीं होता, तो वह अनुबन्ध या स्वयं स्वीकृति द्वारा अपने को दूसरे का दास नहीं बना सकता और न अपने को किसी अन्य ऐसे निरंकुश स्वेच्छाचारी बल का वंशवद बना सकता है, जो स्वेच्छानुसार उसके जीवन का अन्त कर सके। कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने अधिकार से अधिक दूसरे को नहीं दे सकता और जो अपने जीवन का अन्त नहीं कर सकता, वह दूसरे को उस पर अधिकार भी नहीं दे सकता? यदि किसी ने अपराध के कारण जीवन का अधिकार

खो दिया है और उसकी मृत्यु उचित है, तो जिसके प्रति उसने ऐसा अपराध किया है, वह उसे अपना वशवर्ती बनाकर, उसे मृत्युदंड देने में विलम्ब कर सकता है और उसका अपनी सेवा के लिए, उपयोग कर सकता है। इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, क्योंकि जब कभी अपराधी को ऐसा प्रतीत हो कि दासत्व का कष्ट उसके जीवन के मूल्य से भी अधिक है, तो वह अपने स्वामी की इच्छा का विरोध करके अपना जीवन समाप्त कर सकता है।

२३. यह अवस्था ऐसी चरम दासता की अवस्था है जिसका अर्थ वैधानिक विजेता और बंदी के मध्य युद्ध की अवस्था बनाये रखना मात्र है। यदि कभी उन दोनों में ऐसा अनुबन्ध हो जाय जो सहमति द्वारा एक पक्ष को कुछ सत्ता प्रदान करे और दूसरे को आज्ञापालन करने को बाध्य करें तो जब तक यह अनुबन्ध बना रहेगा, युद्ध और दासत्व की अवस्था न रहेगी, क्योंकि, जैसा कहा जा चुका है, कोई व्यक्ति सहमति द्वारा दूसरे को वह अधिकार नहीं दे सकता जो स्वयं उसे प्राप्त नहीं है—यानी अपने जीवन पर अधिकार।

मै स्वीकार करता हूँ कि यहूदियों तथा अन्य जातियों में हमें मनुष्यों के अपने को वेचने के उदाहरण मिलते हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि वे परिश्रम के लिए अपना विक्रय करते थे, दासत्व के लिए नहीं। जो व्यक्ति बेचा जाता था, वह एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी सत्ता के आधीन नहीं होता था, क्योंकि स्वामी किसी भी समय उसके जीवन का अन्त नहीं कर सकता था और निश्चित अवधि के उपरान्त उसे सेवा से मुक्त करने को बाध्य होता था। ऐसे सेवक के स्वामी को उसके जीवन पर निरंकुश सत्ता इतनी कम प्राप्त होती थी कि वह अपनी इच्छानुसार उसका अंगच्छेद तक नहीं कर सकता था और किसी नेत्र के खराब हो जाने से या एक दाँत गिर जाने से व्यक्ति मुक्त हो जाता था। (एक्सोडस, २१)

अध्याय ५

सम्पत्ति

२४. चाहे हम विवेक तत्त्व का अनुसरण करें, और यह मानें कि मनुष्यों को, जन्म लेते ही अपनी जीवन रक्षा का अधिकार प्राप्त हो जाता है, और फलस्वरूप, जीवित रहने के लिए प्रकृति द्वारा उपलब्ध भोजन, पेय तथा अन्य वस्तुओं के उपभोग का अधिकार हो जाता है; या हम "दैवी तथ्य" के आधार पर परमेश्वर द्वारा आदम, तथा नोआ और उसके पुत्रों को प्रदत्त संप्रदान को मान्यता प्रदान करें, यह स्पष्ट है कि परमेश्वर ने "यह पृथ्वी मनुष्य की सन्तान को प्रदान की है", जैसा सम्राट् डेविड का पवित्र गीत ११५,१६ कहता है। "यह पृथ्वी समस्त मानव जाति को समान उपभोग के लिए दी गयी है। परन्तु इन आधारों को स्वीकार करने पर बहुतों को यह समझने में बहुत कठिनाई होती है कि किसी व्यक्ति का, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कैसे अधिकार हो सकता है। इसके उत्तर में, मुझे केवल यह कहने से ही संतोष नहीं होता कि यदि परमेश्वर द्वारा आदम तथा उसकी भावी सन्तान को समान उपभोग के लिए पृथ्वी के अनुदान के आधार पर "सम्पत्ति" को स्थापित करना कठिन है, तो केवल एक सर्वव्यापी सम्राट् के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार असम्भव है, क्योंकि परमेश्वर ने आदम और उसके उत्तराधिकारियों को, उसकी शेष सन्तान को वर्जित करके समस्त पृथ्वी प्रदान की थी। मैं यहाँ यह भी प्रमाणित करने का प्रयास करूँगा कि मनुष्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, जिसे परमेश्वर ने समस्त मानव जाति को, सबके उपयोग के लिए, प्रदान किया था और जिसके लिए मनुष्यों में कोई निश्चित अनुबन्ध नहीं हुआ।

२५. परमेश्वर ने पृथ्वी सब मनुष्यों को, सबके उपभोग के लिए, प्रदान की, परन्तु परमेश्वर ने मनुष्य को विवेक तत्त्व भी दिया जिससे वह संसार का उपभोग अपने जीवन और सुविधाओं के अधिकाधिक लाभ के लिए करे। पृथ्वी, और पृथ्वी से उपलब्ध सब पदार्थ, मनुष्यमात्र को, उनके जीवनयापन और तत्संबंधी सुविधा के लिए दिये गये हैं। पृथ्वी के सब प्राकृतिक फल और पशु समस्त मानव जाति के लिए हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति, स्वयं प्रकृति से ही होती है और अपनी मौलिक अवस्था में यह सब पदार्थ मनुष्य जाति की अपेक्षा, किसी व्यक्ति-विशेष की निजी सम्पत्ति नहीं होते। चूँकि,

यह सब पदार्थ मनुष्य मात्र के उपभोग के लिये प्रदान किए गये हैं, अतः ऐसे साधन की आवश्यकता होती है जिससे वे मनुष्य के वंशवद बनाये जा सकें क्योंकि तभी उनका उपभोग व्यक्तियों द्वारा संभव है। जंगली अवस्था में रहनेवाली उन असभ्य जातियों में भी, जिनमें निजी सम्पत्ति का आरम्भ नहीं हुआ, तथा भूमि अब भी सामूहिक सम्पत्ति है। भोजन की वस्तुओं पर वैयक्तिक अधिकार अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि इसके बिना ये लोग इन वस्तुओं का प्रयोग शरीर पोषणार्थ कैसे कर सकते हैं ?

२६. यद्यपि पृथ्वी तथा उस पर रहनेवाले समस्त निम्न श्रेणी के जीवों पर, मनुष्य मात्र का समान अधिकार है, फिर भी, हर व्यक्ति का 'शरीर', व्यक्ति की निजी सम्पत्ति होता है। शरीर पर केवल उस व्यक्ति के अतिरिक्त किसी और का अधिकार नहीं होता। उसके शरीर का "श्रम" और उसके हाथों की कृति, सही तौर पर, उसी की सम्पत्ति कही जा सकती है। अतः वह जिस वस्तु से, उसे अपने श्रम द्वारा, प्राकृतिक अवस्था से हटाकर, अपना निजी सम्बन्ध जोड़ लेता है, वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है। चूँकि, उसी ने उस वस्तु को प्राकृतिक अवस्था से हटाया, अतः उसने अपने श्रम द्वारा उसमें कुछ और जोड़ा, जिसके कारण अन्य व्यक्तियों का उस वस्तु पर सामान्य अधिकार समाप्त हो जाता है। "श्रम", निःसन्देह, श्रमिक की ही सम्पत्ति होने के कारण, श्रम जिस पदार्थ से सम्बद्ध हो, उस पर केवल श्रमिक का ही अधिकार हो सकता है—कम से कम वहाँ, जहाँ वह वस्तु पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो और दूसरों के उपभोग के लिए काफी मात्रा में शेष हो।

२७. ओक के वृक्ष के नीचे गिरा फल उठाकर, या जंगल से सेब बीनकर जो कोई खाता है, वह, निःसन्देह, उन्हें अपनी सम्पत्ति बना लेता है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह पदार्थ उसी के उपयुक्त आहार है। मै यह पूछता हूँ कि ये पदार्थ किस क्षण उसकी सम्पत्ति हुए ? क्या जब वह उन्हें पचा चुका ? या जब उसने उनका आहार किया ? या जब उसने उन्हें पकाया ? या जब वह उन्हें अपने घर लाया ? या जब उसने उन्हें जंगल से उठाया ? यह स्पष्ट है कि यदि सर्वप्रथम जब उसने उन्हें पेड़ के नीचे से उठाया तभी वह उसकी संपत्ति नहीं हो पाया, सो वह किसी अन्य विधि द्वारा उसका नहीं हो सकता। श्रम के योग ने ही उस पदार्थ को सामान्य सम्पत्ति से भिन्नता प्रदान की। श्रम के कारण ही उसे वह नवीन गुण प्राप्त हुआ जिसकी प्राप्ति प्रकृति से नहीं हो सकती थी, और उसके कारण वह पदार्थ श्रमिक की निजी सम्पत्ति बन गया। क्या कोई ऐसा भी कहेगा कि व्यक्ति को इस प्रकार प्राप्त ओक के इन फलों या सेवों पर कोई अधिकार नहीं हो सकता; क्योंकि, उसने, उनको अपनी सम्पत्ति बनाने

के लिए, समस्त मानवजाति की अनुमति प्राप्त नहीं की है? क्या उसने सबकी सामान्य सम्पत्ति के एक अंश पर अपना निजी अधिकार स्थापित करके, डाका डाला है? यदि इस प्रकार की अनुमति आवश्यक मानी जाय, तो परमेश्वर द्वारा सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में मौजूद रहने पर भी, मनुष्य भूखों मर जायगा। हम उन सार्वजनिक वस्तुओं के विषय में भी, जो संगठित समाज के स्वामित्व में भी सार्वजनिक रहती है, पाते हैं कि उनके किसी अंश को प्राकृतिक अवस्था से हटाते ही निजी सम्पत्ति का आरम्भ होता है, ऐसा किये विना सार्वजनिक सम्पत्ति का कोई उपयोग नहीं हो सकता। उसके किसी अंश को प्राप्त करने के लिए सबकी सहमति आवश्यक नहीं होती। मेरे घोड़े ने जो घास खायी, या मेरे सेवक ने जो घास छीली, या मैंने किसी सार्वजनिक स्थान पर खोदने से जो कच्ची धातु प्राप्त की, वह किसी की अनुमति के बिना ही मेरी सम्पत्ति बन जाती है। मेरे ही श्रम ने उसे उस प्राकृतिक अवस्था से हटाया जहाँ वह सार्वजनिक संपदा थी, अतः वह मेरी सम्पत्ति हो गयी।

२८. यदि हम सार्वजनिक सम्पत्ति के किसी अंश पर व्यक्ति का अधिकार स्थापित करने के लिए, प्रत्येक मनुष्य की निश्चित अनुमति आवश्यक मानें, तो बच्चे या सेवक, उस भोजन में से जिसकी उसके पिता या उनके स्वामी ने उनके लिए व्यवस्था की हो, और प्रत्येक का अलग अलग भाग निश्चित न किया हो, अपना भाग स्वयं ले सकेंगे। यद्यपि निर्झर का पानी सबके लिए है, परन्तु घड़े का पानी उसी का है जो उसे भरकर लाया है। उसके श्रम ने जल को प्रकृति के हाथों से, जहाँ वह सार्वजनिक सम्पत्ति था और समस्त मानव जाति के लिए समान रूप से उपलब्ध था, हटाकर उस पर उसका अधिकार स्थापित किया।

२९. अतः इस तार्किक विवेक विधान के अनुसार हिरन मारनेवाले शिकारी की सम्पत्ति हो जाता है। वह उसकी प्राप्ति के लिए श्रम करनेवाले की ही सम्पत्ति माना जाता है, यद्यपि, इसके पूर्व वह समस्त मानव जाति की समान सम्पत्ति था। मानव की ऐसी जातियों में भी, जो सभ्य मानी जाती हैं, और जिन्होंने सम्पत्ति निर्धारित करने के लिए अनेक निश्चित विधान बनाये हैं, सार्वजनिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में परिवर्तित करनेवाला प्रकृति का यह मूल विधान आज भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, विशाल सागर से मानव जाति की सार्वजनिक सम्पत्ति—मछली—पकड़नेवाले की ही सम्पत्ति होती है। इसी प्रकार, जो व्यक्ति अपने श्रम द्वारा प्रकृति की सामान्य अवस्था से कोई सुगन्धित पदार्थ ग्रहण करता है, वह श्रम करनेवाले का ही हो जाता है। जहाँ तक कि हमारे देश में भी, शिकार के समय, खरगोश पकड़नेवाले

की ही सम्पत्ति माना जाता है। चूँकि खरगोश ऐसा पशु है, जो सार्वजनिक सम्पत्ति माना जाता है और किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं होता, अतः श्रम द्वारा प्राप्त होने के कारण वह प्राकृतिक अवस्था की सामान्य स्थिति से हटकर, श्रमिक की सम्पत्ति में अवस्थित हो जाता है।

३०. शायद इस पर यह आपत्ति उठायी जाय कि यदि पृथ्वी पर गिरे हुए फल एकत्रित करने से, उन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो प्रत्येक व्यक्ति जितना चाहे उतना बटोर सकता है। मेरा उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। इस विधि से सम्पत्ति निर्धारित करनेवाला प्राकृतिक विधान, सम्पत्ति को सीमित भी करता है। "परमेश्वर ने हमें सब वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में प्रदान की हैं।" क्या विवेक भी इस ईश्वरीय प्रेरणा का अनुमोदन करता है? परमेश्वर ने हमें ये वस्तुएँ कितनी मात्रा में "उपभोग" करने के लिए प्रदान की है? अपने जीवन को नष्ट होने से बचाने के लिए जितनी मात्रा में उस वस्तु की आवश्यकता हो,उतने पर ही व्यक्ति अपने श्रम द्वारा साम्पत्तिक स्वामित्व स्थापित कर सकता है। इससे अधिक ऐसे अंश पर उसका वैयक्तिक स्वामित्व नही हो सकता जिस पर अन्य का अधिकार हो। परमेश्वर ने किसी वस्तु का निर्माण मनुष्य द्वारा क्षय या विनाश के लिए नहीं किया है: चूँकि संसार में बहुत समय तक प्रचुर मात्रा में खाद्य पदार्थ उपलब्ध थे और उनका उपयोग करनेवालों की संख्या कम थी और एक व्यक्ति उन खाद्य पदार्थों का बहुत ही अल्प अंश अपने श्रम द्वारा अपने लिए और अन्य के हित के प्रतिकूल, अधिकृत कर सकता था—विशेषतया यदि वह अपने विवेक का अनुसरण करते हुए केवल अपने लिए उपयोगी वस्तुओं को ही अधिकृत करे—अतः उस समय, ऐसी सम्पत्ति के लिए, झगड़ों और संघर्ष की सम्भावना प्रायः नहीं थी।

३१. परन्तु अब सम्पत्ति का मुख्य रूप पृथ्वी से उपलब्ध फल और पृथ्वी पर रहनेवाले पशु आदि नहीं रहे, बल्कि, स्वयं पृथ्वी ही जिसमें प्रायः शेष सब पदार्थ समाविष्ट हैं झगड़े की जड़ बन गयी हैं। मेरे विचार से यह तो स्पष्ट ही है कि पृथ्वी के रूप में सम्पत्ति प्राप्त करने का नियम भी यही है। जितनी भूमि एक व्यक्ति जोतता बोता, उसकी उन्नति करता, उस पर खेती करता, और उसकी उपज का उपयोग करता है, उतनी भूमि उसकी सम्पत्ति होती है। वह अपने श्रम द्वारा पृथ्वी के उस खण्ड को सार्वजनिक सम्पत्ति से पृथक् करता है। यह कहकर कि उस भूमि पर सबका समानाधिकार है, और समस्त मानव जाति की सहमति के बिना, किसी व्यक्तिविशेष द्वारा उस भूखण्ड को अधिकृत नहीं किया जा सकता, उसका अधिकार अमान्य नहीं किया जा सकता। परमेश्वर ने समस्त मानव जाति को, पृथ्वी प्रदान करते समय, श्रम करने का भी आदेश

दिया था और मानव की आवश्यकताओं के कारण ऐसा करना आवश्यक भी था। परमेश्वर और विवेक ने मनुष्य को पृथ्वी को वशंवद बनाने का आदेश दिया--अर्थात्, मानव जीवन के हेतु पृथ्वी की उन्नति मानव को करनी चाहिए जिससे श्रम द्वारा उत्पादन हो, और वह उत्पादन और भूमि मनुष्य की सम्पत्ति हो। जिस मनुष्य ने, इस आदेश का पालन करते हुए पृथ्वी के किसी खण्ड पर कब्जा करके श्रम द्वारा खेती की, उसने इस प्रकार अपनी सम्पत्ति स्थापित की। उस पर अन्य का अधिकार नही हो सकता और बिना श्रम संबंधी हानि किये, कोई और उसे छीन नहीं सकता।

३२. आदि काल में भूमि के किसी खण्ड पर इस प्रकार उत्पादन करके सम्पत्ति स्थापित करने से, दूसरे की हानि भी नहीं होती थी, क्योंकि उसी प्रकार की अच्छी भूमि प्रचुर मात्रा में शेष थी और सम्पत्तिहीन व्यक्तियों के उपभोग के लिए आवश्यकता से अधिक थी। अतः वास्तव में इस प्रकार भूमि को अधिकृत करने के कारण अन्य व्यक्तियों के लिए भूमि की कमी न होती थी। अन्य की आवश्यकता के लिए पर्याप्त अंश छोड़ देना, स्वयं अपने लिए कुछ भी हस्तगत न करने के समान ही है। यदि प्यास बुझाने के लिए पानी से भरी पूरी नदी उपलब्ध हो तो किसी अन्य के उस नदी में पानी पीने से, चाहे वह कितना भी पानी क्यों न पी ले दूसरों को कोई व्यक्तिगत क्षति अनुभव न होगी। जहाँ दोनों ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों वहाँ पानी के इस दृष्टान्त तथा भूमि के दृष्टान्त में कोई भिन्नता नहीं है।

३३. परमेश्वर ने, मानव मात्र को, सबके उपभोग के लिए, संसार प्रदान किया। चूंकि परमेश्वर ने पृथ्वी मानव के लाभ के लिए और इससे जीवन की अधिकतम सुविधाएं प्राप्त करने के लिए प्रदान की, अतः उसका यह अभिप्राय नहीं माना जा सकता कि सदैव के लिए पृथ्वी सार्वजनिक और बिन जोती बनी रहे। उसने पृथ्वी परिश्रमी और विवेक सम्पन्न जीवों के उपभोग के लिए ही प्रदान की थी (श्रम द्वारा ही वे उस पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं), झगड़ालू और विवादप्रिय व्यक्तियों की उच्छृंखल इच्छा तथा लोभ के लिए परमेश्वर का यह दान नहीं है। यदि किसी के पास, उतनी ही अच्छी भूमि उत्पादन के लिए शेष रह गयी है, जितनी अधिकृत की जा चुकी है, तो उसे इसमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए और दूसरों के श्रम द्वारा सुधरी हुई भूमि में उसे दखल न देना चाहिए। स्पष्ट है कि ऐसा दखल देनेवाला व्यक्ति दूसरे के श्रम से अनुचित लाभ प्राप्त करने की इच्छा रखता है, यद्यपि उस पर उसका कोई अधिकार नहीं है। वह उस भूमि को प्राप्त करने का इच्छुक नहीं जो परमेश्वर ने उसे, अन्यों के साथ साथ, श्रम करने के लिए प्रदान की है। यद्यपि उस भूमि का उतना ही अंश

अब भी शेष है जितना अधिकृत किया जा चुका है और जो उसके उपभोग तथा श्रम के लिए अब भी आवश्यकता से अधिक है।

३४. यह सच है कि इंग्लैण्ड में, या किसी अन्य देश में, जहाँ बहुसंख्यक धनी और समृद्धिशाली व्यक्ति शासन के अधीन रह रहे है कोई व्यक्ति सार्वजनिक भूमि का कुछ भी अंश, अपने समाज के अन्य व्यक्तियों की सहमति के बिना, अपने अधिकार में नहीं कर सकता; क्योंकि भूमि अनुबन्ध के अनुसार—अर्थात् देश के विधान के अन्तर्गत—सार्वजनिक उपयोग के लिए छोड़ दी गयी भूमि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। ऐसी भूमि कुछ व्यक्तियों के लिए ही सार्वजनिक है, वह समस्त मानवजाति के लिए सार्वजनिक नही है। यह भूमि उस देश की, या, क्षेत्र की संयुक्त सम्पत्ति मानी जाती है। पृथ्वी के कुछ अंश पर इस प्रकार, अधिकार हो जाने के बाद, शेष भूमि, शेष मानव-जाति के लिये उतनी उपयोगी नहीं रह जाती जितनी पहले समस्त भूमि थी जिसका सब उपभोग कर सकते थे। परन्तु इस संसार के प्रारम्भिक क.ल में ऐसा नहीं था। उस समय प्राकृतिक विधान मनुष्य को भूमि अधिकृत करने की ओर ही प्रेरित करता था। परमेश्वर का आदेश, और मनुष्य की आवश्यकताओं ने उसे श्रम करने को बाध्य किया। "श्रम" तब स्वयं उस की ही सम्पत्ति था, जिसे वह जिस किसी सम्पत्ति में संयुक्त करता था, वह उसी की सम्पत्ति हो जाती थी, जिसे और कोई छीन न सकता था। अतः हम देखते हैं कि पृथ्वी को वशीभूत करना या उस पर कृषि करना और आधिपत्य स्थापित करना, आदि क्रियाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक के आधार पर ही दूसरी प्राप्त होती है। अतः परमेश्वर ने पृथ्वी को वशीभूत करने का आदेश देकर, भूमि को अधिकृत करने की भी सत्ता प्रदान की। मानवजीवन की आवश्यकताओं के लिए श्रम और श्रम के लिए साधन आवश्यक है। अतः निजी सम्पत्ति का आरम्भ अपरिहार्य है।

३५. मनुष्य की क्षमता और जीवन की सुविधाओं के आधार पर प्रकृति ने सम्पत्ति का उचित रूप से निर्धारण किया है। कोई एक व्यक्ति अपने अकेले श्रम से पृथ्वीमात्र को वशीभूत या अधिकृत नही कर सकता और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति के महान् अनुदान का छोटा-सा ही अंश पर्याप्त होता है। इस नियम के अनु-सार, किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे के अधिकार का अतिक्रमण करना, या अपने पड़ोसी के हित के विपरीत सम्पत्ति अधिकृत करना असम्भव है; उसका (औरों का अंश निकाल देने पर भी) उतनी ही अच्छी और विस्तृत सम्पत्ति प्राप्त करने का अवसर पहले की तरह नहीं रहता। अतः इस आधार पर प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति का क्षेत्र बहुत परि-

मित हो जाता है। आदिकाल में, कोई भी व्यक्ति, बिना दूसरों को हानि पहुँचाये सम्पत्ति प्राप्त कर सकता था। उस समय मनुष्यों को कृषि के लिए भूमि के अभाव का उतना डर नहीं था, जितना इस विशाल, वीरान पृथ्वी पर अपने साथियों से बिछुड़ जाने का था।

३६. आज भी, जब संसार पूर्णतया आबाद प्रतीत होता है, सम्पत्ति का यही आधार स्वीकार किया जा सकता है और इससे किसी को हानि की आशंका नहीं होगी। मान लीजिए, एक व्यक्ति या परिवार उसी स्थिति में, जिसमें आदि काल में पृथ्वी को आबाद करते समय आदम या नोआ की सन्तान रहा करती थी, अमेरिका के किसी अन्तर्वर्त्ती रिक्त स्थान में जाकर बस जाय। हम देखेंगे कि वह हमारे बतलाये हुए आधार पर जो सम्पत्ति प्राप्त करेगा, वह अधिक न होगी, और आज भी शेष मानव-जाति के लिए ऐसी हानिकारी न होगी जिसमें किसी को आपत्ति हो। यद्यपि मानव-जाति अब संसार के हर कोने में फैल गयी है और पहले की अपेक्षा उसकी संख्या में असीमित वृद्धि हो गयी है फिर भी, कोई इसे अपने अधिकार पर अतिक्रमण न समझेगा। वास्तव में, भूमि का श्रम के बिना कुछ भी मूल्य नहीं है। मैंने सुना है कि स्पेन में, कोई भी व्यक्ति जिसे भूमि पर और कोई अधिकार न हो, केवल उपयोग के आधार पर उसे निर्विघ्न जोत, बो और काट सकता है। वहाँ के देशवासी तो ऐसे व्यक्ति के कृतज्ञ होते हैं जो अपने श्रम द्वारा, उपेक्षित और बंजर भूमि से आवश्यक अन्नोत्पादन में वृद्धि करता है। स्पेन में चाहे जो होता हो, मैं उसे अधिक महत्त्व नहीं देता, परन्तु इतना मैं पूर्ण विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि सम्पत्ति का यही नियम—अर्थात् हर व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति प्राप्त होना, जितनी का वह उपयोग कर सके—आज भी संसार में, बिना किसी को हानि पहुँचाये, लागू होगा; क्योंकि संसार में वर्त्तमान से दुगनी आबादी के लिए भी भूमि पर्याप्त होती यदि मुद्रा के आविष्कार के कारण, और मानव जाति द्वारा मुद्रा के मूल्य निर्धारण की मौन सहमति के कारण, अपेक्षाकृत विशाल सम्पत्तियों का और उन सम्पत्तियों के अधिकार का आरम्भ न होता (सहमति द्वारा)। यह कैसे हुआ, इसे मैं क्रमशः विशद रूप में बतलाऊँगा।

३७. यह निश्चित है कि आदि काल में, जब मनुष्य की आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की इच्छा ने वस्तुओं के उस स्वाभाविक मूल्य में परिवर्त्तन नहीं किया था जो मानवजीवन के लिए उन वस्तुओं के उपभोग पर आधारित होता है, या, सबने सहमति से यह स्वीकार नहीं किया था कि सोने का छोटा-सा टुकड़ा, जो बिना क्षति के या नष्ट हुए रखा जा सकता है, मूल्य में भोजन के भण्डार के बराबर है, तबतक, मनुष्य

अपने श्रम द्वारा, अपने उपभोग के आधार पर, प्रकृति की वस्तुओं को अधिकृत करने का अधिकार होते हुए भी, इतनी अधिक सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता था जिससे दूसरों के हितों की हानि हो; क्योंकि समान श्रम करनेवालों के लिए, उतनी ही प्रचुरता में वस्तुएँ शेष थीं।

भूमि पर अधिकार होने से पूर्व, जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार जंगली फल बीनता, या पशुओं का शिकार करता, उन्हें पकड़ता और पालता था—तथा अपने श्रम द्वारा प्रकृति प्रदत्त पदार्थों को प्राकृतिक अवस्था से हटाता था—वह अपने श्रम के मिश्रण से उन्हें अपनी सम्पत्ति बना लेता था। परन्तु यदि यह सम्पत्ति बिना उचित उपयोग हुए विनष्ट हो जाती थी, यदि फल या मांस उपयोग के पहले ही सड़ जाता था, तो इससे प्रकृति के सामान्य विधान की अवज्ञा होती थी और यह दण्डनीय अपराध होता था। इस अपराध का अर्थ होता था अपने पड़ोसी के भाग पर अतिक्रमण, क्योंकि, अपनी निजी आवश्यकता और जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने के अतिरिक्त किसी अधिक अंश पर अधिकार नहीं होता।

३८. भूमिष्ठ सम्पत्ति का भी यही आधार था। जितनी भूमि व्यक्ति जोते और उससे इतना अनाज उत्पन्न कर सके जिसका नष्ट होने से पूर्व उपयोग वह कर सके, उतनी भूमि पर उसका विशेष अधिकार हो जाता था। जितने पशु वह पाले और उनका पोषण करे और उनका उपयोग कर सके, वह सब पशु तथा उनसे उत्पादित पदार्थ उसीकी सम्पत्ति हो जाते थे। यदि उसकी अधिकृत भूमि की घास ज़मीन पर ही सूख जाय, या उसके लगाये हुए फल बिना एकत्रित किये ही नष्ट हो जायें, तो ऐसी भूमि को उजाड़ ही माना जायेगा और वह किसी भी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति बनायी जा सकती है। अतः आदि काल में केन, जितनी भूमि जोत सकता, उसे अपनी सम्पत्ति बना सकता था, फिर भी आबेल की भेड़ों के चरने के लिए पर्याप्त भूमि शेष रहती थी। परन्तु, जैसे-जैसे परिवारों की संख्या बढ़ी, और श्रम के कारण उनके पालतू पशुओं में वृद्धि हुई, वैसे-वैसे उनकी सम्पत्ति भी, उनके आवश्यकतानुसार बढ़ती गयी। इस समय तक, उन्होंने, उपयोग की जानेवाली भूमि पर, स्थायी साम्पत्तिक अधिकार स्थापित नहीं किये थे। जब वे परिवार एकत्रित होकर, एक स्थान में बस गये, नगरों का निर्माण किया और फिर सहमति से, अपने विशिष्ठ क्षेत्रों की सीमाएं निर्धारित की तब उन्होंने अपने समाज के विधानों द्वारा, समाज के सदस्यों की सम्पत्ति निश्चित की। क्योकि हम देखते हैं कि संसार के जिस भाग में सर्वप्रथम मनुष्य का वास हुआ और जिस कारण से वहाँ सबसे घनी आबादी की सम्भावना हुई, वहाँ के निवासी, अब्रा-

हम के समय में भी, अपने पशु और भेड़ों सहित, जो उनके जीवन के आवश्यक अंग थे, स्वतन्त्रता से इधर-उधर विचरण करते थे। अब्राहम ने इस प्रकार, अपनी जाति और पशुओं सहित ऐसे देश में भी, जहाँ वह परदेशी था विचरण किया था। इससे स्पष्ट है कि, कम से कम, भूमि का अधिकांश भाग सार्वजनिक सम्पत्ति था और वहाँ के निवासियों ने उसका मूल्यांकन नहीं किया था (उसे अधिकृत नहीं किया था) और न उसपर अपनी आवश्यकताओं से अधिक साम्पत्तिक दावा किया था। परन्तु जब उनके सम्मिलित पशुओं के पोषण के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रह गयी, तब वे सहमति से, उसी प्रकार पृथक् हो गये जैसे अब्राहम और लॉट पृथक् हो गये थे (जेनेसिस १३, ५)। अपने चारागाहों में उन्होंने यथोचित विस्तार किया। इसी कारण, ईसाऊ अपने पिता और भाइयों से अलग होकर माउन्ट सीर में बस गया (जेनेसिस ३६, ६)।

३९. अतः हम यह स्वीकार नहीं करते कि समस्त पृथ्वी आदम की ऐसी निजी सम्पत्ति थी, जिससे शेष सब मनुष्य वंचित थे। यह दावा किसी उपाय से प्रमाणित नहीं किया जा सकता और न किसी की सम्पत्ति का मूल आधार बनाया जा सकता है। यदि हम यह मानें कि पृथ्वी मनुष्य की सन्तान को संयुक्त रूप से प्रदान की गयी थी, तो हम देखेंगे कि कैसे पृथ्वी के अनेक भागों पर, श्रम के आधार पर, निजी उपयोग के लिए, मनुष्य को अधिकार प्राप्त हुआ और इस अधिकार पर किसी आपत्ति तथा झगड़े की सम्भावना भी न थी।

४०. यह बात इतनी अविश्वसनीय भी नहीं है, जैसी शायद विचार करने के पहले प्रतीत होती है कि श्रमार्जित सम्पत्ति के सिद्धान्त से, भूमि के समानाधिकार की भूमिका नष्ट हो जाती है; क्योंकि, वास्तव में, श्रम के ही कारण, सब वस्तुओं के मूल्य में भिन्नता आती है। किसी ऐसी एक एकड़ भूमि के जिस पर तंबाकू या गन्ना, या गेहूँ या जौ बोया गया हो, तथा ऐसी एक एकड़ भूमि के जो बिना, कृषि के सबके लिए रिक्त पड़ी हो, मूल्यों पर विचार करने से पता चलेगा कि श्रम द्वारा की गयी उन्नति ही उसके अधिकांश मूल्य का आधार है। मेरे विचार से यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस पृथ्वी पर मनुष्य के लिए उपयोगी पदार्थों का ९/१० भाग श्रम का ही परिणाम है। यदि हम अपने लिए उपयोगी वस्तुओं का उचित मूल्यांकन करें यानी यह पता लगायें कि उनमें से कितना अंश केवल प्रकृति से प्राप्त है तथा कितना श्रम के परिणाम-स्वरूप मिला है—तो हमें पता चलेगा कि अधिकांश में मूल्य का ९९/१०० भाग श्रम के कारण ही उपलब्ध हुआ है।

४१. इस सिद्धान्त का स्पष्टतम उदाहरण अमेरिका की विभिन्न जातियों में

दृष्टिगोचर होता है। वहाँ भूमि प्रचुर मात्रा में है, परन्तु जीवन की सब सुविधाओं की कमी है। इन जातियों को प्रकृति ने, अन्य देशों की भाँति, प्रचुर मात्रा में पदार्थ प्रदान किये हैं—अर्थात्, उपजाऊ भूमि, जिससे भोजन, परिधान और सुख के लिए प्रचुर सामग्री उत्पन्न हो सकती है फिर भी, श्रम द्वारा उसकी उन्नति न करने पर, उन्हें उन सुविधाओं का एक शतांश भी प्राप्त नहीं होता, जिनका हम उपभोग करते हैं और वहाँ की विस्तृत उपजाऊ भूमि के निवासियों को, इंग्लैण्ड के साधारण मजदूर से भी गये बीते भोजन, परिधान और घर प्राप्त हैं।

४२. इसको और स्पष्ट करने के लिए हम जीवन के लिए उपयोगी कुछ साधारण पदार्थों के निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं का अनुसरण करें और देखें कि उन्हें अपने मूल्य का कितना अंश मनुष्य के श्रम से प्राप्त होता है। रोटी, शराब और कपड़ा, यह वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका हम प्रतिदिन बड़ी मात्रा में प्रयोग करते है। परन्तु, यदि हमारा श्रम इन उपयोगी पदार्थों का निर्माण न करता, तो जंगली फल, पानी और पत्ते या छाल ही हमारा भोजन, पेय और परिधान होते। केवल श्रम ही रोटी को जंगली फलों से, शराब को पानी से, और कपड़े या रेशम को पत्तों, छाल और घास से अधिक मूल्यवान् बनाता है। इनमें कुछ तो ऐसे भोजन और परिधान हैं जिन्हें प्रकृति ने स्वतः हमें प्रदान किये है और बाकी ऐसे पदार्थ है जो हमारे श्रम और उद्योग से तैयार होते हैं, उनका मूल्य कितना अधिक बढ़ जाता है, इसकी गणना करनेवाले को पता चलेगा कि संसार में हमारे उपभोग की वस्तुओं का मूल्य अधिकांशतः श्रम के कारण ही है। इन पदार्थो को उत्पन्न करनेवाली भूमि का मूल्य, श्रम के बिना, नहीं के बराबर है, या, बहुत कम है—इतना कम कि वर्तमान समय में भी जो भूमि पूर्णतया प्राकृतिक अवस्था में पड़ी है और जिसमें चारागाह के लिए या जोतने और बोनेके लिए कुछ उन्नति नहीं की गयी, उसे वास्तव में बंजर भूमि कहा जाता है और हम देखते हैं कि उस भूमि से प्रायः कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

४३. यदि यहाँ एक एकड़ भूमि से २० बुशल गेहूँ उत्पन्न होता है और अमेरिका में भी उतनी ही भूमि से, उन्हीं कृषि के साधनों से, उतनी ही उपज होती है, तो निः-संदेह दोनों भूमिखण्डों का प्राकृतिक और स्वाभाविक मूल्य समान है। परन्तु, उनमें से एक से तो मानव जाति को पाँच पाउण्ड प्रति वर्ष का लाभ होता है और दूसरे से शायद एक पेनी का भी नहीं। यदि वहाँ के निवासियों द्वारा उस भूमि से प्राप्त समस्त लाभ का मूल्यांकन करके, उसका मूल्य यहाँ की मुद्रा में आँका जाय, तो मुझे विश्वास है कि वह एक पेनी का शतांश भी न होगा। अतः भूमि के अधिकांश मूल्य का कारण

श्रम ही है, और श्रम के बिना भूमि का कुछ भी मूल्य नहीं है। श्रम द्वारा ही हमें, भूमि से उत्पन्न अधिकांश उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं। एक एकड़ भूमि से प्राप्त गेहूँ, भूसी और चोकर और रोटी का उस भूमि से कहीं अधिक मूल्य है जो यद्यपि उतनी ही अच्छी हो, परन्तु श्रम के अभाव में वंजर पड़ी हो। हम जो रोटी खाते हैं, उसके लिए केवल जोतनेवाले का परिश्रम, काटनेवाले और अनाज को अलग करनेवाले का उद्योग तथा रोटी पकानेवाले का पसीना ही नहीं बहा है, वरन्, जिन्होंने बैलों को जोता, पत्थर और लोहे को खोदा और उन्हें पीट कर उपयोगी बनाया, लकड़ी काट कर हल, मिल, चूल्हे या अन्य अनेकों प्रकार के बर्तन वनाये जिनकी इस अनाज को बोने से लेकर रोटी बनाने तक आवश्यकता होती है, उन सबकी मेहनत श्रम में ही गिनी जायगी। इसी श्रम का परिणाम रोटी है। यदि हमारे पास भोजन के रूप में आने के पहले, एक रोटी के टुकड़े के लिए जिन सब उद्योगों का प्रयोग किया गया है, उनकी सूची बन सके, तो वह अद्वितीय होगी। लोहा, लकड़ी, चमड़ा, पेड़ की छाल, पत्थर, ईंट, कोयला, चूना, कपड़ा, रंगने के द्रव्य, धूना, कोलतार, जहाज का बाँस, रस्सी, और उस जहाज के निर्माण के लिए आवश्यक सभी पदार्थों तथा किसी भी श्रमिक द्वारा प्रयुक्त उपकरणों का हिसाब लगाना प्रायः असम्भव, या बहुत कठिन होगा।

४४. स्पष्ट है कि, यद्यपि, प्रकृति ने सब वस्तुएँ सब के लिये प्रदान की हैं, फिर भी मनुष्य (अपने शरीर का, और अपने शरीर के कार्यों और श्रम का स्वामी होने के कारण) को सम्पत्ति अर्जित करने का महान आधार प्राप्त है और अपने जीवनका अस्तित्व बनाये रखने के लिए या जीवन की सुविधाओं के लिए वह जिन पदार्थों का प्रयोग करता है तथा जिनमें आविष्कार और कला द्वारा काफी विकास हुआ है, वे पूर्णतया उसी की हो जाती हैं तथा उन पर दूसरों का अधिकार नहीं रह जाता।

४५. अतः, आदि काल में, श्रम का अपने इच्छानुसार सार्वजनिक सम्पत्ति में विनियोग करके ही सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता था। बहुत समय तक, संसार का अधिकांश भाग सार्वजनिक था और आज भी वह मानवजाति के उपयोग के लिए, आवश्यकता से अधिक है। आदिकाल में मनुष्य, प्रकृति द्वारा स्वतः उपलब्ध, जीवन के लिए अपरिहार्य वस्तुओं से ही सन्तुष्ट था। कुछ समय बाद, संसार के कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या और पशुओं की संख्या में वृद्धि, और मुद्रा का प्रयोग आरम्भ होने के कारण, भूमि की मात्रा अपर्याप्त हो गयी और उसका मूल्य बढ़ गया; तब विभिन्न जातियों ने अपने विशिष्ट क्षेत्रों में सीमाएँ निर्धारित कीं और अपनी जाति में विधान द्वारा मनुष्यों की निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की। अतः अनुबन्ध और सहमति से, उन्होंने उस सम्पत्ति

की व्यवस्था की जिसका आरम्भ श्रम और उद्योग से हुआ था। विभिन्न देशों में और साम्राज्यों में जो सन्धियाँ हुई हैं, उनमें या तो स्पष्टतया, या, मौन रूप से, एक देश ने दूसरे की अधीनस्थ भूमि पर सब अधिकार त्याग दिये साथ ही साथ सर्व सहमति संबंधी, अपने व्यापक प्राकृतिक अधिकार भी जो उन्हें आरम्भ में,उन दूसरे देशों की सब भूमि पर प्राप्त था त्याग दिये। इस प्रकार, निश्चित अनुबन्ध से उन्होंने संसार के विशिष्ट क्षेत्रों में सम्पत्ति स्थापित कर ली। परन्तु आज भी भूमि के ऐसे विशाल क्षेत्र पाये जाते हैं, जिनके निवासियों ने, शेष मानवजाति के साथ सामान्य मुद्रा के उपयोग के लिए सहमति नहीं दी है। वहाँ क्षेत्र बंजर पड़े है और उनकी भूमि वहाँ के निवासियों की आवश्यकता से अधिक है, वे आज भी सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। यह बात मानवजाति के उस अंश पर लागू नहीं की जा सकती जिसमें मुद्रा का उपयोग आरम्भ हो गया है।

४६. मानव जीवन के लिए नितान्त आवश्यक वस्तुएँ, जिन्हें प्राप्त करना आदिकालीन पृथ्वी-निवासियों को जीवित रहने के लिए आवश्यक था;—जैसा कि हमें वर्त्तमान अमेरिका निवासियों के सम्बन्ध में देखने को मिलता है—साधारणतया शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं। उनका उपयोग न होने पर, वे स्वतः विनष्ट हो जाती हैं। सोने, चाँदी और हीरों का मूल्य, उनके वास्तविक उपयोग या जीवन के लिए आवश्यक होने के आधार पर निर्भर नहीं है, उनका मूल्य मनुष्य ने अपनी इच्छानुसार, या, सहमति से, निर्धारित किया है। प्रकृति द्वारा सबके लिए उपलब्ध उपयोगी वस्तुओं के उतने ही अंश पर प्रत्येक को अधिकार है (जैसा कहा जा चुका है), जितना वह उपयोग कर सके और जिसे वह श्रम द्वारा प्राप्त करे। वह उसकी सम्पत्ति हो जाता है। अपने श्रम से वह जिसे भी प्राकृतिक अवस्था से हटाता है, वह उसी की हो जाती है। जिसने १०० बुशल जंगली फल या सेव बटोरे, उसने उन्हें अपनी सम्पत्ति बनाया। उनको बटोरते ही वह उसके हो गये। उसे केवल यह ध्यान रखना चाहिये कि वह सड़ने से पहले उनका उपयोग कर ले, नहीं तो वह अपने भाग से अधिक लेने वाला और अन्य का भाग छीननेवाला माना जायगा। आदिकाल में, वास्तव में, अपनी आवश्यकता से अधिक जमा करके रखना, बेईमानी के साथ-साथ मूर्खता भी थी। यदि वह उनमें से कुछ किसी अन्य व्यक्ति को इसलिए दे देता था जिससे वे उसके पास व्यर्थ नष्ट न हों, तो ऐसा करना भी उपयोग करना ही माना जाता था। यदि वह एक ही सप्ताह में सड़नेवाले बेरों का वस्तु विनिमय करके मेवा प्राप्त कर लेता था तो वह उसे पूरे वर्ष तक खा सकता था, इससे किसी को भी कोई हानि नहीं पहुँचती थी। जब तक उसके द्वारा कोई वस्तु व्यर्थ नष्ट नहीं होती थी, तब तक उसका यह कार्य सार्वजनिक सम्पत्ति का

अपव्यय न कहलाता था क्योंकि वह सार्वजनिक सम्पत्ति का कोई अंश नष्ट नहीं करता था। इसी तरह, यदि वह अपने मेवों के बदले कोई धातु, जिसका रंग उसे पसन्द आ गया हो, प्राप्त करता था; या अपनी भेड़ों का विनिमय सीपों से कर लेता था, या ऊन का विनिमय किसी चमकदार पत्थर या हीरे से कर लेता था, और उसे आजीवन अपने पास रखता था, तो उसका वह कार्य दूसरों के अधिकार का अतिक्रमण करना नहीं कहलाता था। ऐसा व्यक्ति इन स्थायी वस्तुओं को जितना चाहे संचित कर सकता था। सम्पत्ति की न्यायपूर्ण सीमा का उल्लंघन उसकी सम्पत्ति की विशालता के कारण नहीं होता, वरन् उसके द्वारा किसी वस्तु के व्यर्थ नष्ट हो जाने से होता है।

४७. इस तरह मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ—मुद्रा ऐसी स्थायी वस्तु थी जो बिना नष्ट हुए रखी जा सकती थी और परस्पर सहमति से उसके बदले में जीवन के लिए नितान्त उपयोगी, परन्तु नश्वर, वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती है।

४८. जिस प्रकार मनुष्य को श्रम के अनुपात से ही सम्पत्ति प्राप्त होती थी, उसी प्रकार मुद्रा के इस आविष्कार से उन्हें उस सम्पत्ति को बनाये रखने और उसमें विस्तार करने का अवसर प्राप्त हुआ। ऐसे द्वीप की कल्पना कीजिए, जहाँ मुख्य भूमि से पृथक् होने के कारण, शेष संसार से व्यापार करने की कोई सम्भावना न हो, और जिसमें केवल १०० परिवार निवास करते हों; जहाँ भेंड़, घोड़े और गाय तथा अन्य उपयोगी पशु तथा पुष्टिकारक फल और उत्तम भूमि प्रचुर मात्रा में हों तथा उस पर द्वीप निवासियों की आवश्यकता से लाखों गुणा अधिक अनाज पैदा हो सकता हो, परन्तु, प्रचुरता, या, नश्वरता के कारण वहाँ ऐसी कोई वस्तु न हो, जिसका मुद्रा के रूप में प्रयोग हो सके। ऐसे द्वीप के निवासियों को अपने परिवारों की आवश्यकता और उपयोग से अधिक सम्पत्ति बढ़ाने से क्या लाभ हो सकता है, भले ही वह सम्पत्ति उद्योग से प्राप्त हो या वह तत्सम नश्वर उपयोगी वस्तुओं के विनिमय द्वारा प्राप्त की जाय। जहाँ कोई वस्तु इतनी स्थायी और दुर्लभ और मूल्यवान् न हो जिसे संचित करके रखा जा सके, वहाँ मनुष्य अपनी भू-सम्पत्ति का विस्तार नहीं करता, चाहे वह कितनी ही उपजाऊ क्यों न हो तथा उसे अधिकृत करने के लिए वह कितना ही स्वतन्त्र क्यों न हो। मैं पूछता हूँ कि एक मनुष्य के लिए ऐसी दस हजार या एक लाख एकड़ अत्यधिक उपजाऊ भूमि का क्या मूल्य हो सकता है, जिस पर खेती हो रही हो और अनेक पालतू पशु भी हो, परन्तु जो अमेरिका के ऐसे अन्तरंग भाग में हों जहाँ संसार के दूसरे क्षेत्रों से व्यापार की संभावना न होने के कारण उसकी पैदावार के विक्रय से धन प्राप्त न हो सके। ऐसी भूमि को अधिकृत करने से कोई लाभ न होगा। वह व्यक्ति शीघ्र ही

अपने तथा अपने परिवार के जीवन की सुविधाओं के लिए पर्याप्त से अधिक भूमि को पुनः प्रकृति की विशाल सार्वजनिक सम्पत्ति में संमिलित होने के लिए लौटा देगा ।

४९. आदि काल में, सारा संसार अमेरिका की ही तरह था, क्योंकि कहीं भी मुद्रा नाम की किसी वस्तु का ज्ञान न था । जिस व्यक्ति को ऐसी वस्तु प्राप्त होती जो उसके पड़ोसियों के लिए मुद्रा की तरह ही उपयोगी और मूल्यवान् होती थी तो वह तत्काल अपनी सम्पत्ति में विस्तार प्रारम्भ कर देता था ।

५०. सोना और चाँदी, मनुष्य के जीवन के लिए, भोजन और परिधान और वाहन की अपेक्षा, मूल्यहीन है, अतः उनका मूल्य केवल मनुष्यों की सहमति पर ही निर्भर हैं । आज भी उनका अधिकांश मूल्य श्रम पर ही आधारित है । चूकि आज, भी अधिकांश मूल्य श्रम पर ही आधारित है, अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्यों ने सहमति द्वारा पृथ्वी में असंगत और असम सम्पत्ति को स्वीकार कर लिया है । मेरा तात्पर्य उनसे है जो समाज तथा अनुबन्ध द्वारा सीमित नहीं हैं, क्योंकि, जहाँ शासन है, वहाँ विधान द्वारा व्यवस्था चलती है । उन्होने सहमति द्वारा ऐसा साधन ढूढ़ कर स्वीकार कर लिया है जिससे एक व्यक्ति, न्यायसंगत रूप से, और दूसरों को बिना हानि पहुँचाये, अपने उपयोग के लिए आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति के बदले सोना चाँदी जिनके मूल्य के लिए समाज में सहमति होती है और जो बिना नष्ट हुए बहुत समय तक उसके पास बने रह सकते हैं स्वीकार कर लेता है ।

५१. अतः मेरे विचार से हम आसानी से यह कल्पना कर सकते है, कि प्रकृति की सामान्य वस्तुओं पर श्रम द्वारा साम्पत्तिक अधिकार का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ और किस प्रकार उस सम्पत्ति की सीमा केवल हमारी आवश्यकताओं पर आधारित हुई। उस समय झगड़े का कोई कारण न था और न प्रकृति के अपार अनुदान के कारण झगड़ों की कोई आशंका ही थी । जो सुविधाजनक था, वही न्यायोचित भी था । चूकि, मनुष्य का उतने पर ही अधिकार होता था जितना वह अपने श्रम द्वारा प्राप्त करता था, अतः उसे अपने उपयोग के लिए आवश्यकता से अधिक श्रम करने का कोई आकर्षण न था । इस तरह, सम्पत्ति के लिए विवाद, या, दूसरों के अधिकार में हस्तक्षेप करने का कोई प्रश्न न उठता था । मनुष्य ने जितना अंश अपने लिए पृथक् कर लिया था, वह सबके सम्मुख स्पष्ट था । बहुत अधिक, या, अपनी आवश्यकता से अधिक भूमि अपने लिए अधिकृत करना निरर्थक तथा बेईमानी समझी जाती थी ।

अध्याय ६

माता-पिता का अधिकार

५२. इस प्रकार के निबन्ध में, लोक प्रचलित शब्दों और नामों में दोष निकालना शायद अप्रासंगिक आलोचना समझी जायगी। परन्तु जहाँ प्रचलित शब्दों से गलत अर्थ की सम्भावना हो, वहाँ नये शब्द प्रस्तावित करना भूल न होगी। "पितृत्व के अधिकार" से भी ऐसी ही गलत धारणा हो सकती है और ऐसा बोध होता है मानो सन्तान के ऊपर माता-पिता की सत्ता पूर्णतया पिता को ही प्राप्त है और माता का उसमें कोई भाग नहीं है। परन्तु विवेक तथा दैवी प्रेरणा के अनुशीलन से हमें ज्ञात होता है कि सन्तान पर माता का भी समानाधिकार है। अतः क्या इसे माता और पिता की सत्ता कहना अधिक उचित न होगा? प्रकृति और सन्तानोत्पादन के आधार पर, सन्तान पर जो कुछ भी सत्ता प्राप्त होती है, वह निश्चय ही सन्तान को माता और पिता, दोनों के प्रति समान रूप से बाध्य करती है, क्योंकि दोनों ही उसके जन्म के समान कारण हैं। अतः सन्तान को आज्ञापालन का आदेश देते समय परमेश्वर का निश्चित विधान प्रत्येक स्थान पर माता और पिता को, बिना भेद के, एक साथ प्रस्तुत करता है। "अपने पिता और अपनी माता का आदर करो" (एक्सोड्स २०, १२); "जो कोई भी अपने पिता या अपनी माता को दुर्वचन कहेगा" (लेवीटिकस २०, ९); "तुझे प्रत्येक मनुष्य से उसके माता और पिता से भय होगा, (लेवीटिकस १९, ३); "बच्चों, अपने माता-पिता की आज्ञापालन करो", (इफ़ेसियन्स ६, १); आदि। पुराने तथा नये टेस्टामेंट में इसी रीति से लिखा है।

५३. यदि इस विषय में अधिक गहराई में जाने से पहले, केवल इसी पर उचित रूप से विचार किया गया होता, तो शायद मनुष्य माता और पिता की इस सत्ता के विषय में इतनी भ्रमपूर्ण धारणा न बनाता। प्रचलित अर्थ में "पितृत्व का अधिकार" से केवल पिता के ही अधिकार का बोध होता है, और इसे निरंकुश आधिपत्य और राजकीय सत्ता से सम्बद्ध कर दिया गया है, जो अनुचित है। परन्तु सन्तान पर प्राप्त इस तथाकथित निरंकुश सत्ता को "माता और पिता" की सत्ता कहकर, जिससे इसमें माता का भी अंश ज्ञात हो, निरंकुश राजकीय सत्ता से सम्बद्ध करना अवश्य असंगत लगेगा।

पितृत्व की कठिन निरंकुश सत्ता और अधिकार के प्रबल समर्थकों के उद्देश्य की पूर्ति में इससे सहायता न मिलेगी क्योंकि, इसमें माता के भाग को भी मान्यता दी गयी है, और इसमें उन्हें उनके राजतन्त्र का उचित आधार भी न मिलेगा, क्योंकि इस नाम से ही स्पष्ट लक्षित होता है कि जिस मूल सत्ता के आधार पर इसके समर्थक एकतान्त्रिक शासन स्थापित करना चाहते हैं, वह एक को नहीं, वरन्, दो को संयुक्त रूप से प्राप्त हो सकता है। परन्तु अच्छा हो हम नामों के इस विवाद में न पड़ें।

५४. यद्यपि मैं ऊपर कह चुका हूँ (अध्याय २) कि "स्वभावतः सब मनुष्य समान हैं," परन्तु यहाँ मेरा हर प्रकार की समानता से तात्पर्य नहीं हो सकता। आयु या गुण के आधार पर किसी मनुष्य को न्यायपूर्ण श्रेष्ठता प्राप्त हो सकती है। शरीर की श्रेष्ठता या योग्यता के कारण कुछ व्यक्ति साधारण से उच्च कोटि में रखे जा सकते हैं। किसी को अपने जन्म के कारण, और किसी को दूसरों के साथ सम्बन्ध होने या उनके अनुग्रह के कारण, ऐसे व्यक्तियों की आज्ञा का पालन करना पड़ता है जिन्हें प्रकृति या कृतज्ञता या अन्य कारणों से सेवा प्राप्त करने का अधिकार मिला हो। फिर भी, इस सब का उस समानता से सामञ्जस्य है, जिसके अनुसार मनुष्य समान है और उनका एक दूसरे पर अधिकार या आधिपत्य नहीं है। इसी समानता का मैंने, अपने विषय से उचित सम्बन्ध होने के कारण उल्लेख किया था। इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को किसी अन्य की इच्छा या सत्ता के आधीन हुए बिना ही प्राकृतिक स्वतन्त्रता का, उपभोग करने का समान अधिकार है।

५५. मैं स्वीकार करता हूँ कि बच्चे इस पूर्ण समानता की अवस्था में जन्म नही लेते, यद्यपि वे समान होते हैं। उनके माता-पिता का, उनके जन्म से कुछ समय बाद तक, उन पर एक प्रकार का शासन और अधिकार रहता है; परन्तु यह अस्थायी होता है। पराधीनता के ये बन्धन उन वस्त्रों की तरह होते हैं, जिनमें उन्हें शैशव काल की शक्तिहीन अवस्था में असहाय होने के कारण लपेटा जाता है। जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं, आयु और विवेक द्वारा यह बन्धन शिथिल होते जाते हैं, और अन्त में, वे पूर्णतया टूट जाते हैं और मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर हो जाता है।

५६. आदम की रचना पूर्ण मानव के रूप में हुई थी। रचना के समय उसको शरीर और मस्तिष्क अपनी पूर्ण शक्ति और विवेक से सम्पन्न थे और इसलिए वह अपने जीवन के पहले क्षण से ही अपनी सहायता और सुरक्षा में समर्थ और सुयोग्य था। वह अपने कार्यों का निर्देशन, विवेक के उस विधान के अनुसार, कर सकता था जिसकी परमेश्वर ने उसमें स्थापना की थी। उसी के वंशजों से, जो सब शैशवावस्था में जन्म

नुसार व्यवस्था करना और इस प्रकार दूसरों की स्वेच्छाचारिता के अधीन न होकर अपनी इच्छा का अनुसरण करना ही स्वतन्त्रता है।

५८. माता-पिता को अपनी सन्तान पर सत्ता उस कर्त्तव्य के आधार पर प्राप्त होती है जिसके अनुसार वे अपनी सन्तान के असहाय शैशवकाल में उसके पालन-पोषण के लिए बाध्य हैं। उसे शिक्षित करना और उसकी अनभिज्ञ अवयस्क अवस्था में उसके कार्यों का तब तक, जब तक उसे विवेक प्राप्त न हो जाय और उसकी असमर्थता दूर न हो जाय, निर्देशन करना ही सन्तान का हित और माता-पिता का कर्त्तव्य है। परमेश्वर ने मनुष्य को अपने कार्यों का संचालन करने के लिए विवेक प्रदान किया है और उस विवेक के विधान की सीमा के अन्दर उसे सोचने तथा कार्य करने की स्वतन्त्रता दी है। परन्तु जब तक वह ऐसी अवस्था में हो जिसमें उसे अपनी इच्छा का संचालन करने के लिए निजी विवेक प्राप्त न हो, तब तक वह ऐसी स्वतन्त्र इच्छा का अधिकारी नहीं होता जिसका वह स्वयं अनुसरण करे। अतः उचित ही है कि जो व्यक्ति उसका हितू है, वही उसकी ओर से निर्णय भी करे, वही उसकी इच्छा निर्धारित करे और उसके कार्यों का संचालन करे। परन्तु जब पुत्र उस अवस्था को प्राप्त हो जाय, जिसमें उसके पिता को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी, तो वह भी स्वतन्त्र हो जायगा।

५९. यह मनुष्य पर प्रयुक्त होनेवाले सब विधानों के लिए सत्य है—चाहे वे प्राकृतिक विधान हों या राजकीय। क्या मनुष्य प्राकृतिक विधान के अधीन है? वह इस विधान से कैसे स्वतन्त्र हुआ? इस विधान की सीमा में रहते हुए, उसे अपन इच्छानुसार अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हुई? मेरा उत्तर यह है कि यह स्वतन्त्रता उसे विधान को समझने योग्य अवस्था प्राप्त करने पर मिली, जिससे वह, इस विधान की सीमा में, अपना कार्य कर सके। इस अवस्था को प्राप्त करने पर जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह विधान उसका किस सीमा तक मार्ग दर्शक हो सकता है और वह किस सीमा तक अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है, तभी उसे स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं करता, तब तक किसी अन्य द्वारा उसका निर्देशन आवश्यक होता है। यदि विवेक की यह अवस्था प्राप्त करने से, विचार करने की इस आयु तक जा पहुँचने से, उसे स्वतन्त्रता मिली थी तो उसी आधार पर उसके पुत्र को भी उसी प्रकार स्वतन्त्रता मिलेगी। यदि कोई व्यक्ति इंग्लैण्ड के विधान के अधीन है, तो उसे इस देश के विधान से स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्थात्—उसे विधान द्वारा स्वीकृत सीमा के अन्दर अपने कार्यों के करने और सम्पत्ति की अपनी निजी इच्छानुसार व्यवस्था करने की

स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हुई ? उसे इस विधान के ज्ञान की योग्यता प्राप्त होने के कारण प्राप्त हुई । यह योग्यता, इस विधान के अनुसार, २१ वर्ष की आयु में और कभी-कभी इस आयु के पहले प्राप्त होती है । यदि इससे पिता को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, तो पुत्र को भी होगी । हम देखते हैं कि इस आयु को प्राप्त होने तक, विधान पुत्र की स्वतन्त्र इच्छा को नहीं मानता, और पुत्र का निर्देशन उसके पिता या संरक्षक की इच्छानुसार होता है, ये लोग उसकी ओर से विधान का अभिप्राय समझने योग्य व्यक्ति माने जाते हैं । यदि पिता की मृत्यु हो जाय, और वह मृत्यु के पूर्व इस कार्य के लिए कोई प्रतिनिधि नियुक्त न कर सका हो, यदि उसने अपने पुत्र की अवयस्क और अबोध अवस्था में उसके निर्देशन के लिए किसी शिक्षक की व्यवस्था न की हो, तब विधान इस कार्य का उत्तर-दायित्व लेता है । जब तक पुत्र को स्वतन्त्र इच्छा प्राप्त नहीं होती, और उसे अपनी इच्छा के निर्धारण की क्षमता प्राप्त नहीं होती, तब तक किसी को उसका निर्देशन और उसकी ओर से इच्छा व्यक्त करना आवश्यक होता है । परन्तु अवयस्क अवस्था समाप्त होने पर पिता और पुत्र, दोनों समान रूप से स्वतन्त्र होते हैं, जैसे, शिक्षक और विद्यार्थी । तब दोनों एक ही विधान के, समान रूप से, वशंवद हो जाते हैं और पिता का अपने पुत्र के जीवन, स्वतन्त्रता या सम्पत्ति पर कोई आधिपत्य शेष नहीं रह जाता, चाहे वह केवल प्राकृतिक अवस्था और प्रकृति के विधान के अधीन हो या किसी व्यवस्थापित शासन और उसके निश्चित विधानों के अधीन हों ।

६०. यदि कुछ दोषों के कारण, जिनकी प्राकृतिक अवस्था में साधारणतः सम्भावना है, किसी को इस मात्रा में विवेक प्राप्त न हो जिससे वह विधान का ज्ञान प्राप्त कर सके तथा उसकी सीमा में कार्य कर सके; तो वह कभी स्वतन्त्र होने के योग्य नहीं होगा । उसे अपनी निजी इच्छा पर कभी नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि, वह उसकी मर्यादा नहीं जानता, उसे ज्ञान नहीं होता, और वह अपना उचित निर्देशन नहीं कर सकता, अतः जब तक उसका निजी ज्ञान उसके लिए अपर्याप्त रहे, तब तक वह अन्य के संरक्षण और संचालन में रखा जाता है । इसीलिए, पागल तथा अपर्याप्त बुद्धिवाले व्यक्ति अपने माता-पिता के संरक्षण से कभी मुक्त नहीं होते । "ऐसे बच्चों का जो विवेक योग्य आयु प्राप्त नहीं कर चुके हैं, उन अज्ञ व्यक्तियों का, जो प्राकृतिक दोष के कारण कभी विवेक प्राप्त नहीं कर सकते," तथा उन पागल व्यक्तियों का, जो अपने पागलपन की वर्त्तमान अवस्था में, अपने निर्देशन के लिए उचित विवेक का उपयोग नहीं कर सकते, निर्देशन उनके लाभार्थ कार्य करनेवाले संरक्षकों के विवेक द्वारा होता है । यह हुकर का कथन है (लॉज़ ऑव एक्लिज़ियेस्टिकल पोलिटी, पुस्तक १, भाग ७) इस

सबका अभिप्राय उस कर्त्तव्य से है जो परमेश्वर और प्रकृति के आदेशानुसार, मनुष्य तथा अन्य जीवों को, अपनी सन्तान की तब तक सुरक्षा करने के लिए बाध्य करता है, जब तक वे अपने पैरों पर खड़े होने योग्य न हो जायें। इसे हम माता-पिता की राजकीय सत्ता का उदाहरण या प्रमाण नहीं मान सकते।

६१. जैसे हमें जन्मतः विवेक प्राप्त होता है, वैसे ही हम जन्मतः स्वतन्त्र होते हैं। जन्म के समय, हम—विवेक या स्वतन्त्रता—दोनों में से किसी का भी वास्तविक प्रयोग नही कर सकते। आयु द्वारा हमें इन दोनों में से एक वस्तु प्राप्त होती है, और इसके बाद उसके फलस्वरूप, दूसरी। इस प्रकार, प्राकृतिक स्वतन्त्रता और माता-पिता के प्रति अधीनता में सामञ्जस्य है और दोनों का मूल आधार एक ही है। सन्तान की स्वतन्त्रता अपने पिता के अधिकार और विवेक में ही अन्तर्हित होती रहती है, स्वयं सन्तान द्वारा विवेक प्राप्त होने तक पिता उसका निर्देशन करता है। वयस्क पुरुष की स्वतन्त्रता में और सन्तान की अविवेक पूर्ण अवयस्कता कालीन माता-पिता की अधीनता में ऐसी मूलभूत भिन्नता है कि "पितृत्व के अधिकार" में राजकीय सत्ता के अस्तित्व के अन्ध समर्थक भी इसे स्पष्टतया देख सकते हैं। इसके कट्टर विरोधी भी इस भिन्नता को अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि उनका सिद्धान्त पूर्णतया सच मान लिया जाय; और यदि आदम का वर्त्तमान उचित उत्तराधिकारी ज्ञात हो सके, और उस अधिकार के कारण वह सम्राट् बना दिया जाय और उसे सर रॉबर्ट फ़िलमर द्वारा वर्णित निरंकुश असीमित सत्ता प्राप्त हो और उसके उत्तराधिकारी के उत्पन्न होते ही उसकी मृत्यु हो जाय, तो क्या वह शिशु, चाहे वह कितना ही स्वतन्त्र और संप्रभु क्यों न हो, जब तक आयु और शिक्षा द्वारा वह अपने तथा राज्य का संचालन करने योग्य विवेक और क्षमता प्राप्त न कर ले तब तक अपनी माता, दाई, और शिक्षक और राजपदाधिकारियों की अधीनता में रहेगा? उसके जीवन की आवश्यकताओं, शरीर के स्वास्थ्य, और मस्तिष्क की शिक्षा के लिए दूसरों की इच्छा द्वारा निर्देशन होना अत्यन्त आवश्यक है न कि स्वयं उसकी इच्छा द्वारा। परन्तु इससे क्या यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के बंधन और अधीनता का उसकी स्वतन्त्रता या संप्रभुता से सामञ्जस्य नहीं है, या वह उनसे वंचित किया जा रहा है, या उसकी अवयस्क अवस्था में उन पर शासन करनेवालों को उस पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है? इस प्रकार के नियंत्रण द्वारा, उसे अपने अधिकार शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिए तैयार किया जाता है। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि मेरा पुत्र स्वतन्त्र होने की आयु कब प्राप्त करेगा, तो मैं कहूँगा कि उसी आयु में जिसे प्राप्त करके

ही उसका सम्राट् शासन करने योग्य होता है। बुद्धिमान हुकर कहता है, (लॉज़ ऑव एक्लेजियास्टिकल पोलिटी, पुस्तक १, भाग ६), "किस आयु में व्यक्ति इतना विवेक-सम्पन्न माना जा सकता है कि वह अपने कार्यों का निर्देशन करनेवाले विधानों को समझने योग्य समझा जा सके––यह बात इन्द्रियों के अनुभव से जान सकना, शिक्षा और दक्षता द्वारा निश्चय करने की अपेक्षा अधिक सरल है।

६२. राज्य भी मानता है कि मनुष्य एक निश्चित आयु प्राप्त करने पर स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह स्वेच्छा से कार्य करना आरम्भ कर देता है। अतः उस आयु के पूर्व, राज्य राजभक्ति की शपथ या अन्य सार्वजनिक रूप से उस शासन की अधीनता की स्वीकृति ऐसे अवयस्क व्यक्ति से आवश्यक नहीं मानता।

६३. मनुष्य की स्वाधीनता और अपने इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता जो उसे अपने निर्देशक विधान से परिचित कराती हैं तथा जिनके द्वारा वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा मर्यादाओं से परिचित होता है––विवेक की शक्ति प्राप्त करने पर आधारित होती हैं। अपना निर्देशन करने योग्य विवेक प्राप्त करने के पूर्व ही उसे असीमित स्वतन्त्रता देना, वास्तव में स्वतन्त्रता का प्राकृतिक विशेषाधिकार सौंपना नहीं कहलाता, अपितु ऐसा करना उसे पशुओं के बीच ढकेल देना और ऐसी अवस्था में छोड़ देना है जो मनुष्यों की अवस्था की अपेक्षा उतनी ही घृणित और पतित है जितनी पशुओं की। इसी कारण, माता पिता को अपनी सन्तान की अवयस्क अवस्था में उन पर शासन करने की सत्ता प्राप्त होती है। परमेश्वर ने उनमें अपनी सन्तान के पालन-पोषण करने की भावना कर्त्तव्य के रूप में रची है और वात्सल्य और ममता के मनोभावों द्वारा इस सत्ता को प्रभावित किया है जिससे परमेश्वर के उद्देश्यानुसार, सन्तान को माता-पिता के अधीन तब तक रखा जाय, जब तक उनके हित के लिए ऐसा करना आवश्यक हो।

६४. माता-पिता का अपनी सन्तान का पालन-पोषण करने का यह अधिकार किस तर्क के अनुसार पिता के निरंकुश स्वेच्छाचारी आधिपत्य में परिणत हो सकता है? पिता को केवल इतनी ही सत्ता प्राप्त है कि वह अपनी सन्तान के शरीर को शक्ति और स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए, उसके विवेक को सजग और सद्गुण सम्पन्न बनाने के लिए, उस पर उतना ही अनुशासन रखे जिससे सन्तान अपने, तथा अन्य के लिए, अधिकाधिक उपयोगी हो सके। यदि पिता की स्थिति के लिए आवश्यक हो तो वह अपनी सन्तान से, योग्य होने पर, जीविका के लिए उद्यम भी करवा सकता है। परन्तु इस सत्ता में माता का भी, पिता के साथ समान भाग है।

६५. यह सत्ता पिता को किसी विशेष प्राकृतिक अधिकार के आधार पर नहीं,

वरन्, अपनी सन्तान का संरक्षक मात्र होने के कारण प्राप्त होती है। यदि वह सन्तान का पालन-पोषण नहीं करता, तो उसके ऊपर उसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है। इस सत्ता के साथ-साथ, उसे अपनी सन्तान के भोजन तथा शिक्षा का प्रबन्ध भी करना पड़ता है और उसकी इस सत्ता को इस कर्त्तव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह सत्ता त्यक्त बालक को शरण देनेवाले व्यक्ति को भी उतनी ही मात्रा में प्राप्त होती है जितनी उसके प्राकृतिक पिता को। यदि पिता का संरक्षण संतान के जन्म के बाद ही समाप्त हो जाय और यदि पिता के नाम पर सत्ता प्राप्त करने का यही एकमात्र कारण हो, तो, केवल जन्म देने से ही एक व्यक्ति को अपनी सन्तान पर बहुत कम सत्ता प्राप्त होती है। संसार के उस भाग में जहाँ एक स्त्री के, एक ही समय में, एक से अधिक पति होते हैं ? इस पितृत्व के अधिकार का क्या रूप होगा ? अमेरिका के उन भागों में, जहाँ पति और पत्नी के पृथक् होने पर, बहुधा सब बच्चे माता के संरक्षण में ही रखे जाते हैं और माता ही उनका पूर्णरूप से पालन-पोषण करती है। यदि बच्चों की अल्पायु में ही पिता की मृत्यु हो जाय, तो क्या, बच्चे, सभी देशों में, अपनी अवयस्क अवस्था में, स्वभावतः अपनी माता के प्रति उसी प्रकार आज्ञापालन करने के लिए बाध्य नहीं होते, जैसे वे अपने पिता के प्रति, उसके जीवन काल में होते थे ? क्या कोई यह भी कह सकता है कि माता को अपनी सन्तान के ऊपर विधि निर्माण की सत्ता प्राप्त है और वह उनके लिए ऐसे स्थायी नियम बना सकती है जिनका वह चिरकाल तक पालन करने को बाध्य हों और जिनके अनुसार ही वह अपनी समस्त सम्पत्ति की व्यवस्था करें तथा आजीवन उसकी स्वतन्त्रता सीमित कर सकें, और इन विधानों को प्राणदण्ड द्वारा कार्यान्वित किया जाय ? राजकीय अधिकारी की सत्ता ऐसी ही होती है और इसका अंश मात्र भी पिता को प्राप्त नही होता। पिता का अपनी सन्तान पर अधिकार अस्थायी होता है और वह संतान के जीवन तथा सम्पत्ति पर नहीं होता। उसकी सत्ता का उद्देश्य संतान की अवयस्क अवस्था की अशक्ति और अपूर्णता के कारण सहायता और शिक्षा के हेतु आवश्यक अनुशासन जुटाना भर होता है। यदि सन्तान को अभाव के कारण नष्ट होने का भय न हो, तो पिता अपनी सम्पत्ति की अपनी इच्छानुसार व्यवस्था कर सकता है। परन्तु अपनी सन्तान के निजी श्रम द्वारा उत्पन्न या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उपहार में दी गयी स्थावर सम्पत्ति या जंगम पशुओं पर पिता का अधिकार नहीं होता, और न वयस्क होने पर सन्तान की स्वतन्त्रता पर ही उसका अधिकार होता है। पिता का साम्राज्य तब समाप्त हो जाता है और उसके बाद उसका अपने पुत्र की स्वतन्त्रता पर उतना ही अधिकार होता है जितना किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता

पर। यह आधिपत्य निरंकुश या स्थायी भी नहीं हो सकता, क्योंकि दैव विधान द्वारा भी इसकी अधीनता त्यागने की अनुमति दी गयी है "माता-पिता को त्याग-कर, अपनी पत्नी के साथ रह।"

६६. यद्यपि एक समय ऐसा आता है जब सन्तान अपने पिता की इच्छा और आधिपत्य से उतनी ही स्वतन्त्र हो जाती है जितना स्वयं पिता किसी अन्य की अधीनता से होता है, और दोनों एक ही विधान द्वारा अनुबद्ध होते हैं—चाहे वह प्राकृतिक विधान हो या देश के राज्य का विधान हो; फिर भी, यह स्वतन्त्रता पुत्र को अपने पिता के प्रति आदर की वह भावना जो परमेश्वर और प्रकृति के विधान के अनुसार उसे अपने माता-पिता के प्रति रखना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है, न रखने की छूट नहीं देती, क्योंकि, परमेश्वर ने मानव जाति को स्थायी रूप देने की अपनी महान् योजना में माता-पिता को अपना साधन बनाया है और वे अपनी सन्तान को जीवन देने का कारण होते हैं। जिस प्रकार परमेश्वर ने माता-पिता के लिए, अपनी सन्तान का पालन-पोषण करने और उसकी जीवन रक्षा करने का कर्त्तव्य निर्धारित किया है, उसी प्रकार वह सन्तान को सदैव अपने माता-पिता का आदर करने को बाध्य करता है। सन्तान के इस कर्त्तव्य में आन्तरिक सम्मान और आदर का हर प्रकार का वह बाह्य प्रदर्शन अन्तर्हित है जो सन्तान को, अपने जन्मदाता के जीवन या सुख के लिए अनिष्टकारी या अपमानजनक या अस्तव्यस्तकारी या आशंकापूर्ण कार्य करने से रोकता है और उसे उनकी रक्षा करने और उन्हें, आराम, सहायता और सुविधा देने को प्रेरित करता है, क्योकि उन्होंने उसे जीवन प्रदान किया और जीवन के उपभोग के लिए योग्य बनाया। कोई राज्य या कोई भी स्वतन्त्रता, सन्तान को इस कर्त्तव्य से मुक्त नहीं कर सकती। परन्तु, स्पष्टतया, इसके यह अर्थ नहीं हैं कि माता-पिता को अपनी सन्तान पर आधिपत्य प्राप्त होता है, या विधिनिर्माण का अधिकार होता है, या वे इच्छानुसार अपनी सन्तान के जीवन और स्वतन्त्रता की व्यवस्था कर सकते हैं। आदर, सम्मान, कृतज्ञता, और सहायता प्राप्त करना एक बात है और पूर्ण आज्ञा पालन तथा पराधीनता की माँग करना दूसरी बात है। माता-पिता के प्रति आदर प्राप्त करने का अधिकार एक सम्राट् की माता को भी होता है, परन्तु इससे सम्राट् की सत्ता कम नहीं हो जाती और न वह अपनी माता के शासन के अधीन हो जाता है।

६७. पराधीन अवयस्क सन्तान पर पिता का शासन अस्थायी होता है जो सन्तान की अल्पावस्था समाप्त होने पर समाप्त हो जाता है। परन्तु अपनी सन्तान से आदर प्राप्त करने के अधिकार के आधार पर पिता को चिरकाल तक सम्मान, श्रद्धा, सहायता

और सम्मति का अधिकार होता है। यह अधिकार उतना ही अधिक या कम होगा, जितना पिता का संरक्षण, व्यय, दया और सन्तान की शिक्षा अधिक या कम होगी। यह अधिकार अल्पावस्था के अन्त के साथ समाप्त नहीं होता, वरन् मनुष्य के जीवन के हर भाग और अवस्था में बना रहता है। पिता को प्राप्त, इन दो सत्ताओं, अवयस्क अवस्था में संचालन के अधिकार और आजन्म आदर पाने के अधिकार—को विभिन्न रूप में न देखना ही शायद इस विषय के बड़ी मात्रा के भ्रम का कारण है। यदि हम उचित रूप से इन्हें देखें, तो इनमें से प्रथम में,पितृत्व के किसी विशेषाधिकार की अपेक्षा, माता-पिता का कर्त्तव्य ही अधिक है। माता-पिता को, अपनी सन्तान के हित के लिए, उसका पालन-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था करना इतना आवश्यक है कि वे, किसी भी कारणवश, अपनी सन्तान के पालन-पोषण के इस कर्त्तव्य से मुक्त नही हो सकते। यद्यपि इसके साथ-साथ आदेश और दण्ड देने की सत्ता भी प्राप्त होती है, परन्तु परमेश्वर ने मानव स्वभाव में अपनी सन्तान के प्रति इतनी ममता की भावना भर दी है, कि माता-पिता द्वारा इस सत्ता को अत्यधिक कठोरता से प्रयोग करने की सम्भावना नहीं रह जाती। अति का प्रयोग इसकी विपरीत दिशा में ही होता है, क्योंकि मानव स्वभाव का अत्यधिक झुकाव प्रतिकूल दिशा की ओर ही होता है। इसीलिए, सर्वशक्तिशाली परमेश्वर ने इज़राइल के निवासियों के प्रति अपने सौम्य व्यवहार का उल्लेख करते हुए उनसे कहा कि उसने उन्हें, "उसी प्रकार दण्ड दिया जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने पुत्र को देता है" (ड्यूटेरोनोमी ८, ५)—अर्थात्, ममता और प्रेमसहित केवल उनके अधिकाधिक हित के लिए जितना नितान्त आवश्यक था, उतने ही अनुशासन में उन्हें रखा। इससे अधिक ममता दिखाने से शिथिलता आ जाती। यही वह सत्ता है जिसकी आज्ञा के पालन का सन्तान को आदेश दिया गया है जिससे उनके माता-पिता के श्रम और चिन्ता में वृद्धि न हो अथवा उन्हें अनुचित फल न मिले।

६८. इसके विपरीत, संतान का अपरिहार्य कर्तव्य है कि माता-पिता से प्राप्त लाभ के बदले वह उन्हें आदर, सहायता तथा उनके प्रति कृतज्ञता के कारण जो कुछ उन्हें आवश्यक हो, दे, इसी में माता-पिता का उचित विशेषाधिकार निहित है। यह अधिकार माता-पिता के पक्ष में है जैसे दूसरा अधिकार सन्तान के लाभ के लिए है। यद्यपि, सन्तान को शिक्षित करने के माता-पिता के कर्त्तव्य में स्पष्टतया सत्ता ही परिलक्षित होती है, क्योंकि बचपन के अज्ञान और असमर्थता के लिए रोक और सुधार की आवश्यकता होती है जो स्पष्टतया शासन और एक प्रकार का आधिपत्य प्रतीत होता है। "आदर" शब्द में जो कर्त्तव्य समाविष्ट है, उसमें आज्ञा पालन का पुट कम है,

यद्यपि, यह कर्त्तव्य छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों के लिए अधिक मात्रा में होता है। "बच्चो, अपने माता-पिता की आज्ञा पालन करो" इसका यह अर्थ कौन लगा सकता है कि एक व्यक्ति, जिसके स्वयं सन्तान है, उतनी ही मात्रा में अपने पिता की आज्ञा पालन करे जो सत्ता के अभिमान में अपने पुत्र को बच्चा मानकर व्यवहार करने की मूर्खता करे क्या सन्तान उसकी आज्ञा का पालन कर सकती है?

६९. अतः सन्तान को शिक्षित करने का, "पितृत्व का अधिकार" जिसे कर्त्तव्य कहना ही उचित होगा, पिता को एक निश्चित समय के लिए ही प्राप्त होता है। जैसे ही शिक्षा का कार्य समाप्त हो जाता है, यह सत्ता स्वतः समाप्त हो जाती है, और, इसके पहले भी दूसरे को हस्तान्तरित की जा सकती है। एक व्यक्ति अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का कार्य किसी अन्य के सुपुर्द कर सकता है। जो अपने पुत्र को, कार्य सीखने के लिए, अन्य के अधीन कर देता है, वह उतने समय के लिए, पुत्र को अपनी, तथा उसकी माता की अधिकांश आज्ञानुवर्तिता से मुक्त कर देता है। परन्तु सन्तान से आदर प्राप्त करने का अधिकार, जो इस सत्ता का दूसरा भाग है, सदैव माता-पिता के साथ अक्षुण्ण बना रहता है और किसी भी कारणवश नष्ट नहीं हो सकता। यह सत्ता माता-पिता दोनों से किंचित मात्र भी पृथक् नहीं की जा सकती। पिता की सत्ता भी माता को अपने अधिकार से वंचित नहीं कर सकती, और न कोई पुरुष, अपने पुत्र को, उसकी जननी, माता का आदर करने से रोक सकता है। परन्तु इन दोनों ही रूपों में, यह सत्ता विधिनिर्माण की ऐसी सत्ता नहीं बन सकती, जो अपने विधानों को कार्यान्वित करने के लिए, ऐसे दण्ड दे सके जिनका प्रभाव सन्तान की सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, शरीर और जीवन पर पड़े। आज्ञा देने का अधिकार पुत्र की अवयस्क अवस्था के अन्त होने के साथ साथ समाप्त हो जाता है। यद्यपि इसके बाद पिता को अपने पुत्र से सदैव आदर और सम्मान, सहायता और सुरक्षा और पिता से अधिकाधिक प्राप्त लाभ के प्रति कृतज्ञतावश जो कुछ भी वह देने योग्य हो उसे प्राप्त करने का अधिकारी होता है, परन्तु इस सबके आधार पर पिता के हाथ में न तो राजदण्ड ही आ जाता है न पुत्र को आज्ञा देने की संप्रभु सत्ता ही उसे प्राप्त होती है। उसे अपने पुत्र की सम्पत्ति और कार्यों पर कोई आधिपत्य नहीं होता और न उसे ऐसा कोई अधिकार होता है कि उसी की इच्छा-नुसार उसके पुत्र के सब मामलों में व्यवस्था हो, यद्यपि ऐसी बहुत-सी बातों में—जो उसके तथा उसके परिवार के लिए, असुविधाजनक न हों, पुत्र का पिता की इच्छा का आदर करना उचित होता है।

७०. किसी वृद्ध या ज्ञानी पुरुष के प्रति आदर और श्रद्धा के आधार पर अपने

पुत्र या मित्र से प्राप्त हुई सुरक्षा के बल पर अथवा पीड़ितों की सहायता की दृष्टि से या अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता की भावना के कारण कोई व्यक्ति अपने आपको इतना ऋणी अनुभव कर सकता है कि अपनी समस्त सम्पत्ति या अपनी समस्त सामर्थ्य द्वारा भी उसे वह उक्त ऋण पर्याप्त रूप से न चुका सके। परन्तु, इसके कारण किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जिसके प्रति वह व्यक्ति अपने को ऋणी समझे—कोई सत्ता या विधि-निर्माण का अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। यह स्पष्ट है कि यह संप्रभु सत्ता केवल पितृपद के कारण ही प्राप्त नहीं होती—न केवल इसलिए भी कि माता के प्रति भी उसका इतना ही कर्त्तव्य है जितना पिता के प्रति वरन्, इसलिए कि जैसे बहुधा माता-पिता द्वारा पालन-पोषण, दया, चिन्ता और व्यय की मात्रा किसी-किसी सन्तान को दूसरी से अधिक प्राप्त होती है, उसी तरह सन्तान के माता-पिता के प्रति ऋण की मात्रा भी भिन्न-भिन्न हो सकती है।

७१. इसी कारण, माता-पिता के लिए, सन्तान के प्रजा रूप में रहते हुए भी सामाजिक व्यवस्था में उस पर उतनी ही सत्ता और आधिपत्य बनाये रखना, जितना उन्हें प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त था, सम्भव हो सका है। यदि सब राजकीय सत्ता का आधार केवल पितृत्व ही होता, और यदि दोनों—राजकीय और पितृत्व की सत्ताएँ—वास्तव में एक ही होतीं, तो इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव न थी, क्योंकि, तब राजा को ही पितृत्व का समस्त अधिकार प्राप्त होता, और स्वभावतः, प्रजा उससे वंचित होती। परन्तु उनके पार्थक्य के कारण दोनों सत्ताओं में—अर्थात् राजनीतिक सत्ता और पितृत्व की सत्ता में इतनी भिन्नता आ गयी है और वे परस्पर इतनी विलग हैं तथा उनके मूल आधार और उनके उद्देश्य इतने भिन्न हैं कि प्रजा के हर पिता को अपनी सन्तान पर पितृत्व का अधिकार उतना ही प्राप्त है जितना राजा को अपनी सन्तान पर। प्रत्येक राजा, अपने माता-पिता के प्रति सन्तानोचित कर्त्तव्य तथा आज्ञा-पालन के लिए उतना ही बाध्य होता है जितना उसकी प्रजा का छोटे-से-छोटा व्यक्ति अपने माता-पिता के प्रति। अतः पिता को किसी भी अंश या मात्रा में वह आधिपत्य प्राप्त नहीं है जो एक राजा या राजकीय पदाधिकारी को प्रजा पर प्राप्त होता है।

७२. यद्यपि माता-पिता का कर्त्तव्य अपनी सन्तान का पालन-पोषण है और सन्तान का कर्त्तव्य अपने माता-पिता का आदर करना। इसी में एक की सत्ता और दूसरे की अधीनता समाविष्ट है, जो इस सम्बन्ध के लिए उचित है; परन्तु साधारणतया, पिता को एक और अधिकार प्राप्त है जिससे उसे अपनी सन्तान से आज्ञा-पालन प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। यद्यपि यह अधिकार उसे अन्य व्यक्तियों के साथ,

समान रूप से प्राप्त है, परन्तु पिता को उस अधिकार को प्रदर्शित करने के अवसर अपने निजी परिवार में ही प्रायः मिलते हैं अन्य स्थानों पर ऐसे अवसर बहुत कम मिलते हैं और इस पर कम ध्यान दिया जाता है जिससे आज्ञा-पालन को भी संसार "पितृत्व के अधिकार" में ही सम्मिलित समझने लगा है। यह वह अधिकार है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति, अपनी सम्पत्ति, सामान्यतः जिसे सर्वोचित समझे उसे प्रदान कर सकता है। साधारणतया, पिता की सम्पत्ति पर सन्तान की आशा और उत्तराधिकार होता है और कुछ अंश में यह प्रत्येक देश के विधान और रीतिरिवाज पर निर्भर होता है, परन्तु यह, सामान्यतः, पिता का अधिकार है कि वह अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी सन्तान में से किसी को अधिक और किसी को कम अंश में, इस आधार पर करे कि उस सन्तान ने उसकी इच्छा के अनुकूल व्यवहार किया है या नहीं।

७३. सन्तान द्वारा आज्ञा पालन कराने का कोई सर्व-साधारण बन्धन नहीं है। चूँकि, किसी भूमि के उपभोग के साथ, उस देश के शासन की जिसके राज्य की एक अंश वह भूमि है अधीनता भी समाविष्ट होती है, अतः उसी आधार पर यह भी माना जाता है कि पिता अपनी सन्तान को उसी के अधीन कर सकता है जिसकी वह स्वयं प्रजा है और उसके अनुबन्ध से उसकी सन्तान भी बाध्य होती है। परन्तु शासन के अधीनस्थ उस भूमि के साथ जुड़ी हुई एक आवश्यक शर्त यह है कि वह भूमि उन्हीं को प्राप्त होगी जो उस शासन की अधीनता स्वीकार करे। यह बन्धन कोई प्राकृतिक बन्धन नहीं है, अपितु, स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत अधीनता मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति की सन्तान, प्रकृतिवश, अपने पूर्वजों की तरह ही स्वतन्त्र होती है और जब तक उसे वह स्वतन्त्रता प्राप्त है, वह अपने इच्छानुसार जिस समाज में और जिस राज्य के अधीन रहना चाहे, रह सकती है। परन्तु यदि सन्तान अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का उपभोग करती है, तो वह उन्हें, उन्हीं शर्तों पर प्राप्त होगी, जिस पर उनके पूर्वजों को प्राप्त थी और उन्हें ऐसी सम्पत्ति के साथ संयुक्त सब शर्तें भी स्वीकार करनी पड़ेगीं। इस अधिकार के कारण ही, वास्तव में, पिता अपनी सन्तान को, वयस्क आयु प्राप्त करने पर भी आज्ञा पालन करने के लिए प्रस्तुत करता तथा अपनी इच्छानुसार, राजनीतिक सत्ता की अधीनता भी स्वीकार कराता है, पितृत्व के किसी विशेषाधिकार द्वारा नहीं, वरन्, उस पुरस्कार के आधार पर जो वह दे सकता है वह पुत्र से आज्ञा पालन प्राप्त करता है। यह सत्ता वैसी ही है जैसी फ्रांस निवासी को ऐसे अंग्रेज पर प्राप्त होती है, जो मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा में उसकी आज्ञा का पालन करता है और यदि वह उसे प्राप्त हो जाय और वह उसका उपभोग करे तो उसे उस भूमि के साथ

समाविष्ट उस देश की विधि को भी स्वीकार करना पड़ेगा--चाहे वह फ्रांस हो या इंग्लैण्ड।

७४. अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि यद्यपि पिता की अपनी सन्तान का निर्देशन करने की सत्ता सन्तान की अवयस्क अवस्था तक ही सीमित रहती है, और उसका प्रयोग उस अवस्था के लिए उपयुक्त अनुशासन तक ही किया जा सकता है; और यद्यपि माता-पिता को अपनी सन्तान से आदर और सम्मान और भक्ति प्राप्त करने का आजीवन अधिकार होता है जिससे सन्तान को मुक्ति नहीं मिल सकती तथा प्रत्येक अवस्था में उन्हें सन्तान से सहायता और सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार होता है; फिर भी पिता को शासन करने की कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती--अर्थात् विधि निर्माण की और ऐसी विधि के अनुसार दण्ड देने की सत्ता प्राप्त नहीं होती। यद्यपि पिता को अपनी सन्तान की सम्पत्ति पर और कार्यों पर भी कोई आधिपत्य प्राप्त नहीं होता, परन्तु हम स्पष्टतया यह अनुमान कर सकते हैं कि आदि काल में, और आज भी, उन स्थानों में, जहाँ जनसंख्या की कमी के कारण, परिवार पृथक् होकर निर्जन भूमि में जाकर बस सकते हैं, यह कितना सरल है कि परिवार का पिता ही परिवार का राजा बन जाय।[1] वह अपनी सन्तान की शैशवावस्था के आरम्भ से ही उसका शासक तो होता ही है; उसके बड़े हो जाने पर, चूँकि, सब सन्तानों का किसी शासन के बिना, सम्मिलित रहना कठिन होता, अतः सर्वाधिक सम्भावना यही है कि सन्तान की स्पष्ट या मौन सम्मति

१. "अतः यह मत, जिसका समर्थन महान् दार्शनिक (अरिस्तू ?) ने भी किया है, निराधार नहीं है कि प्रत्येक परिवार का मुखिया हमेशा राजा की भाँति होता था। जब बहुत से परिवार मिलकर राजनीतिक समाज के रूप में रहने लगे, उनके सर्वप्रथम शासक राजा हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण राजाओं को पिता के नाम से संबोधन बना रहा, क्योंकि पिता के पद से ही उनकी व्युत्पत्ति हुई थी। पुरातन प्रथा के अनुसार शासकों को भी, जैसा हम मेल शीज़ेदेक् (Male chizadec) में देखते हैं, पिता इसी प्रकार सम्बोधित करते थे। परिवार में धार्मिक कृत्य पिता द्वारा सम्पन्न होते हैं, इसी कारण, प्राचीन काल में, राजा भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न करते थे। जो भी हो, संसार में केवल एक ही प्रकार की—एक तान्त्रिक—व्यवस्था नहीं है। एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था की अड़चनों के कारण अन्य कई प्रकार की शासन व्यवस्थाओं के निर्माण की आवश्यकता हुई। अतः संक्षेप में, सभी प्रकार की लोक व्यवस्थाएं, सुविधा और उपयोग को ध्यान में रखते हुए, स्पष्टतया, विचार विनिमय, विमर्श और सहमति द्वारा विकसित हुईं। प्रकृति में कोई बात असंभव नहीं है, परन्तु मनुष्य का लोक व्यवस्था के बिना जीवन असंभव है।"—हुकर (लॉज़ ऑव एक्लीज़िएटिकल पॉलिटी, पुस्तक १, भाग १०)

से यह शासन सत्ता पिता को प्राप्त हो जाय। ऐसा होने पर यह सत्ता किसी परिवर्त्तन के बिना स्थायी हो सकती है और तब केवल यही आवश्यक होता है कि परिवार पर प्राकृतिक विधान के अनुसार शासन करने की अनुमति परिवार के सदस्य पिता को दें तथा जब तक वे इस परिवार में रहें, वे प्राकृतिक विधान के अन्तर्गत प्राप्त अपने सब अधिकार त्यागकर पिता की राजकीय सत्ता स्वीकार करें। पिता को यह सत्ता किसी पितृत्व के अधिकार के आधार पर नहीं, वरन्, सन्तान की अनुमति द्वारा प्राप्त होती है, अतएव स्पष्ट है कि यदि कोई ऐसा अज्ञात व्यक्ति, जो भाग्यवश या किसी कार्य से किसी परिवार में गया हो और वह उस परिवार की किसी सन्तान की हत्या कर दे या कोई अन्य अपराध करे, तो पिता उसे दोषी ठहरा कर, अपनी सन्तान की ही तरह उसे मृत्युदण्ड दे सकता है। ऐसा दण्ड किसी भी प्रकार के पितृत्व के अधिकार के आधार पर असम्भव था, क्योंकि जिसके अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति के ऊपर, जो उसकी सन्तान नहीं है, उसे कोई सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती। यह अधिकार प्राकृतिक विधान के निष्पादन की ऐसी सत्ता पर आधारित है जो मनुष्य होने के नाते उसे प्राप्त होती है। अपने परिवार को केवल वही व्यक्ति दण्ड दे सकता है जिसे उसकी सन्तान ने आदर के कारण ऐसी सत्ता प्रदान की हो और स्वेच्छापूर्वक शेष परिवार से उच्च स्थान देकर उसमें सत्ता की प्रतिष्ठा और अधिकार स्वीकार किये हो।

७५. अतः मौन और प्रायः स्वाभाविक अनुमति द्वारा सन्तान के लिए पिता की सत्ता और शासन स्वीकार करना सरल और स्वभावोचित ही हैं। संतान अपने शैशव काल से उसके निर्देशन का अनुसरण करने और अपने छोटे-छोटे मतभेदों को निर्णय हेतु उसके समक्ष रखने की आदी होती है। संतान के वयस्क आयु प्राप्त कर लेने पर पिता ही उन पर शासन करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है। चूँकि सन्तान की सम्पत्ति बहुत कम हुआ करती थी और उन्हें अधिक लोभ भी न था——अतः उनमें घोर मतभेद की सम्भावना भी न होती थी। यदि कोई ऐसा मतभेद हो भी जाता था, तो उसकी मध्यस्थता करने के लिए पिता से, जिसकी देखरेख में उन सबका पोषण हुआ हो और जिसके हृदय में सबके लिये प्रेम हो अधिक उपयुक्त और कौन व्यक्ति हो सकता था? कोई आश्चर्य नहीं कि जब उन्हें पिता के संरक्षण से मुक्त होने की कोई इच्छा नहीं थी तो उन्होंने अवयस्क अवस्था और वयस्क आयु में कोई भिन्नता नहीं मानी और न उन्होंने २१ वर्ष या अन्य किसी आयु को इस दृष्टि से देखा कि उस पर पहुँचते ही उन्हें अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाया करे। अवयस्कता में वे जिस शासन के अधीन थे, वह आयु प्राप्त होने पर भी, बन्धन की अपेक्षा उनके

रक्षाकवच के रूप में कायम रहा। उन्हें पिता के शासन के आधीन जो शान्ति, स्वतन्त्रता और सम्पन्नता प्राप्त होती थी, वह अन्यत्र कहीं भी प्राप्त न हो सकती थी।

७६. इस प्रकार, परिवारों के प्राकृतिक पिता, अगोचर परिवर्तन से, परिवारों के राजकीय शासक भी बन गये। उनकी दीर्घ आयु और कई पीढ़ियों तक उनके योग्य और उपयुक्त उत्तराधिकारी होने या न होने के आधार पर ऐसे वंशानुगत या निर्वाचित साम्राज्य की स्थापना हुई जिसके संविधानों की रचना, दैवयोग, उपाय या परि-स्थितियों के आधार पर की गयी। यदि राजाओं को उनका पद पितृत्व के अधिकार से प्राप्त होता है, और यदि यह राजकीय सत्ता पर पितृत्व के प्राकृतिक अधिकार का पर्याप्त प्रमाण है, जैसा कि इस सत्ता के साधारणतया, उन्हीं के अधिकार में होने से प्रकट है; तो इसी तर्क के आधार पर यह भी प्रमाणित होता है कि सब राजाओं को पुरोहित होना चाहिए क्योंकि, यह निश्चित है कि प्रारम्भ में "कुटुम्ब का पिता न केवल कुटुम्ब का शासक ही था, परन्तु वह ही कुटुम्ब का पुरोहित भी था।"

अध्याय ७

राजनीतिक समाज

७७. परमेश्वर ने अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य को ऐसा जीवधारी बनाया है जिसके लिए एकान्तवास अश्रेयस्कर है। अतः उसने मनुष्य में आवश्यकता, सुविधा और प्रवृत्ति के ऐसे शक्तिशाली बन्धन बनाये है जो उसे समाज की ओर प्रेरित करते हैं। उसने मनुष्य को विवेक और भाषा प्रदान की है जिससे वह समाज में बना रहे और समाज का उपयोग करे। सर्वप्रथम समाज पुरुष और पत्नी से बनता था, जिसके फल-स्वरूप, माता-पिता और सन्तान का सम्बन्ध आरम्भ हुआ और कालान्तर में स्वामी और सेवक का भी सम्बन्ध बना। यद्यपि यह सभी सम्बन्ध एक परिवार में सम्भव थे और कभी कभी एक ही परिवार में पाये भी जाते थे, जहाँ गृहपति या गृहपत्नी को परि-वारोचित व्यवस्था का अधिकार प्राप्त होता था, परन्तु यह सम्बन्ध, या इन सम्बन्धों का संयुक्त रूप "राजनीतिक समाज" न कहा जा सकता था। परिवार और राजनीतिक समाज के उद्देश्य, बन्धन और सीमाएँ भिन्न होती हैं।

७८. पुरुष और स्त्री के स्वेच्छाकृत अनुबन्ध से परिवार बनता है। इसके अनुसार मुख्यतः दोनों में ऐसा ऐक्य और उनमें हर एक का दूसरे के शरीर पर ऐसा अधिकार होता है जो इसके मुख्य उद्देश्य—वंश विस्तार-के लिए आवश्यक है। परन्तु परिवार में पारस्परिक सहयोग और सहायता तथा एक दूसरे के हितों का ऐक्य भी होता है, जो उनकी चिन्ताओं और प्रेम में ऐक्य स्थापित करता है, और यह ऐक्य उन दोनों की सन्तान के लिए जिसे अपनी व्यवस्था स्वयं करने योग्य होने तक, माता-पिता से भोजन और पोषण प्राप्त करने का अधिकार है, आवश्यक भी है।

७९. पुरुष और स्त्री के संयोग का लक्ष्य केवल वंशविस्तार ही नही है, वरन्, मानव जाति का स्थायित्व भी है। इसीलिए, पुरुष और स्त्री का संयोग सन्तानोत्पादन के बाद समाप्त न होना चाहिए, वरन्, बच्चों के पोषण और सहायता के लिए जब तक आवश्यक हो वह सम्बन्ध बना रहना चाहिए। बच्चे, जब तक अपनी व्यवस्था स्वयं करने योग्य न हो जायँ, अपने जन्मदाता पर पालन-पोषण के लिए निर्भर होते हैं। यह नियम, सर्वज्ञानी सृष्टिकर्त्ता ने, अपने हाथों रचे गये जीवों के लिए बनाया है, और निम्न श्रेणी के जीव इसका नियमित रूप से पालन करते हैं। घास खानेवाले ऐसे जीवों

में, जो जीवित बच्चों को जन्म देते है, नर और मादा का सम्बन्ध केवल संभोग क्रिया के बाद ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि बच्चे के भोजन के लिए, उनके घास खाने योग्य होने तक, माँ का दूध पर्याप्त होता है। नर का भाग केवल गर्भाधान तक ही सीमित रहता है। वह मादा या बच्चे के लिए चिन्तित नही होता, क्योंकि, उनके पोषण में, उसकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु शिकार करनेवाले जीवो में, नर और मादा का सयोग अधिक काल तक स्थायी रहता है, क्योंकि, मादा अपना और अपनी अनेक सन्तान का पेट केवल अपने किये शिकार से नहीं भर सकती (जीवित रहने के लिए घास की अपेक्षा शिकार अधिक श्रमदायी और अधिक खतरनाक साधन है)। अतः उनके परिवार के पोषण के लिए, नर की सहायता की आवश्यकता होती है। उनके बच्चे जब तक स्वयं शिकार करने योग्य नही हो जाते, अपने जीवन के लिए, माता और पिता की संयुक्त देख-रेख पर निर्भर रहते है। ऐसा ही नियम सब पक्षियों में भी दृष्टिगोचर होता है (केवल उन पालतू पक्षियों को छोड़कर, जहाँ भोजन की प्रचुरता के कारण, नरपक्षी को अपने बच्चों के पालन-पोषण की आवश्यकता नही होती)। घोसलों में छोटे बच्चों के लिए भोजन जुटाने की तब तक की आवश्यकता के कारण, जब तक कि वे स्वयं उड़कर अपनी व्यवस्था करने योग्य न हो जायँ, नर और मादा अपना सम्बन्ध बनाये रखते हैं।

८०. मेरे विचार से यही, यदि एकमात्र नहीं तो मुख्य कारण अवश्य है, जिसके वश मानव जाति में अन्य जीवों की अपेक्षा, पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध, अधिक लम्बी अवधि के लिए होता है। क्योंकि अपनी प्रथम सन्तान के आत्मनिर्भर होने, और अपनी व्यवस्था स्वयं करने योग्य होने के पूर्व ही, स्त्री पुनः गर्भ धारण करने योग्य हो जाती है, और प्रायः पुनः गर्भवती हो, नवीन सन्तान को जन्म दे देती है। ऐसी सन्तान को अपने माता-पिता से पूरी सहायता की आवश्यकता होती है। अतः पिता के लिए अपनी सन्तान का पालन-पोषण करना आवश्यक होने के कारण, वह अन्य जीवों की अपेक्षा, एक ही स्त्री से अधिक समय तक दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए बाध्य होता है। अन्य जीवों में, अगली सन्तान के जन्म से पहले, पहली सन्तान अपनी व्यवस्था अपने आप करने योग्य हो जाती है। अतः उन जीवों में नर और मादा के दाम्पत्य सम्बन्ध स्वतः समाप्त हो जाते है और नर और मादा, आगामी वसन्त तक, पुनः नवीन सहचर चुनने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं। हम उस सृष्टिकर्त्ता की सर्वज्ञता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते जिसने मनुष्य को भविष्य के लिये व्यवस्था करने, तथा वर्त्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योग्यता प्रदान की है, और इसलिए उसने अन्य जीवों

के नर और मादा की अपेक्षा पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध अधिक स्थायी होना इसलिए अनिवार्य कर दिया है, जिससे उनके श्रम को प्रोत्साहन मिले और उनके हितों का उचित सामञ्जस्य हो, जिससे वे अपनी सन्तान के लिए व्यवस्था कर सकें। यदि दाम्पत्य सम्बन्ध अनिश्चित और अस्थायी होते, तो यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती।

८१. इन्हीं बन्धनों के कारण मानव जाति में अन्य जीवों की अपेक्षा, वैवाहिक बन्धन अधिक सुदृढ़ और स्थायी होते हैं; परन्तु इससे यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब सन्तानोत्पादन और शिक्षा का कार्य समाप्त हो जाय, और उत्तराधिकारी की व्यवस्था हो जाय, तो यह अनुबन्ध, अन्य स्वेच्छाकृत अनुबन्धों की भाँति, सहमति से या किसी निश्चित अवधि के बाद, या कुछ विशेष अवस्थाओं में समाप्त क्यों नहीं किये जा सकते ? स्वभाव और प्रकृति को देखते हुए यह आवश्यक नहीं है कि यह अनुबंध जीवन-काल के लिए हो। मेरा अभिप्राय उन अनुबन्धों से है जिनका पालन करने को मनुष्य किसी निश्चित विधान द्वारा चिरकाल के लिए बाध्य नहीं होता।

८२. पति और पत्नी का उद्देश्य यद्यपि समान होता है, परन्तु उनकी बौद्धिक भिन्नता के कारण, उनकी इच्छाओं में भी कभी-कभी विभिन्नता होना असम्भव नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि उन दोनों में से किसी एक को निर्णय की अन्तिम सत्ता (अर्थात् शासन करने की सत्ता) प्राप्त हो। यह सत्ता पुरुष में होना ही स्वाभाविक है, क्योंकि, उसमें शक्ति और योग्यता अपेक्षाकृत अधिक होती है। परन्तु इस सत्ता का क्षेत्र उन दोनों के समान हितों और सम्पत्ति तक ही सीमित रहता है और पत्नी को अनुबन्ध द्वारा प्राप्त अपने निजी अधिकारों पर पूर्ण और सच्चा आधिपत्य प्राप्त होता है। कम से कम, पति को अपनी पत्नी के जीवन पर कोई अधिकार नहीं होता और न पत्नी को अपने पति के जीवन पर। पति को निरंकुश सम्राट् के समान पत्नी पर कोई आधिपत्य प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसकी पत्नी को, जहाँ प्राकृतिक अधिकार या उनके अनुबन्ध के नियम ऐसी अनुमति दें, कई मामलों में अपने पति से पृथक् होने की स्वतन्त्रता रहती है, यह अनुबन्ध चाहे उन्होंने प्राकृतिक अवस्था में किया हो या वह उनके देश की प्रथाओं या विधानों पर आधारित हो। ऐसे सम्बन्ध विच्छेद में, बच्चे, अनुबन्ध की व्यवस्थानुसार ही, माता को या पिता को प्राप्त होते हैं।

८३. राजनीतिक शासन में, और नैसर्गिक या प्राकृतिक अवस्था में भी, विवाह के समस्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, राजकीय अधिकारी पति या पत्नी के किसी अधिकार या सत्ता को इस प्रकार घटा नहीं सकता जिससे उन उद्देश्यों की पूर्ति में जो प्रकृतिवश उसके लिए आवश्यक हैं—अर्थात्, सहवास काल में, सन्तानोत्पादन और पारस्परिक

सहयोग तथा सहायता आदि में बाधा पड़े। इन विषयों पर पति-पत्नी में मतभेद खड़ा होने पर राजकीय अधिकारी निर्णय करता है। यदि ऐसा न होता और पति को निरंकुश संप्रभुता प्राप्त होती और पत्नी के जीवन तथा मरण पर, पति का प्रकृतिवश अधिकार होता, तथा इस सत्ता का अस्तित्व पति या पत्नी के सम्बन्ध के लिए आवश्यक होता, तो ऐसे देशों में विवाह न हो पाते जहाँ पति को ऐसी निरंकुश सत्ता प्राप्त नहीं है। चूँकि, विवाह के उद्देश्य के लिए पति के पास किसी ऐसी सत्ता का होना आवश्यक नही है, अतः यह उसके लिए वह तनिक भी आवश्यक नहीं है। दाम्पत्य सम्बन्ध से ऐसी सत्ता पति को नहीं मिलती। परन्तु जब तक सन्तान स्वावलम्बी न हो जाय, तब तक उसके जन्म और पोषण के लिए, जो कुछ भी आवश्यक हो—पारस्परिक सहयोग, सुविधा और पोषण उसमें परिवर्त्तन और उसकी व्यवस्था, उन दोनों को दाम्पत्य सम्बन्ध में सर्वप्रथम बाँधनेवाले अनुबन्ध द्वारा ही हो सकती है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज बना है, उनकी पूर्ति के लिए जो अधिकार आवश्यक नहीं हैं वे उस समाज के लिए आवश्यक नहीं हो सकते।

८४. माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध का, और उनको प्राप्त अधिकारों और सत्ता का मैंने पिछले अध्याय में इतना विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है कि उसके विषय में यहाँ कुछ और कहना आवश्यक प्रतीत नही होता। मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि परिवार राजनीतिक समाज से एकदम भिन्न है।

८५. स्वामी और सेवक के नाम आदि काल से चले आ रहे हैं, परन्तु उनका तात्पर्य अत्यन्त भिन्न अवस्थाओं के व्यक्तियों से है। एक स्वतन्त्र व्यक्ति, कुछ समय के लिए, अपनी सेवा के विक्रय से, जिसके लिए वह मजदूरी प्राप्त करता है, अपने को सेवक बना देता है। यद्यपि इससे वह, सामान्यतया, स्वामी के परिवार और उसके साधारण अनुशासन में आ जाता है, परन्तु इससे स्वामी को उस पर केवल अस्थायी सत्ता प्राप्त होती है, जो उन दोनों के मध्य अनुबन्ध की शर्तों तक ही सीमित रहती है। परन्तु सेवकों की एक श्रेणी और होती है जिसे हम दास कहते हैं। वे, न्यायसम्मत युद्ध में बंदी बनाये जाने के कारण प्राकृतिक अधिकार के अनुसार, स्वामी के निरंकुश आधिपत्य और उसकी स्वेच्छाचारिणी सत्ता के आधीन होते है। चूँकि, ये व्यक्ति अपने जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित होते हैं और अपनी सम्पत्ति खोकर दासत्व की ऐसी अवस्था को प्राप्त होते है कि उन्हें सम्पत्ति प्राप्त नही हो सकती, अतः उन्हें इस अवस्था में राजनीतिक समाज का अंग नहीं माना जा सकता, क्योंकि, समाज का मुख्य लक्ष्य सम्पत्ति की सुरक्षा है।

८६. अब हम गृहपति और उसके अधीनस्थ उन स्त्री, सन्तान, सेवक और दास आदि के सम्बन्धों पर विचार करेंगे जो एक परिवार के घरेलू शासन के अधीन रहते है। व्यवस्था, कर्त्तव्य और संख्या की दृष्टि से राज्य शासन से अत्यधिक सादृश्य होने पर भी परिवार का संगठन, शक्ति और उद्देश्य राज्य से नितान्त भिन्न हैं। यदि हम उसे राजतन्त्र की दृष्टि से ही देखें और परिवार के पिता को निरंकुश शासक मानें, तो यह निरंकुश राजतन्त्र का अत्यन्त क्षुद्र और अस्थायी रूप होगा। ऊर्ध्वलिखित अंशों में मैंने यह स्पष्ट किया है कि गृहपति को परिवार के विभिन्न सदस्यों पर एक विशिष्ट प्रकार की सत्ता प्राप्त होती है जिसकी अवधि और क्षेत्र दोनों ही, सीमित होते हैं। केवल दास को छोड़कर परिवार के किसी अन्य सदस्य के जीवन और मरण के सम्बन्ध में विधि निर्माण जैसी सत्ता उसे प्राप्त नहीं होती। (और चाहे उसके परिवार में दास हों या न हों, फिर भी, परिवार वैसा ही परिवार रहता है और गृहपति के रूप में उसकी सत्ता का क्षेत्र उतना ही रहता है।) गृहपति के पास ऐसी कोई भी सत्ता नहीं होती जो गृहस्वामिनी को भी उसके साथ साथ प्राप्त न हो। जिसे परिवार के प्रत्येक सदस्य पर, व्यक्तिगत रूप से, अति सीमित सत्ता प्राप्त हो, सम्पूर्ण परिवार पर उसकी सत्ता को, निरंकुश सत्ता नहीं कहा जा सकता। परन्तु परिवार या मनुष्यों के अन्य संवास और राजनीतिक समाज के मध्य अन्तर, राजनीतिक समाज की विशेषताओं का अध्ययन करने पर ही स्पष्ट रूप से विदित हो जायगा।

८७. जैसा हमने प्रमाणित किया है, मनुष्य को जन्मतः पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार होता है। प्राकृतिक विधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों और शक्तियों का, संसार के अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों साथ मिलकर समान रूपसे अनियंत्रित उपभोग करने का अधिकार भी उसे प्राप्त होता है। अतः प्रकृतिवश अपनी सम्पत्ति मात्र की ही सुरक्षा का अधिकार उसे नहीं होता—(अर्थात् अपने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर अन्य व्यक्तियों के अनिष्ट और अतिक्रमण से सुरक्षा का)—वरन्, उसे उस विधान का उल्लंघन करने-वालों के विषय में निर्णय करके, उन्हें अपराध के अनुसार दण्ड देने का भी अधिकार होता है। यदि अपराध की मात्रा को देखते हुए आवश्यक समझा जाय, तो वह मृत्यु-दण्ड भी दे सकता है। चूंकि, राजनीतिक समाज का अस्तित्व सम्पत्ति की सुरक्षा और सम्बन्धित अपराधी को दण्ड देने के अधिकार में निहित है, अतः केवल वही समाज राजनीतिक समाज माना जा सकता है जहाँ उसके सदस्योंने इस प्राकृतिक अधिकार को, उन सब विषयों में, जिनके बारे में वे उस समाज के विधान से सुरक्षा प्राप्त करने की अपील कर सकें—त्याग कर समाज को सौंप दिया हो। इस प्रकार, व्यक्ति विशेष

के निजी निर्णय का अन्त कर के, समाज निर्णायक बन जाता है, और निष्पक्ष नियमों के अनुसार, तथा उन नियमों के निष्पादन के लिए समाज द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के ज़रिये, उस समाज के विभिन्न सदस्यों के मध्य मतभेदों का, जो किसी भी अधिकार के सम्बन्ध में उपस्थित हुए हों, निर्णय करता है, और समाज के प्रति अपराधों का स्थापित नियमों के अनुसार दण्ड देता है। इससे हमें यह सरलता से पता चल सकता है कि कौन राजनीतिक समाज का सदस्य है और कौन नहीं। जो व्यक्ति एक संस्था में संगठित हो गये हों, और जिनको अपील करने के लिए एक सामान्य स्थापित विधान और ऐसी न्याय प्रणाली उपलब्ध हो, जिसे उनके मतभेदों का निर्णय करने का और अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त हो; तो वे ऐसे सब व्यक्ति आपस में मिलकर 'राजनीतिक समाज' कहलाते हैं। परन्तु जिन्हें इस पृथ्वी पर ऐसी कोई निर्णायक सामान्य संस्था उपलब्ध न हो, वे प्राकृतिक अवस्था में माने जायँगे जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निर्णायक और दण्ड देनेवाला होता है, और जैसा मैं पहले बतला चुका हूँ, वही सच्ची प्राकृतिक अवस्था होती है।

८८. अतः राज्य को ऐसी सत्ता प्राप्त होती है कि वह अपने सदस्यों के आपस के विभिन्न अपराधो के लिए उपयुक्त दण्ड निर्धारित कर सकता है, (यह सत्ता व्यवस्था-पकीय सत्ता है।) अपने समाज के सदस्यों का, ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो उस समाज का नहीं है, अनिष्ट करने पर, उसे दण्ड दे सकता है (यह युद्ध और शान्ति की, अर्थात् संघीय सत्ता है।) राज्य की यह सत्ताएँ समाज के समस्त सदस्यों की सम्पत्ति की यथासम्भव सुरक्षा के हेतु हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य बनकर प्राकृतिक विधान के विरुद्ध किये गये अपराधो का, अपने निजी निर्णय के अनुसार, दण्ड देने का अधिकार त्याग देता है। परन्तु उन अपराधों के निर्णय के लिए जिसके लिए वह राजकीय पदाधिकारी से अपील कर सकता है, जो सत्ता वह व्यवस्थापिका को सौंपता है, उससे राज्य को यह अधिकार मिलता है कि निर्णयों के निष्पादन के लिए आवश्यकता पड़ने पर राज्य व्यक्ति के बल का उपयोग कर सके। शासन के निर्णय, वास्तव में, व्यक्ति के ही निर्णय होते हैं, क्योंकि, वह उसके या उसके प्रतिनिधियों द्वारा ही किये जा सकते हैं। वही राजनीतिक समाज की व्यवस्थापक और कार्यकारिणी सत्ता का मूल आधार है—स्थायी विधानों के अनुसार निर्णय करना कि राज्य के अन्तर्गत अपराधों का कितना दण्ड उचित है; तथा सामयिक परिस्थितियों के अनुसार, समय-समय पर इस बात का उचित निर्णय करना कि राज्य के प्रति किये गये बाहरी अपराधों का कितना प्रतिकार उचित है। इन दोनों ही बातों के लिए राज्य सब सदस्यों के सब साधनों का, आवश्यकता पड़ने पर उपयोग कर सकता है।

८९. अतः जब कभी, कुछ व्यवित इस रीति से संगठित हो समाज का इस प्रकार निर्माण करते हों कि उनमे से प्रत्येक प्राकृतिक विधान के निष्पादन की अपनी सत्ता त्याग कर उसे समाज को सौंप देता है, तब राजनीतिक समाज की स्थापना होती है। ऐसा तभी होता है, जब नैसर्गिक अवस्था मे, रहनेवाले अनेक संख्यक, व्यक्ति मिलकर एक समाज या एक सर्वोच्च सत्ता के अधीन राजनीतिक संगठन के रूप मे किसी समाज का निर्माण करते है, या जब कोई व्यक्ति किसी स्थापित शासन में इसलिए सम्मिलित हो जाता है, कि इससे वह समाज को, या उसकी व्यवस्थापिका को, जो परस्पर अभिन्न ही है, अपने प्रति विधि निर्माण करने का ऐसा अधिकार जिसकी सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता होती है, सौंप देता है और उसके निष्पादन में वह स्वयं सहायता करने को बाध्य होता है (मानो वह स्वयं उसी का आदेश हो।) उस राज्य के सदस्यों के सब मतभेदों का निर्णय और उनकी क्षतिपूर्ति कराने के लिए, वह पृथ्वी पर न्यायकर्त्ता की प्रतिष्ठा करके, प्राकृतिक अवस्था त्यागकर राजनीतिक समाज में प्रवेश करता है। राजनीतिक समाज में न्यायकर्त्ता, व्यवस्थापिका या उसके द्वारा नियुक्त राजकीय पदाधिकारी होते है। जहाँ कहीं भी व्यक्तियों का ऐसा समूह हो जिसके सदस्यों का आपस में चाहे जो भी सम्बन्ध हो, परन्तु जिनके मध्य कोई निर्णय करने की ऐसी सत्ता न हो जिससे अपील की जा सके, वहाँ वे प्राकृतिक अवस्था में ही माने जायेंगे।

९०. अतः यह स्पष्ट है कि निरंकुश राजतन्त्र का —जिसे कुछ व्यक्ति संसार में शासन का एकमात्र रूप मानते है, वास्तव में, राजनीतिक समाज से सामञ्जस्य नही है, और इसलिए वह किसी भी दृष्टि से राजनीतिक शासन नहीं माना जा सकता। चूँकि, राजनीतिक समाज का उद्देश्य प्राकृतिक अवस्था की उन असुविधाओं का निराकरण है जो प्रत्येक व्यक्ति के अपने मामलों में स्वयं निर्णायक होने से उपस्थित होती है; अतः एक ऐसी सत्ता स्थापित की जाती है जिसके समक्ष समाज का प्रत्येक सदस्य, क्षतिपूर्ति के लिए या मतभेद के निर्णय के लिए अपील प्रस्तुत कर सके और जिसकी आज्ञा पालन करना समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य हो।[1] जहाँ कही भी ऐसे व्यक्ति हो,

१. "सब समाजों में सार्वजनिक सत्ता उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति से श्रेष्ठ होती है। इस सत्ता का उद्देश्य अपने अधीनस्थ सब व्यक्तियों को विधान प्रदान करना है। यदि यह विश्वास करने का कारण न हो कि यह विधान विवेक और परमेश्वर के विधान के विपरीत है, तो इन विधानों का सबको पालन करना, अनिवार्य होता है। (हुकर, लॉज ऑव इक्लोजियेस्टिक पॉलिटी १. १६)

जिन्हें ऐसी सत्ता उपलब्ध न हो जिसके समक्ष वे अपील प्रस्तुत कर सकें जो उनके मध्य मतभेदों का निर्णय कर सके, तो वे प्राकृतिक अवस्था में ही माने जायेंगे। और प्रत्येक निरंकुश शासक अपनी अधीन प्रजा के समक्ष इसी स्थिति में होता है।

९१. चूंकि निरंकुश शासक को सर्वोच्च व्यवस्थापक और कार्यकारिणी सत्ता प्राप्त है, ऐसा माना जाता है अतः उसके द्वारा, या उसके आदेश द्वारा यदि किसी को क्षति पहुँचे या असुविधा हो, तो उसे उक्त शासक की आज्ञा के विरुद्ध अपील करने के लिए कोई ऐसी निर्णायक सत्ता उपलब्ध नहीं होती, जिसके उपयुक्त और निष्पक्ष निर्णय द्वारा उसे क्षतिपूर्ति प्राप्त हो सके। ऐसे व्यक्ति को चाहे सम्राट् या महाराजा या किसी और नाम से पुकारा जाय परन्तु वह अपनी प्रजा के प्रति उसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था में होता है जिस प्रकार वह शेष मानवजाति के प्रति होता है; क्योंकि, जहाँ कहीं भी ऐसे दो व्यक्ति हों जिनको अपील करने के लिए पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थायी आदेश और सामान्य निर्णायक उपलब्ध न हो जो अधिकारों के प्रश्न पर उनके मध्य मतभेदों का समाधान कर सके तो वे सब नैसर्गिक असुविधाओं सहित प्राकृतिक अवस्था में ही माने जायेंगे। अन्तर केवल यही होगा कि प्रजा अथवा निरंकुश शासक[१] के दासों को साधारण प्राकृतिक अवस्था में, अपने अधिकारों का स्वयं निर्णय करने और यथाशक्ति उस निर्णय को स्थायी बनाये रखने की स्वतन्त्रता होती है; परन्तु जब कभी उसकी सम्पत्ति पर उसके राजा के आदेश से अतिक्रमण होता है, तब वे केवल अपील ही नहीं कर सकते—जैसा समाज में होना चाहिए—वरन् वे अपने अधिकार का

१. "पारस्परिक क्षति, असंतोष और अपराधों के निवारण का, अर्थात् प्राकृत अवस्था की परिस्थितियों के निवारण का मार्ग केवल एक ही है। वह यह है कि संगठन और सहमति से किसी प्रकार के सार्वजनिक शासन को सब की शान्ति, व्यवस्था और कल्याण की प्राप्ति के लिए, शासकीय सत्ता प्रदान की जाय। यह तो व्यक्तियों को सदैव ही ज्ञात था कि बल और क्षति से वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं। उन्हे ज्ञात था कि यदि किसी प्रकार भी हित साधन में किसी और को क्षति पहुँचती है तो उसका मुकाबला किया जायगा, सब लोग मिलकर न्यायसम्मत ढग से उसका मुकाबला करेंगे। अन्त में, उन्हे यह भी ज्ञात था कि व्यक्तियों का स्वयं अपने मामलात में उचित निर्णय करना संभव नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति और अपने प्रिय स्वजनों के प्रति निष्पक्ष नहीं होता, अतएव वैमनस्य और झगड़े निरन्तर बने रहेंगे। इनके निवारण का एकमात्र मार्ग यही है कि व्यापक सहमति द्वारा सबके ऊपर ऐसी श्रेष्ठ सत्ता स्थापित की जाय जिसे सबकी सहमति प्राप्त हो। ऐसी सहमति यदि न हो सके तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति किसी को अपना शासक और न्यायकर्ता माने"। (हुकर, लॉज ऑव इक्लिजियेस्टिकल पॉलिटी १. १०)

निर्णय और रक्षा करने की स्वतन्त्रता से भी वंचित रहते हैं, मानो वे विवेक सम्पन्न जीवों के सामान्य स्तर से भी निम्नतर अवस्था में हो। अनियंत्रित नैसर्गिक अवस्था में प्रजा को उन सब दुर्दशाओं और असुविधाओं की आशंका रहती है जो ऐसी चापलूसी से भ्रष्ट और सत्ता से सुसज्जित व्यक्तियों की ओर से खड़ी की जा सकती हैं।

९२. यदि कोई सोचे कि निरंकुश सत्ता से मनुष्य के वंश का रक्त पवित्र हो जाता है और मानव स्वभाव की नीचता सुधर जाती है, तो उसे वर्तमान या किसी अन्य काल का इतिहास पढ़ने से विश्वास हो जायगा कि तथ्य इसके नितांत विपरीत है। अमेरिका की वन्यावस्था में जो अनियंत्रित और हिंस्र प्रवृत्ति का रहा हो, वह राजसिंहासन पर पहले से अच्छा नहीं बन सकता। वहाँ शायद ज्ञान और धर्म द्वारा, जो कुछ भी वह अपनी प्रजा के प्रति करे, उसे न्यायोचित प्रमाणित किया जायगा और तनिक-सा भी सन्देह करनेवालों का मुँह बलात् बन्द कर दिया जायगा। निरंकुश राजतन्त्र अपने विकास की चरम सीमा में कसी सुरक्षा प्रदान करता है और अपने देशों के पिताओं को किस प्रकार के राजरूप देता है और अपनी प्रजा के बीच कितनी मात्रा में सुख और सुरक्षा की भावना जागृत करता है, यह सीलोन (Ceylon) की विगत घटनाओं के अध्ययन से सहज में ही पता चल जायगा।

९३. वास्तव में, निरंकुश राजतन्त्रों में तथा संसार के अन्य शासनों में, प्रजा न्याय के समक्ष अपील कर सकती है। वहाँ उनके पारस्परिक मतभेदों का निर्णय करने के लिए न्यायाधीश होते हैं जो प्रजा के पारस्परिक झगड़ों और प्रतिहिंसा को रोकते हैं। इस प्रकार की सत्ता को सब आवश्यक समझते हैं और सबकी उसमें आस्था है। जो इसको हटाने का प्रयत्न करे, उसे समाज तथा मानव जाति का घोषित शत्रु समझा जाना चाहिए। परन्तु इसमें संशय है कि यह सारी व्यवस्था मानव जाति और समाज के प्रति सच्चे प्रेम और हम सब मे वर्तमान पारस्परिक न्याय्य भावना के कारण है। आत्म सत्ता, लाभ और महत्ता का प्रेमी केवल इतना ही कर सकता है, और उसे स्वभावतः यह करना आवश्यक भी है कि वह समाज के सुख और हित के खातिर श्रम और उद्योग करनेवाले जीवों को आपस में लड़ने और नष्ट होने से रोके। स्वामी, सेवकों की व्यवस्था उनके प्रति प्रेम के कारण नही, परन्तु अपने स्वार्थवश तथा उनसे प्राप्तव्य लाभ के कारण करता है। यदि यह पूछा जाय कि किसी राज्य में निरंकुश शासक की हिंसा और अत्याचार से बचने का क्या उपाय है और उस पर क्या रोक है, तो यह प्रश्न ही मान्य नहीं किया जायगा, क्योंकि उनका कहना है कि सुरक्षा की माँग करनेवाला मृत्युदण्ड का अधि-

कारी होता है। वे यह स्वीकार करेंगे कि प्रजा में परस्पर शान्ति और सुरक्षा के लिए नियम विधान और न्यायाधीशों का होना आवश्यक है, परन्तु, शासक को निरंकुश ही होना चाहिए और वह सब मर्यादाओ से ऊपर है। चूँकि, उसे अनिष्ट और अनुचित कार्य करने की सत्ता अन्य सबसे अधिक प्राप्त होती है, अतः उसके अनुचित कार्य भी उचित माने जाते हैं। यदि आप उस शक्तिशाली सत्ता द्वारा अनिष्ट और क्षति से सुरक्षा पाने का उपाय जानना चाहें, तो उसे दलबन्दी करनेवाली और राजद्रोहिणी माना जायगा, क्योंकि माना जाता है कि मनुष्यों ने नैसर्गिक अवस्था त्यागकर, जब समाज में प्रवेश किया तो उन्होंने इसे एकमत से स्वीकार कर लिया कि एक को छोड़कर शेष सब लोग विधान की सीमा के अन्तर्गत रहेंगे और नैसर्गिक अवस्था में प्राप्त हर एक की स्वतंत्रता उसी एक व्यक्ति के पास रहेगी, तथा उसमें सत्ता का भी योग हो जायगा तथा उसे दण्डादि से मुक्त रहने की स्वतंत्रता प्राप्त होगी। इसका अर्थ है कि मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे खूँखार जंगली बिल्ली तथा लोमड़ी के अनिष्टों से बचने का तो उपाय करते हैं, परन्तु सिंह द्वारा नष्ट किये जाने से वे न केवल सन्तुष्ट ही रहते हैं वरन्, उसी में अपनी सुरक्षा मानते हैं।

९४. जनता की बुद्धि को भ्रम में डालने के लिए राजतन्त्र के प्रशंसक चाहे जो कहें, वे मनुष्य की चेतना को रोक नहीं सकते। जब उन्हें इसका बोध होता है, कि कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी भी पद पर आसीन हो, उनके राजनीतिक समाज के बन्धनों से ऊपर है और वे उसके द्वारा पहुँचायी गयी क्षति के विरुद्ध समस्त संसार में कहीं भी अपील नहीं कर सकते; तो वे अपने आपको उस व्यक्ति के प्रति प्रकृति की अवस्था में ही समझेंगे। अतः वे यथाशीघ्र उस समाज में पुनः वही सुरक्षा और निश्चिन्तता स्थापित करने का प्रयास करेंगे, जिसके लिए उस समाज का उन्होंने सर्वप्रथम निर्माण किया था और उसकी सदस्यता ग्रहण की थी। यद्यपि यह सम्भव है कि, जैसा मैं इस निबन्ध के आगामी भागों में अधिक विस्तारपूर्वक बतलाऊँगा, सर्वप्रथम एक उत्तम और श्रेष्ठ पुरुष को, अन्य सबके ऊपर उच्च स्थान प्राप्त हुआ हो, जिससे उसकी योग्यता और गुणों का, एक प्राकृतिक सत्ता के रूप में, इतना आदर रहा हो कि प्रजा के मतभेदों का निर्णय करने की मुख्य शासन सत्ता मौन सम्मति से उसी के हाथों मे सौपी गयी हो और केवल उसके विवेक और बुद्धि पर भरोसा रखने के अतिरिक्त और किसी सुरक्षा की व्यवस्था न की गयी हो। परन्तु समय के साथ और जैसा कुछ व्यक्तियों का मत है, ऐसी प्रथाओं के प्रति आस्था के कारण जो आदि काल में लापरवाही और अनजानें में स्थापित हुई हों, भिन्न कोटि के उत्तराधिकारी पदासीन होने लगे। जब जनता यह अनुभव करे कि उसकी

सम्पति उस शासन के अधीन सुरक्षित नहीं है[1] (और शासन का एकमात्र उद्देश्य सम्पत्ति की सुरक्षा ही है) तब वह अपने को सुरक्षित नहीं समझती और स्थिर नहीं रहती। न वह तब तक अपने को राजनीतिक समाज का अग मान सकती है, जब तक व्यवस्थापक सत्ता ऐसी संस्थाओ को—उन्हें आप भले ही परिषद या संसद या चाहे जिस नाम से पुकारें—प्राप्त न हो जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति, निम्नतम व्यक्तियो के समान ही उन विधानों का वशंवद हो जिन्हें उसने व्यवस्थापिका के एक अंग के रूप में स्थापित किया है। विधान बन जाने के बाद कोई व्यक्ति उस विधान के दण्ड से, अपनी निजी सत्ता के आधार पर बच नहीं सकता, और किसी प्रकार की श्रेष्ठता के दावे पर अपने को उससे यो वर्जित नही कर सकता, जिससे उसे और उसके समर्थकों को उच्छृंखलता का अधिकार प्राप्त हो। राजनीतिक समाज में कोई व्यक्ति उस समाज के विधानों के क्षेत्र के परे नही हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता हो और उसके द्वारा हुई हानि की क्षतिपूर्ति और उसके अत्याचार से सुरक्षा के लिए संसार में कहीं अपील न की जा सके, तो मैं पूछूँगा कि क्या वह ऐसी स्थिति में प्राकृत अवस्था में न माना जायगा ? स्पष्ट है कि वह उस राजनीतिक समाज का सदस्य या अंग नहीं माना जा सकता, अन्यथा यह कहा जा सकता है कि प्राकृत अवस्था और राजनीतिक समाज मे कोई अन्तर नहीं है। अराजकता का इतना बड़ा समर्थक मुझे अभी तक कोई नहीं मिला[2]।

१. "पहले जब किसी प्रकार के शासन की नियुक्ति की गयी, सम्भव है कि उस समय शासन के ढंग पर और अधिक विचार नहीं किया गया और शासक के सद्भाव, ज्ञान और विवेक पर इसे छोड़ दिया गया, लेकिन इसके कारण समाज के सब अंगों को इस गम्भीर अनुभव से असुविधा का ज्ञान हुआ कि जिसे उन्होंने व्याधि निदान के लिए स्वीकार किया था, वह व्याधि से भी अधिक कष्टदायी है। उन्होंने देखा कि उनकी समस्त व्याधि का कारण उन सबका एक व्यक्ति की इच्छा के अधीन रहना ही है। उपचार स्वरूप उन्होंने ऐसे विधान स्वीकार किये जिनसे सब अपने कर्तव्यों से परिचित हों सकें और कर्तव्य विमुख होने के परिणामस्वरूप प्राप्य दण्ड को भी जान सकें।" (हुकर, लॉज ऑव एक्लिजियेस्टिकल पॉलिटी, १, १०)

२. "राज्य का विधान, सम्पूर्ण राजनितिक समाज की कृति होने के कारण, उस समाज के विभिन्न अंगों से श्रेष्ठ होता है।" (हुकर, लॉज ऑव इक्लिजियेस्टिकल पॉलिटी १, १०)

अध्याय ८

राजनीतिक समाज का आरम्भ

९५. जैसा कहा जा चुका है, व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्र, समान और स्वाधीन होते हैं। अतः किसी को भी, सहमति के बिना, इस अवस्था से हटाकर, किसी अन्य की राजनीतिक सत्ता के अधीन नहीं किया जा सकता। व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग, अन्य व्यक्तियों के साथ सम्मिलित हो, सहमति से ऐसे समाज की स्थापना करने के लिए ही करता है, जिसके आधीन वे सब सुविधापूर्वक, सुरक्षित और शान्तिपूर्वक एक साथ रह सकें और अपनी सम्पत्ति का निरापद उपभोग कर सकें तथा विशेषतः उन लोगों से सुरक्षित रह सकें जो उस समाज के अंतर्गत नहीं है। समाज में शामिल सदस्यों की संख्या की कोई सीमा नहीं है, क्योंकि, इससे अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को कोई क्षति नहीं पहुँचती। वे लोग तो नैसर्गिक स्वतन्त्रता की अवस्था में ही बने रहते हैं। जब किसी भी संख्या के व्यक्ति इस प्रकार एक समाज या शासन बनाने के लिए सहमत होते हैं, तो उनके एकीभूत होने से तुरन्त एक ऐसा राजनीतिक समुदाय स्थापित हो जाता है जिसमें बहुमत को, शेष सबकी ओर से, कार्य करने का और निर्णय करने का अधिकार होता है।

९६. क्योंकि जब किसी भी संख्या में, सर्वसहमति से, व्यक्ति एक समुदाय बनाते है तो वे उसे एक इकाई का रूप देते है। इस समुदाय को एक इकाई के रूप में कार्य करने का अधिकार होता है जिसका प्रयोग केवल बहुमत की इच्छा और निश्चय के अनुसार ही हो सकता है। कोई भी समुदाय, अपना कार्य अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूँकि, यह समुदाय एक इकाई होता है, अतः समग्र समुदाय की एक निर्दिष्ट नीति होना आवश्यक है। इकाई उसी दिशा मे अग्रसर हो सकती है जिस ओर सर्वाधिक झुकाव हो, इसी प्रकार समुदाय की भी वही नीति हो सकती है, जिसको, उसके अधिकांश सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त हो; अन्यथा वह एक इकाई के रूप में कार्य नहीं कर सकता और न कायम रह सकता है, क्योंकि जिस उद्देश्य के लिए सदस्य गण उसमें सम्मिलित होने के लिए सहमत हुए थे उसकी वह पूर्ति नहीं कर सकता। अतः समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति, बहुमत पर आधारित सहमति का निश्चय स्वीकार

करने के लिए बाध्य होता है । इसीलिए, हम देखते हैं कि उन सभाओं में, जिन्हें निश्चित विधानों द्वारा ऐसे अधिकार दिये गये है, और जहाँ ऐसे अधिकारों को देनेवाले निश्चित विधानों ने कोई संख्या निर्धारित नहीं की है, वहाँ बहुमत द्वारा पारित अधिनियम सम्पूर्ण समाज द्वारा अनुमोदित माने जाते है, और सब पर उनकी उसी प्रकार की सत्ता होती है जैसी प्रकृति और विवेक के विधान की होती है।

९७. इस प्रकार, परस्पर सहमति से, शासन के अधीन राजनीतिक समाज की स्थापना होती है। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति, अन्य सदस्यों के प्रति, बहुमत के निश्चय को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है, अन्यथा, यह मूल अनुबन्ध, जिसके द्वारा व्यक्ति एकीभूत हो एक समाज बनाते हैं, निरर्थक होगा। यदि किसी अनुबन्ध में सम्मिलित होनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र और बंधनमुक्त बना रहे जितना वह पूर्वगामी अवस्था में था, तो वह अनुबन्ध स्वीकार्य न माना जायगा। ऐसे अनुबन्ध का अभिप्राय ही क्या हो सकता है ? वह अनुबन्ध ही क्या हुआ जहाँ व्यक्ति समाज के उन्हीं आदेशों का पालन करने को बाध्य हो जिन्हें वह स्वयं स्वेच्छा से पालन करना चाहे, या जिनके लिए उसने निश्चित स्वीकृति दी हो ? ऐसी दशा में उसने कौन-सा नया बन्धन स्वीकार किया, इसमें तो उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही बनी रहेगी जितनी अनुबन्ध के पहले थी, या जितनी किसी व्यक्ति को प्राकृत अवस्था में प्राप्त थी वहाँ वह ऐसे विधानों के अधीन रहता था जिनको स्वीकार करना उसकी स्वेच्छा पर निर्भर था।

९८. यदि बहुमत की सहमति को, विवेकानुसार, सम्पूर्ण समाज की सहमति न माना जाय और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए निर्णायक न हो, तो फिर समाज के प्रत्यक व्यक्ति की सहमति ही सम्पूर्ण समाज की ओर से सहमति मानी जा सकती है। परन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति होंगे जो स्वास्थ्य विषयक असमर्थता के कारण या किसी उद्यम में व्यस्त रहने के कारण, सार्वजनिक व्यवस्थापिकाओं में उपस्थित न हो सकें यद्यपि उनकी संख्या बहुत अधिक न होगी। विविध विचार-धाराओं तथा ऐसे विशिष्ट स्वार्थों के वैभिन्य के कारण, जिनका अस्तित्व बहुसंख्यक व्यक्तियों के समूह में अवश्यम्भावी है, ऐसी सहमति असम्भव है। समाज का संगठन इन शर्तों पर सम्भव नहीं है, समाज बनते ही बिगड़ जायगा। संगठन की ऐसी रीति से बड़े से बड़े राज्य का जीवन, क्षुद्रतम जीव के जीवन से अधिक क्षणभंगुर होगा और एक दिन भी स्थायी न रह सकेगा। ऐसा तो हम मान नहीं सकते कि विवेक सम्पन्न जीव समाज का निर्माण केवल उसे भंग करने के लिए ही करेंगे। जहाँ बहुमत सम्पूर्ण समाज की ओर से निश्चय नहीं कर

सकता, वहाँ समाज एक इकाई के रूप में कार्य नही कर सकता और ऐसे समाज का अस्तित्व क्षणभंगुर होता है।

९९. अतः जब कभी व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था त्यागकर, समाज की स्थापना करते है, उनका उद्देश्य यही समझना चाहिए कि उन्होने जिस मतलब से संगठित होकर समाज की स्थापना की है उसकी पूर्ति के लिए सब आवश्यक सत्ता समाज के बहुमत को सौंप दी है, या उस संख्या को जो निश्चित सहमति द्वारा बहुमत से अधिक मानी गई हो। एक राजनीतिक समाज में संगठित होने के लिए सहमति मात्र से शासन आवश्यक हो जाता है। राज्य स्थापना में व्यक्तियों के मध्य केवल यही अनुबन्ध आवश्यक होता है। अतः किसी भी राजनीतिक समाज की स्थापना और संगठन के लिए आवश्यकता केवल ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों की होती है जो बहुमत द्वारा मिलकर ऐसा समाज स्थापित करना चाहते हों। केवल इसी भाँति के, किसी अन्य भांति के समाज से नही, संसार में किसी भी वैधानिक शासन का आरम्भ हुआ होगा या हो सकता था।

१००. यहाँ शायद दो आपत्तियाँ उठायी जायँ —

१. सारे इतिहास में कहीं भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जिसमें, ऐसे व्यक्ति जो स्वतन्त्र और एक दूसरे के समान हों, आपस में मिले हों और उन्होंने इस रीति से शासन की स्थापना की हो।

२. मनुष्य के लिए इस प्रकार से शासन स्थापित करने के अधिकार का प्रयोग करना असम्भव है, क्योंकि सब व्यक्ति किसी शासन के अधीन जन्म लेते हैं और उन्हें उसी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है तथा वे नये शासन का आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते।

१०१. प्रथम आपत्ति का उत्तर यह है, कि निःसन्देह प्राकृत अवस्था में रहनेवाले मनुष्यों का इतिहास में बहुत ही कम वर्णन मिलता है। उस अवस्था की असुविधाओं के कारण और समाज के प्रति प्रेम और समाज की आवश्यकता के कारण, जैसे ही व्यक्ति एक दूसरे के निकट आये, उन्होंने तत्काल संगठित हो, समाज की स्थापना की, मानों वे संगठित रूप से रहने के लिए ही बनाये गये हों। यदि हम यह न मानें कि मनुष्य कभी प्राकृत अवस्था में थे, क्योकि हमें उनकी इस अवस्था का कोई उल्लेख नहीं मिलता, तो हमें यह भी नहीं मानना चाहिए कि सालामांजर (Salnamaser) या जरक्सीज (Xerxse) की सेना के सैनिक कभी बच्चे भी थे, क्योंकि, हमें उनके वयस्क होने तथा शस्त्रों से सुसज्जित होने से पहले का कोई

ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता। लिखित इतिहास का आरम्भ सदैव शासन के बाद होता है। मानव जाति मे अक्षर ज्ञान का प्रादुर्भाव तभी होता है जब बहुत समय तक समाज के रूप में रहते हुए, उसने अन्य आवश्यक कलाओं द्वारा सुरक्षा, सुविधा और प्रचुरता प्राप्त कर ली हो। तभी समाज अपने संस्थापकों के इतिहास पर ध्यान देना प्रारम्भ करता है और अपने आदि पूर्वजों की खोज शुरू करता है, परन्तु, उस समय तक उसे उनका विस्मरण हो जाता है। जिस प्रकार व्यक्तियों को अपने जन्म तथा शशव काल की याद नहीं रहती, उसी प्रकार संगठित समाज को भी अपने आदि काल की याद नहीं रहती। उसका जो कुछ भी ज्ञान उसे होता है वह अन्य व्यक्तियों के आवसरिक लेखों द्वारा होता है। संसार में किसी भी राजनीतिक समाज के प्रादुर्भाव के उपलब्ध लिखित प्रमाणों से मेरे मत की स्पष्ट पुष्टि होती है। केवल यहूदियों का समाज ही इस नियम का अपवाद है, क्योंकि, उसे स्वयं परमेश्वर ने स्थापित किया था और वह पैतृक आधिपत्य का समर्थन नहीं करता।

१०२. रोम और वेनिस का प्रादुर्भाव एक दूसरे से मुक्त और स्वतन्त्र, अनेक व्यक्तियों के संगठन से हुआ था, जिनमें परस्पर किसी प्रकार की प्राकृतिक श्रेष्ठता या पारस्परिक अधीनता न थी। ऐसा ही व्यक्ति इन स्पष्ट तथ्यों को अस्वीकार करेगा जो अपनी पूर्व निश्चित धारणाओं के विपरीत प्रमाणों को स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि जोजेफस एकोस्टा (Josephus Acosta) पर हमारा भरोसा है, तो उसके लेख से हमें पता चलता है कि अमेरिका के कई भागों में कोई शासन न था। पीरू के आदिवासियों के बारे में वह लिखता है, इस अनुमान के कई महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट कारण है कि इन व्यक्तियों में, बहुत समय तक, न तो कोई राजा था, और न राजसंगठन। जिस प्रकार आज फ्लोरिडा (Florida) के शेरीकारा (Cheriquaras) रहते हैं, वे भी झुंडों में रहते थे। ब्राज़ील (Brajil) तथा कुछ अन्य देशों में भी कई ऐसी जातियाँ रहती हैं जिनमें कोई राजा नहीं होता, परन्तु, युद्ध या शान्तिकाल में आवश्यकता होने पर, अपनी इच्छानुसार वे अपने नायक चुनती हैं।" (पुस्तक १, अध्याय १५) शायद यह कहा जाय कि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता के या परिवार-पिता के अधीन जन्म लेता है, तो मैं पहले ही यह प्रमाणित कर चुका हूँ कि पुत्र की पिता के प्रति अधीनता से, उसकी किसी भी राजनीतिक समाज में, जिसे वह उचित समझे, प्रवेश करने की स्वतन्त्रता छिन नहीं जाती। परन्तु, जैसा भी हो, यह स्पष्ट है कि, इन जातियों के व्यक्ति वास्तव में स्वतन्त्र थे। राजनीति शास्त्री अब उनमें चाहे जिस व्यक्ति को, कैसी भी श्रेष्ठता प्रदान करने का प्रयास करें, परन्तु

स्वयं उन्होंने कभी किसी ऐसी सत्ता का दावा नहीं किया। जब तक सहमति से उन्होंने अपने ऊपर शासक नियुक्त नहीं किये, वे सब उसी सहमति के आधार पर समान बने रहे। अतः उन सब जातियों में राजनीतिक समाजों का आरम्भ स्वेच्छाकृत संगठन और मनुष्यों के अपना शासक नियुक्त करने तथा शासन का रूप निर्धारित करने से, पारस्परिक ऐक्य द्वारा हुआ।

१०३. मुझे आशा है कि पैलेन्टस (Palantus) के साथ स्पार्टा (Sparta) का परित्याग कर जानेवाले व्यक्ति, जिनका उल्लेख जस्टिन (Justin) ने किया है, स्वतन्त्र ही माने जायेंगे क्योंकि, वे एक दूसरे से स्वतन्त्र थे और उन्होंने अपने ऊपर स्वतन्त्र रूप से स्वेच्छापूर्वक शासन स्थापित किया था। मैंने इतिहास से अनेक ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं कि यद्यपि वे प्राकृत अवस्था में थे, किन्तु उन्होंने आपस में मिलकर तथा संगठित होकर राजनीतिक समाज की स्थापना की। यदि दृष्टान्तों की कमी को आधार बनाकर यह कहा जाय कि शासन का प्रारम्भ इस प्रकार कभी नहीं हुआ और न हो सकता है, तो मेरा उत्तर यह होगा कि पितृत्व पर आधारित राजसत्ता के समर्थक प्राकृतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध इस तर्क को प्रस्तुत करने में अधिक उतावली न दिखलायें, और अच्छा ही हो यदि वे इसे प्रस्तुत ही न करें। यदि वे इतिहास से पितृत्व के अधिकार से विकसित हुए शासनों के इतने उदाहरण प्रस्तुत कर सकें, तो मैं तुरन्त निःशंक उनका मत स्वीकार कर लूँगा (यद्यपि उनके इस तर्क में अधिक बल नहीं है कि चूँकि जो हो चुका है इसलिए वही उचित है)। यदि वे मेरी सलाह मानें तो मैं उन्हें यही सलाह दूँगा कि वे शासनों की स्थापना के मूल आधार की बहुत अधिक खोजबीन न करें, क्योंकि उन्हें पता चलेगा कि अधिकांश की स्थापना का आधार उस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है जिसका वे प्रचार कर रहे हैं और न इस प्रकार की सत्ता के अनुकूल है जिसका वे समर्थन कर रहे हैं।

१०४. अन्त में, निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य प्रकृतिवश स्वतन्त्र है। विवेक द्वारा हमारे इस निष्कर्ष का स्पष्टतः समर्थन होता है। इतिहास के उदाहरण भी यही प्रमाणित करते हैं कि संसार में शान्ति के समय स्थापित शासन इसी विधि से—जनता की सहमति से—स्थापित हुए थे। इसमें संशय की तनिक भी संभावना नहीं है कि अधिकार का मूल क्या है, या शासनों की सर्वप्रथम स्थापना में मानव जाति का क्या मत और व्यवहार रहा है।

१०५. मैं इसे अस्वीकार नहीं करता कि यदि हम इतिहास की सहायता से राजसंगठन के विकास पर दृष्टिपात करें तो हमें वे सामान्यतया एकतांत्रिक शासन के

आधीन दिखलाई देंगे। मैं यह भी मानने को तैयार हूँ कि जहाँ परिवार के सदस्यों की संख्या इतनी होती थीं कि वे आत्मनिर्भर हो सकें और दूसरों के साथ सम्मिलित हुए बिना बने रह सकें, जैसा बहुधा भूमि की प्रचुरता और जनसंख्या की कमी के कारण सम्भव था; वहाँ शासन का आरम्भ साधारणतया पिता से ही होता था। चूँकि पिता को प्रकृति के विधान से वही सत्ता प्राप्त होती है जो अन्य सब व्यक्तियों को भी प्राप्त होती है---यानी उस विधान के विरुद्ध किसी भी अपराध का, स्वेच्छानुसार समुचित दण्ड देना इस सत्ता के आधार पर वह, विधान का उल्लंघन करने पर, अपनी सन्तान को, वयस्क हो जाने पर भी दण्ड दे सकता था। इसकी अधिक सम्भावना है कि संतान भी उसका दण्ड स्वीकार करे और अपराधी के विरुद्ध उसकी सहायता करे और विधान का उल्लंघन करनेवाले को दण्ड देने की सत्ता उसे प्रदान करे, तथा इस रीति से उसे अपने परिवार का तथा अन्य जो कोई भी उस परिवार से संयुक्त हो, उसका भी राजा और विधि-निर्माता बना दें। पिता ही इस भार के लिए सर्वोपयुक्त था। पितृत्व के प्रेम के कारण, पिता की संरक्षकता में उनकी सम्पत्ति और हित सुरक्षित थे। बचपन में उसकी आज्ञा का पालन करने के आदी होने के कारण, दूसरों की अपेक्षा, उसकी आधीनता स्वीकार करना उनके लिए अधिक सरल था। यदि यह आवश्यक था कि कोई उन पर शासन करे---जो व्यक्ति इकट्ठे रहते हैं उनके लिए शासन अवश्यम्भावी है---तो पिता से अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था। यदि पिता में उपेक्षा, अत्याचार, या शरीर, या मस्तिष्क के, या किसी अन्य प्रकार के दोष हों, जिनके कारण वह शासन करने के अयोग्य हो, तो बात दूसरी है। परन्तु यदि पिता की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी अल्पायु हो, या विवेक, या साहस या अन्य गुणों से हीन होने के कारण शासन करने के लिए योग्य न हो, या जहाँ बहुत-से परिवार मिलकर इकट्ठे रहने के लिए सहमत हुए हों, वहाँ निःसन्देह वे अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का उपयोग करके ऐसे व्यक्ति को पदासीन करेंगे, जो उनके विचार से सबसे अधिक सुयोग्य हो और शासक बनने की सबसे अच्छी योग्यता रखता हो। इसकी पुष्टि अमेरिका के उन निवासियों के दृष्टान्त से होती है जो, पीरू (Peru) और मेक्सिको (Mexico) के बड़े-बड़े साम्राज्यों की विजेत्री सेनाओं के बढ़ते हुए आधिपत्य के क्षेत्र के बाहर होने के कारण, प्राकृतिक स्वतन्त्रता की अवस्था में है। यद्यपि सामान्यतया, वे औरों की अपेक्षा मृत राजा के उत्तराधिकारी को ही अपना शासक बनाना पसन्द करते हैं, तथापि यदि वह उत्तराधिकारी उन्हें किसी दृष्टि से शक्तिहीन या अयोग्य प्रतीत होता है तो वे उसको त्याग कर सबसे साहसी और बलि व्यक्ति को अपना शासक बनाते हैं।

१०६. संसार के निवासियों के वृत्तान्त से और जहाँ तक ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं देशों के इतिहास से हमें यह विदित होता है कि सामान्यतया शासन एक-तान्त्रिक होता था। परन्तु फिर भी, इससे मेरे इस सिद्धान्त का खण्डन नहीं होता कि राजनीतिक समाज का आरम्भ व्यक्तियों के स्वेच्छा से संगठित होने और सहमति द्वारा समाज स्थापित करने से ही होता है, इस प्रकार वे एकीभूत हो, शासन का जो रूप उचित समझते हैं, स्थापित करते हैं। परन्तु व्यवहार के आधार पर लोगों में एक मिथ्या धारणा घर कर गयी है और वे समझते हैं कि राजतन्त्रिक शासन ही प्रकृति अनुकूल है और वह पितृत्व की सत्ता पर आधारित है। अतः यहाँ विंचार करना अनुचित न होगा कि आरम्भ में मनुष्यों ने साधारणतया राजतन्त्रिक रूप को ही क्यों अपनाया। शायद कुछ राजनीतिक समाजों की प्रथम स्थापना के समय पिता का पद श्रेष्ठ होने के कारण सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में सौंपी गयी हो, परन्तु, यह स्पष्ट है कि शासन का यह रूप, जिसमें शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में हो, पितृत्व की सत्ता के प्रति आदर के कारण स्थायी नहीं बना रहा; क्योंकि अपने आरम्भिक काल में सब छोटे-मोटे राजतन्त्र, अर्थात् प्रायः सभी राजतन्त्र, कम से कम कुछ समय के लिए सामान्यतया, अथवा विशेष आवश्यकता होने पर, निर्वाचित होते थे।

१०७. समाज के आदि काल में पिता के बाल्यकालीन शासन में रहने के कारण सन्तान एक ही व्यक्ति के शासन में रहने की अभ्यस्त हो गई थी और उसे यह अनुभव हुआ कि यदि इस सत्ता का सावधानी और चतुराई से, अधीन व्यक्तियों के प्रति प्रेम और स्नेह द्वारा व्यवहार किया जाय तो वह मनुष्यों के संगठन और सुरक्षा के लिए पर्याप्त होगी। समाज में इस प्रकार के शासन की स्थापना का उनका उद्देश्य इसी राजनीतिक सुख को प्राप्त करना था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि व्यक्तियों के लिए शासन के इस रूप को अंगीकार करना स्वभाविक-सा था। इस रूप के वे बचपन से आदी थे और अनुभव द्वारा उसे सरल और आशंका रहित पाया था। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि जिन्हें अनुभव द्वारा विभिन्न शासनों का ज्ञान न हो, उन्हें राजतन्त्र ही शासन का अति सरल तथा सबसे स्पष्ट रूप प्रतीत हुआ होगा। वे साम्राज्य की महत्वाकांक्षाओं और अत्याचारों द्वारा स्वतन्त्रता के अतिक्रमण से अनभिज्ञ थे। वे निरंकुश सत्ता के उस दावे से, जिसे वंशानुगत राजतन्त्र निश्चयतः अपना बतलाता था तथा जिसे वह अपना आधार मानता था तथा उससे उत्पन्न असुविधाओं से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने सावधान रहना न सीखा था। अतः आश्चर्य नहीं कि जिन व्यक्तियों की सत्ता उन्होंने अपने ऊपर स्वीकार की, उनके अत्याचार को रोकने का

कोई साधन उन्होंने नहीं ढूँढ़ा और शासकीय सत्ता को खण्डित कर, अलग-अलग व्यक्तियों को सौंपकर सत्ताओं में संतुलन स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। उन्हें न तो निर्दयी तथा स्वेच्छाचारी आधिपत्य के अत्याचार का अनुभव था और न उन्होंने समय की गति से अपनी सम्पत्ति या रहने के तरीकों की, जिसमें लोभ या महत्वा-कांक्षा की गुजाइश न थी और न ऐसी आशंका ही थी, सुरक्षा के साधन अपनाने की आवश्यकता ही समझी। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने शासन का ऐसा रूप अपनाया जो, जैसा मै कह चुका हूँ, सबसे अधिक स्पष्ट और सरल था और उनकी तात्कालिक परिस्थितियों के लिए सबसे उपयुक्त था। उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता विदेशी आक्रमणों और क्षति से बचाव की थी। उन्हें बहुसंख्यक विधानों की आवश्यकता न थी, क्योंकि, उनके पास बहुत कम सम्पत्ति थी और वे नहीं चाहते थे कि बहुत-से शासक और अनेकों प्रशासक हों जो उन विधानों का संचालन और प्रशासन करें। न्याय का उल्लंघन बहुत कम होता था और अपराधी भी थोड़े ही होते थे। लोगों में आपस में ऐसा सद्भाव था कि वे आपस में मिलकर समाज की स्थापना कर सके, उनमें यह धारणा होना अनिवार्य था कि वे एक दूसरे से कुछ न कुछ परिचित हैं और उनमें मित्रता भी थी; उनका एक दूसरे पर विश्वास होना भी आवश्यक था। उन्हें अपने समाज के बाहर के अन्य मनुष्यों पर अधिक सन्देह था, लेकिन आपस में, एक दूसरे से कम भय लगता था। अतः उनकी प्रथम चिन्ता और विचार का विषय अवश्य ही विदेशी आक्रमण से अपनी सुरक्षा करने का रहा होगा। उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने को ऐसे शासन के आधीन रखें जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सबसे अधिक सहायक हो। युद्ध के संचालन तथा शत्रुओं के विरुद्ध अभियान के लिए सबसे बुद्धिमान् और साहसी पुरुषों को चुनना जो इस प्रकार का शासन चला सकें; भी उनकी चिन्ता का विषय रहा होगा।

१०८. अतः हम देखते हैं कि अमेरिका में आदिवासियों के राजा अपनी सेनाओं के सेनापति होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे आज भी एशिया और योरूप के ऐसे आदि कालीन शासक के प्रतिरूप हैं। तब इन देशों की आबादी बहुत कम थी और इनके निवासियों में भू-सम्पत्ति के विस्तार करने का लालच न था और न वे अपने क्षेत्र का विस्तार करने के लिए संघर्ष करते थे। यद्यपि ये राजा लोग युद्ध काल में पूर्ण सत्ता का प्रयोग करते है, परन्तु शान्तिकाल में अपनी जाति पर उनकी सत्ता और अधिकार बहुत कम होते हैं और उन्हें बहुत ही परिमित सत्ता प्राप्त होती है। युद्ध और शान्ति के निश्चय या तो जनता स्वयं करती है या कोई सभा। चूंकि, युद्ध में अनेक नायक

असम्भव हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि युद्ध संचालन का अधिकार केवल राजा का ही हो।

१०९. यहूदी जाति में भी ऐसा ही था। उनके न्यायकर्त्ताओं तथा प्रथम राजाओं का मुख्य कार्य युद्ध में सेनापतित्व तथा अपनी सेनाओं का नायकत्व प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख ज़ेफथा (Jephtha) की कथा से स्पष्ट है। (यह न्यायकर्ता और राजा, "जाति के अग्रणी बनकर उनके आगे चलते थे और आगे वापिस आते थे", इसका अर्थ यही है कि युद्ध में सेना का नायकत्व करते थे और युद्धोपरान्त सेना को अपने नायकत्व में वापस लाते थे।)

जब आमोनवासियों ने यहूदियों पर आक्रमण किया, तब उन्होंने भयाक्रान्त होकर ज़ेफथा (Jephtha) को बुलाया। ज़ेफथा उनके परिवार का जारज पुत्र था जिसे उन्होंने त्याग दिया था। ज़ेफथा से उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि यदि वह आमोन-वासियों के विरुद्ध युद्ध में सहायता दे, तो वे उसे अपना शासक बना देंगे। उनके शब्द यह हैं: "और जनता ने उसे अपना शासक और सेनापति बनाया।" (जजेज़ ११.२) (Judges xi.ii) ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायकर्त्ता का यही पद होता था। और उसने छः वर्ष तक "यहूदियों पर न्याय किया" (जजेज़ १२.७), अर्थात्, "छः वर्ष तक" वह उनका सेनापित रहा। शेखेमवासियों को गिडियन के प्रति उनकी कृतज्ञता के लिए फटकारते हुए जोथम (Jotham) कहता है, "उसने तुम्हें युद्ध में सहायता दी और अपना जीवन जोखम में डाला और तुम्हें मीडियावासियों से मुक्त किया" (जजेज़ ९.१७)। केवल उन्हीं कार्यों का उल्लेख है जो उसने सेनापति के रूप में किये थे, और वास्तव में, उसके इतिहास में, या अन्य सभी न्यायकर्ताओं के इतिहास में, केवल इसी प्रकार के कार्यों का वृत्तान्त मिलता है। एबीमलीख को विशेषतया राजा के नाम से सम्बोधित किया गया है, यद्यपि वह उनका सेनापति मात्र था। और जब यहूदी, सेमुएल के पुत्रों के दुष्कर्मो से थक गये तब उन्होंने एक राजा की इच्छा की; "अन्य जातियों की तरह वह उनका न्यायकर्त्ता हो और उनका उन्नयन करे और उनके युद्ध लड़े।" (१. सेमुएल ८.२०) परमेश्वर ने उनकी अभिलाषा पूरी की और सेमुएल से कहा, "मै तेरे पास एक व्यक्ति भेजूंगा, तू उसका अभिषेक कर, जिससे वह मेरी यहूदी जाति का नेता बने और फिलिस्तीनों से मेरी जाति की रक्षा करे" (अध्याय ९.१६)। इस वृत्त से ऐसा आभास होता है मानो राजा का एकमात्र कर्त्तव्य सेना संचालन तथा जाति की सुरक्षा के लिए युद्ध करना मात्र था। अतः उसके अभिषेक के अवसर पर, उसके ऊपर एक शीशी तैल डालते हुए वह साउल से

कहता है, "परमेश्वर ने अपनी प्रिय जाति के उन्नयन के लिए इसको अभिषिक्त किया है" (अध्याय १०.१)। मिसपा (Mispah) में जातियों द्वारा साउल के यथा-रीति राजा चुने जाने तथा उसका अभिवादन करने के बाद भी, जो व्यक्ति उसे राजा मानने को तैयार नहीं हुए, उन्होंने केवल उसके लिए यही आपत्ति उठाई कि यह व्यक्ति हमारी रक्षा कैसे करेगा ?" (अध्याय १०.२७)। उनकी आपत्ति का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि "यह व्यक्ति हमारा राजा बनने के योग्य नहीं है, क्योंकि वह युद्ध में ऐसा दक्ष नहीं है कि वह हमारी रक्षा कर सके।" जब परमेश्वर ने डेविड को शासन हस्तान्तरित करने का निश्चय किया तो ये शब्द कहे, "परन्तु अब तेरा राज्य समाप्त हो जायगा। परमेश्वर ने अपनी पसन्द के अनुसार उसको ढूँढ़ा, और परमेश्वर ने उसे अपनी जाति का उन्नायक बनने का आदेश दिया" (अध्याय १३, १४); मानो, सारी राजकीय सत्ता केवल सेनापतित्व मात्र ही की थी। अतःउन जातियों ने, जो साउल के परिवार के प्रति वफादार रही थीं और जिन्होंने डेविड के शासन के प्रति विद्रोह किया था, जब उसकी अधीनता स्वीकार करने उसके पास हेब्रों (Hebron) गयीं तो उन्होंने उसे राजा स्वीकार करने के कई कारण बतलाये। उनमें से एक कारण यह था कि चूंकि वह साउल के समय में भी उनका वास्तविक राजा था, अतः उसे अब भी राजा स्वीकार न करने का कोई कारण उनके पास नहीं रहा था। वे कहती हैं, "बीते दिनों में, जब साउल हमारा राजा था, उस समय भी तू ही था जो युद्ध में यहूदियों का संचालन करता था और परमेश्वर ने तुझसे कहा था—तू मेरी यहूदी जाति को भोजन देगा और तू यहूदियों का नेता बनेगा।"

११०. सम्भव है कि कालान्तर में, विस्तार के कारण, परिवार राजनीतिक समाज बना जिसमें पितृत्व की सत्ता ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होती रही। प्रत्येक व्यक्ति जो विस्तृत परिवार में बड़ा हुआ, मौन सहमति से उसकी आधीनता स्वीकार करता रहा और शासन की सरलता तथा समानता के कारण किसी को आपत्ति न हुई और सबने उसे मौन सहमति से स्वीकार किया। अन्त में समय ने इस व्यवस्था को दृढ़ कर दिया और उत्तराधिकार के अधिकार, की नियमसूचक परम्परा द्वारा व्यवस्था हो गयी। यह भी सम्भव है कि अनेकों परिवार या अनेकों परिवारों के वंशज दैवयोगात्, या पड़ोसी होने के कारण, या किसी कार्यवश, इकट्ठे हुए और उन्होंने संगठित होकर समाज बनाया। उनको अपने शत्रुओं से रक्षा के लिए एक सेनापति की आवश्यकता हुई। उस अविकसित, परन्तु सद्गुण-सम्पन्न काल में, जैसा संसार में स्थायी शासनों को जन्म देनेवाले युग में प्रायः सदैव होता है, निष्कपटता और सचाई के कारण मनुष्यों

को एक दूसरे पर असीम विश्वास था। इसके कारण, राजनीतिक समाज के आदि संस्थापकों ने, सामान्यतया शासन सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में सौंपी जिस पर केवल शासन के रूप और उद्देश्य के लिए आवश्यक सीमा के अतिरिक्त और कोई सीमा या रोक नहीं लगायी। यह सत्ता एक व्यक्ति को व्यापक कल्याण और सबकी सुरक्षा के लिए दी गयी थी और राजनीतिक समाज के आरम्भिक काल में इन्हीं उद्देश्यों के लिए उसका प्रयोग किया जाता था। यदि ऐसा न होता तो ये अपरिपक्व समाज स्थायी न हो पाते। ऐसे पोषक संरक्षकों के बिना, शासकों की चिन्ता के बिना, अपने प्रारम्भिक काल की दुर्बलताओं और असमर्थताओं के कारण, सब शासन समाप्त हो जाते और राजा तथा प्रजा—दोनों ही नष्ट हो जाते।

१११. वह स्वर्णयुग (यद्यपि उसके पूर्व अभिमानपूर्ण महत्वाकांक्षा, अहंकार तथा अनिष्टकारी काम ने मनुष्यों के मस्तिष्क को सच्ची सत्ता और निष्ठा से भ्रष्ट कर दिया था) अधिक सद्गुण-सम्पन्न था, जिसके फलस्वरूप अच्छे शासक थे तथा प्रजा कम चरित्र-भ्रष्ट थी। अतः उस समय न तो एक ओर जनता पर अत्याचार करने के विस्तृत विशेषाधिकार थे और न इसके फलस्वरूप, दूसरी ओर, राजकीय, अधिकारी की सत्ता के प्रतिबन्धन की माँग थी और न उसके विशेषाधिकारों के प्रति कोई शंका ही। अतः उस समय राजा और प्रजा में सत्ता या शासन के लिए कोई संघर्ष न था।[१] परन्तु, कालान्तर में जब महत्वाकांक्षा तथा विलास के कारण शासकों ने सत्ता को हथियाना और उसका विस्तार करना शुरू किया, और जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह सत्ता उन्हें प्रदान की गयी थी उसे पूरा नहीं किया, चाटुकारिता से प्रभावित राजाओं ने अपने स्वार्थों को अपनी प्रजा के हितों से विशिष्ट तथा पृथक् देखना आरम्भ किया; तब मनुष्यों को शासन के मूल आधार और अधिकारों की अधिक ध्यानपूर्वक जाँच करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्हें सत्ता के दुरुपयोग तथा

१. "पहले पहल, जब किसी प्रकार के शासन की नियुक्ति की गयी सम्भव है कि उस समय शासन के ढंग पर और अधिक विचार नहीं किया गया और शासक के भद्रभाव, ज्ञान और विवेक पर इसे छोड़ दिया गया, लेकिन इसके कारण समाज के सब अंगों को इस गम्भीर अनुभव से असुविधा का ज्ञान हुआ कि जिसे उन्होंने व्याधि के निदान के लिए स्वीकार किया था, वह व्याधि से भी अधिक कष्टदायी है। उन्होंने देखा कि उनकी समस्त व्याधि का कारण एक व्यक्ति की इच्छा की उनकी अधीनता ही है। उपचार स्वरूप उन्होंने ऐसे विधान स्वीकार किये जिनसे सब अपने कर्तव्यों से परिचित हो सकें और कर्तव्य विमुख होने के परिणाम स्वरूप प्राप्त होनेवाले दण्ड को जान सकें।"—हुकर, लॉज़ ऑफ इक्लिज़ियेस्टिकल पॉलिटी (१, १०)

अत्याचार को रोकने के साधन ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। उन्होंने अनुभव किया कि जिस सत्ता को उन्होंने अपने हित की रक्षा के लिए दूसरों के हाथ सौंपा था, उसका प्रयोग उन्हें ही पीड़ित करने के लिए किया जा रहा है।

११२. इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में व्यक्तियों के लिए यह कितना स्वाभाविक था कि वे अपनी सहमति से अपने पिता के शासन की अधीनता स्वीकार करें या विभिन्न परिवार आपस में सम्मिलित होकर एक शासन स्थापित करें और सामान्यतया, शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में सौंपे और एक ही व्यक्ति के अधीन रहना पसन्द करें तथा निश्चित शर्तों द्वारा उसकी सत्ता सीमित या नियमित करने का प्रयास तक न करें, और अपने को उसकी ईमानदारी और विवेक के अधीन सुरक्षित समझें। उन्होंने कभी राजतन्त्र के उस दैवी अधिकार की जिसका उल्लेख हमें मानव जाति के इतिहास में कहीं नहीं मिलता कल्पना भी न की थी। केवल हाल में ही, इस दिव्य ज्ञान सम्पन्न काल में हमें यह बात मालूम हुई है। उन्होंने कभी पितृत्व की सत्ता को आधिपत्य का अधिकार या समस्त शासन का मूल आधार नहीं माना था। अतः यह कहने के पर्याप्त कारण हैं कि इतिहास से जहाँ तक ज्ञान होता है, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शासन का शान्तिमय प्रारम्भ व्यक्तियों की सहमति से हुआ। मैंने 'शान्तिमय' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि, मैं अन्य स्थान पर विजय द्वारा राज्यों की उस स्थापना का उल्लेख करूँगा, जिसे कुछ व्यक्ति शासनों के प्रारम्भ का कारण मानते हैं।

मेरे मतानुसार राजनीतिक समाज के आरम्भ होने के इस सिद्धान्त के विरुद्ध, दूसरी आपत्ति यह प्रस्तुत की जाती है :—

११३. "चूंकि सब व्यक्ति किसी न किसी शासन के अधीन जन्म लेते हैं, अतः, यह असम्भव है कि वे किसी भाँति स्वतन्त्र हों और आपस में मिलकर नया शासन बनाने के लिए स्वाधीन हों, या कभी वैधानिक शासन स्थापित करने के योग्य हों।" यदि इस तर्क में कुछ सार है तो मैं पूछता हूँ कि संसार में इतने बहुसंख्यक न्याय सम्मत राजतन्त्रों की स्थापना कैसे हुई? क्योंकि इसी तर्क के आधार पर, यदि कोई मुझे संसार के किसी भी काल में एक भी व्यक्ति ऐसा दिखा सके जो वैधानिक राजतन्त्र स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र हो, तो मैं उसे, उसी काल में, दस अन्य व्यक्ति दिखाने का दावा करता हूँ, जो आपस में सम्मिलित होकर नया शासन स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र हों, चाहे उस शासन का रूप राजतन्त्रिक हो या कोई अन्य। यह इसी से प्रमाणित होता है कि यदि दूसरे के आधिपत्य में जन्म लेनेवाला कोई व्यक्ति इतना

स्वतन्त्र होता है कि उसके हाथों में एक नया और विशिष्ट साम्राज्य स्थापित कर, शासन करने का अधिकार हो, तो इसी आधार पर दूसरे के आधिपत्य में जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भी इतना स्वतन्त्र हो सकता है कि वह एक विशिष्ट पृथक शासन का राजा या उसकी प्रजा बन सके। अतः स्वयं उन्हीं के सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि या तो सब व्यक्ति, चाहे वे जिस स्थिति में जन्म लें, स्वतन्त्र होते हैं, अन्यथा, सारे संसार का केवल एक ही वैधानिक राजा और एक ही वैधानिक शासन हो सकता है। फिर उनका कार्य केवल हमें यह निर्देशित करना रह जायगा कि ऐसा राजा कौन है, और जब वे यह बतला देंगे तो मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं रहेगा कि समस्त मानव जाति सरलता सें उसका आज्ञापालन करना स्वीकार कर लेगी।

११४. यद्यपि उनकी इस आपत्ति के उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि उनके सिद्धान्त से उनके लिए भी वही कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका प्रयोग वे दूसरों के लिए करते हैं। फिर भी, मैं इस तर्क के खोखलेपन को तनिक और स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने का प्रयास करूँगा।

उनका कहना है, "सब मनुष्य किसी न किसी शासन के अधीन जन्म लेते हैं, अतः वे नवीन शासन की स्थापना करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हो सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता या राजा की प्रजा के रूप में जन्म लेता है, अतः वह पराधीनता और राजभक्ति के चिरस्थायी बन्धनों से बँधा रहता है।" यह स्पष्ट है कि मानव जाति ने कभी एक दूसरे के प्रति ऐसी प्राकृतिक पराधीनता, जिसमें वे जन्म लेते हों स्वीकार नहीं की और न उन्होंने कभी ऐसी सत्ता के बारे में विचार ही किया, जो उनकी सहमति के बिना उनको तथा उनके उत्तराधिकारियों को पराधीन बना दे।

११५. धार्मिक और लौकिक, दोनों ही प्रकार के इतिहास में, ऐसे बहुसंख्यक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ व्यक्तियों ने उस जन्मजात अथवा पारिवारिक या जातीय आधिपत्य से अपने को मुक्त किया जिसके वे जन्म से या व्यवहार से अभ्यस्त थे तथा जिन्होंने अन्यत्र नये शासन स्थापित किये। इससे आदि काल में अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई। जब तक पर्याप्त भूमि उपलब्ध रही, इन राज्यों की संख्या बढ़ती रही। कालान्तर में, अपेक्षाकृत शक्तिशाली और अधिक समृद्धिशाली राज्यों ने दुर्बल राज्यों को हड़प लिया। कहीं-कहीं इन बड़े राज्यों के विघटन से फिर छोटे-छोटे राज्य बने। पितृत्व की संप्रभुता के विरुद्ध ये सब अनेकों प्रमाण हैं और वे स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि शासनों का आधार पिता का वह प्राकृतिक अधिकार नहीं है जो पिता के उत्तराधकारियों को वंशानुगत रूप से प्राप्त था। यदि शासन का आधार पितृत्व

की सत्ता होती तो संसार में अनेकों छोटे-छोटे राज्यों का स्थापित होना असम्भव होता और केवल एक सर्वव्यापी राजतन्त्र ही होता। यदि व्यक्ति अपने परिवारों और अपने शासनों से पृथक् होने के लिए स्वतन्त्र न होते, तो उन शासनों का, चाहे जो भी रूप रहा हो, अपनी इच्छा के अनुकूल राजसंगठन स्थापित करना सम्भव न होता।

११६. आदिकाल से वर्त्तमान समय तक संसार की यही प्रथा चली आ रही है। आज मनुष्य ऐसे दृढ़ और दीर्घकाल से स्थापित राजनीतिक समाजों में जन्म लेता है, जिनके निश्चित विधान हैं और शासन के निश्चित रूप हैं, फिर भी, मनुष्य की स्वतन्त्रता में कोई कमी नहीं हुई है। आज भी मनुष्य उतना ही स्वतन्त्र है जितना उस समय था, जब वह जंगलों में जन्म लेता था और स्वच्छन्दता से विचरता था। जो हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि किसी शासन के अधीन जन्म लेने से, हम निसर्गतः उसके अधीन हो जाते हैं और फिर नैसर्गिक अवस्था का हमारा कोई अधिकार शेष नहीं रह जाता; वे इसके लिए (पितृत्व की सत्ता के अतिरिक्त जिसका हम पहले ही उत्तर दे चुके हैं) कोई कारण प्रस्तुत नहीं कर सकते। उनका कहना है कि चूँकि हमारे पिताओं या आदि पूर्वजों ने अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता त्याग दी थी, इसलिए उन्होंने अपने को तथा अपनी भावी सन्तान को चिरकाल के लिए उस शासन का वशंवद बना दिया जिसकी अधीनता उन्होंने स्वयं स्वीकार की थी। यह सच है कि अपने आप ही जो कोई वचनबद्ध होता है वह उसे पूरा करने के लिए बाध्य भी होता है, परन्तु, अपने किसी भी अनुबन्ध द्वारा वह अपनी सन्तान या भावी पीढ़ियों को बाँध नहीं सकता। पुत्र वयस्क होने पर पिता की तरह पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है; अतः पिता का कोई भी कार्य पुत्र को उसी प्रकार स्वतन्त्रता से वर्जित नहीं कर सकता जिस प्रकार वह किसी अन्य को नहीं कर सकता। पिता इतना जरूर कर सकता है कि किसी राज्य की प्रजा होने के नाते अपनी उपार्जित भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार के साथ ऐसी शर्त लगा दे कि उसे प्राप्त करने के लिए पुत्र को भी उसी राज्य में रहना अनिवार्य हो। परन्तु भू-सम्पत्ति पिता की ऐसी सम्पत्ति होती है जिसे वह अपनी इच्छानुसार बेच सकता है या उसकी व्यवस्था कर सकता है।

११७. इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण इस सम्बन्ध में बहुधा भ्रम हो जाता है। चूँकि राज्य अपने क्षेत्र के किसी भी भाग को पृथक् होने की अनुमति नहीं देते और न उसका उपभोग किसी ऐसे व्यक्ति को करने देते हैं जो उनकी सत्ता को स्वीकार न करता हो, अतः पुत्र सामान्यतया अपने पिता की सम्पत्ति का उपभोग तभी कर सकता है जब वह उन्हीं शर्तों पर उस राज्य का सदस्य हो जिन पर उसका पिता

था। इस कारण, राज्य के प्रति उसकी वशंवदता उसी प्रकार की होती है जैसी उस राज्य की प्रजा के किसी अन्य व्यक्ति की। चूँकि, स्वतन्त्र मनुष्य, जो शासन के अधीन जन्म लेते हैं, वयस्क होने पर अपनी सहमति अलग-अलग देते हैं, तथा उस सहमति द्वारा ही वे उस समाज के सदस्य बनते हैं और यह सहमति सब एकत्रित हो कर एक साथ नहीं देते, अतः इस पर किसी का ध्यान नही जाता और सब ऐसा सोचते हैं कि ऐसी सहमति नहीं दी जाती या आवश्यक नहीं होती, और उनका निष्कर्ष यह होता है कि जैसे वे प्रकृतिवश मनुष्य है, वैसे ही वे प्रकृतिवश पराधीन हैं।

११८. परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं शासन की धारणा इसके विपरीत है। वह पुत्र पर किसी सत्ता का इस आधार पर दावा नहीं करता कि चूंकि उसे ऐसी सत्ता पिता पर प्राप्त थी इसलिए पुत्र पर भी वही सत्ता उसे प्राप्त है। पिता के प्रजा होने के कारण उसकी सन्तान को भी अपनी प्रजा वह नहीं मानते। यदि इंग्लैण्ड की प्रजा के एक पुरुष के, फ्रांस में, एक अंग्रेज स्त्री द्वारा पुत्र उत्पन्न हो तो यह पुत्र किसकी प्रजा माना जायगा? इंग्लैण्ड के राजा की नहीं, क्योंकि, इसे वह अनुमति के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। और वह फ्रांस के राजा की प्रजा भी नहीं हो सकता, अन्यथा, उसके पिता को उसे फ्रांस से स्वदेश लाने तथा अपने इच्छानुसार पालने की स्वतन्त्रता कैसे हो सकती है? यदि किसी ने ऐसे देश में जन्म लिया हो, जहाँ उसके माता-पिता विदेशियों के रूप में रहते हों, तो क्या उस देश को छोड़ने या उसके विरुद्ध युद्ध करने से वह देशद्रोही या अभित्यागी माना जायगा? अतः स्वयं शासनों के व्यवहार से और उचित विवेक के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चा किसी भी देश या शासन के अधीन जन्म नहीं लेता। विवेक की आयु प्राप्त करने तक वह अपने पिता के संरक्षण और अधीनता में रहता है। वयस्क होने पर वह स्वतन्त्र व्यक्ति हो जाता है और स्वेच्छापूर्वक जिस शासन की अधीनता में वह अपने को रखना चाहे, रख सकता है; जिस राजनीतिक समाज में सम्मिलित होना चाहे, हो सकता है। यदि किसी अंग्रेज का पुत्र, जिसका जन्म फ्रांस में हुआ हो, स्वेच्छानुसार किसी भी राज्य का सदस्य बनने के लिए स्वतन्त्र होता है और उस स्वतन्त्रता का वास्तव में उपयोग करता है, तो यह स्पष्ट है कि उस पर अपने पिता का एक राज्य की प्रजा होने के कारण कोई बन्धन नहीं होता और न वह अपने पूर्वजों के किसी भी अनुबन्ध से बाध्य होता है। इसी तर्क के आधार पर उसके पुत्र को ऐसी ही स्वतन्त्रता क्यों नहीं प्राप्त हो सकती यद्यपि उसका जन्म कहीं और हुआ हो। चूँकि, पुत्र का जन्म चाहे जहाँ हुआ हो, अपने पुत्र पर पिता की प्राकृतिक सत्ता सदैव वही रहेगी। प्राकृतिक कर्त्तव्यों के

बन्धन साम्राज्यों तथा राजनीतिक समाजों की स्थापित विधियों द्वारा सीमित नहीं होते।

११९. जैसा मैंने प्रमाणित किया है, व्यक्ति प्रकृतिवश स्वतन्त्र होते है और केवल अपनी सहमति द्वारा ही वे इस संसार की किसी भी सत्ता के अधीन हो सकते हैं, अतः, इस पर विचार करना होगा कि व्यक्ति को किसी भी शासन के विधानों के अधीन करने के लिये व्यक्ति की सहमति का क्या रूप पर्याप्त माना जाय। अभिव्यक्त सहमति और मौन सहमति के मध्य सामान्य भेद का हमारी समस्या से सम्बन्ध है। इसमें किसी को संशय नहीं हो सकता कि किसी समाज में प्रवेश करते समय, व्यक्ति की अभिव्यक्त सहमति उसे उस समाज का सर्वमान्य सदस्य और उसके शासन की प्रजा बनाती है। मौन सहमति किसे समझना चाहिये और वह किस मात्रा में वाधित करती है, इसीका निर्णय करने में कठिनाई उत्पन्न होती है। जहाँ व्यक्ति ने कोई स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदर्शित नहीं की है, वहाँ किस मात्रा में यह माना जाय कि वह किसी शासन के आधीन रहने के लिये सहमत है ? इस विषय में मेरा मत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसे किसी भी राज्य के क्षेत्र का कोई अंश सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है या वह उसका उपभोग करता है, तो उस शासन के अधीन रहने के लिये यह उसकी मौन सहमति मानी जायगी। ऐसा व्यक्ति उपभोग की अवधि तक उस शासन के विधानों के आदेशों का पालन करने के लिये उसी प्रकार बाध्य है जिस प्रकार उस शासन के अधीन अन्य व्यक्ति चाहे वहाँ उसके तथा उसके वंशजों के पास स्थायी भू-सम्पत्ति हो, या वह केवल एक हफ्ते के लिये वहाँ निवास कर रहा हो, या केवल आम रास्ते पर स्वतन्त्रतापूर्वक यात्रा कर रहा हो, उसकी मौन सहमति मानी जायगी। व्यवहार में, उस राज्य की सीमाओं के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी सहमति मानी जायगी।

१२०. इसे और अच्छी तरह समझने के लिये यह विचार करना उचित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति ने जब सर्वप्रथम अपने आप को किसी राजनीतिक समाज के साथ एकीभूत किया, तो उसने इस प्रकार संगठित होकर, अपनी वह समस्त सम्पत्ति अनुबद्ध करके समाज के अधीन कर दी जो उसे प्राप्त थी या जिसे वह भविष्य में प्राप्त करता, और जो पहले किसी अन्य शासन के आधीन न थी। यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के हेतु समाज में प्रवेश तो करे परन्तु ऐसा विचार रखे कि उसकी सम्पत्ति पर—जिसकी व्यवस्था समाज अपने विधानों द्वारा करता है,—उस शासन का, जिसके अधीन वह स्वयं है तथा भू-सम्पत्ति भी जिसकी है, कोई अधिकार न हो, तो यह एक स्पष्ट प्रतिवाद होगा। जिस कृति द्वारा कोई व्यक्ति किसी ऐसे शासन में सम्मिलित

होता है, जिससे वह पहले स्वतन्त्र था, तो उसी कृति द्वारा वह अपनी सम्पत्ति को भी, जो पहले स्वतन्त्र थी, उसी शासन के अधीन कर देता है। इसके उपरान्त, जब तक उस राजनीतिक समाज का अस्तित्व बना रहे, व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति, दोनों उस राजनीतिक समाज के शासन और आधिपत्य के अधीन बने रहते हैं। अतः जो भी कोई व्यक्ति राजनीतिक समाज के शासन के अधीन तथा उससे अनुबद्ध भूमि का उपभोग उत्तराधिकार, क्रय, अनुमति या किसी भी अन्य साधन से करता है, तो उसे उसके साथ की सब शर्तों को भी स्वीकार करना पड़ेगा; अर्थात्, उसे उस राजनीतिक समाज के शासन की जिसके अधिकारक्षेत्र में उसकी भूमि है अधीनता उसी प्रकार स्वीकार करनी पड़ेगी जिस प्रकार उसकी अन्य प्रजा को करनी पड़ती है।

१२१. चूंकि, केवल भूमि के ऊपर ही शासन को प्रत्यक्ष अधिकार प्राप्त होते हैं और उसके स्वामी के ऊपर (उसके समाज में वास्तविक रूप से एकीभूत होने के पहले) केवल इसी कारण प्राप्त होते हैं कि वह उस भूमि पर निवास करता है और उसका उपभोग करता है, अतः शासन की अधीनता का बन्धन इसी उपभोग से प्रारम्भ होता है और उपभोग के अन्त के साथ अन्त होता है। अतः ऐसा भू-स्वामी, जिसने शासन को केवल ऐसी मौन सहमति दी है, किसी भी समय, दान द्वारा या विक्रय या किसी अन्य साधन द्वारा उस सम्पत्ति को त्याग कर किसी अन्य राजनीतिक समाज में सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र होता है। वह अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर पृथ्वी के किसी जनशून्य भाग में जिस पर किसी का अधिकार न हो, नये राजनीतिक समाज की स्थापना करने के लिए भी स्वतन्त्र होता है। परन्तु जो एक बार वास्तविक अनुबन्ध द्वारा और स्पष्ट घोषणा द्वारा किसी भी राजनीतिक समाज का सदस्य होने की सहमति दे देता है, तो वह चिरकाल के लिए और अपरिहार्य रूप से उसके अधीन रहने को बाध्य हो जाता है। जबतक किसी विपत्ति के कारण वह शासन, जिसके वह अधीन हुआ है, भंग न हो जाय, इस स्थिति में परिवर्त्तन नहीं हो सकता और न वह कभी उसके बाद प्राकृत अवस्थाकालीन स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।

१२२. परन्तु किसी देश के विधानों को स्वीकार करने से, शान्तिमय जीवन व्यतीत करने से, तथा उन विधानों के संरक्षण में विशेष सुविधाओं का उपभोग करने मात्र से ही एक व्यक्ति उस समाज का सदस्य नहीं बन जाता। यह केवल स्थानीय संरक्षण है और उनके प्रति, तथा उनके द्वारा अधीनता की स्वीकृति है जो युद्ध की अवस्था में न होते हुए, किसी ऐसे शासन के राज्य क्षेत्र में रहते हैं जिसके सब भागों में उस राज्य का विधान लागू होता है। परन्तु इससे कोई व्यक्ति उस समाज का सदस्य,

उस राज्य का स्थायी नागरिक नहीं बन जाता। जैसे, कोई व्यक्ति यदि सुविधा के लिए किसी अन्य के परिवार में थोड़े समय के लिए रहने लगे तो वह उस परिवार के अधीन नहीं हो जाता, यद्यपि जब तक वह उस परिवार में रहता है, उसके विधानों का पालन करता है और उसके शासन की अधीनता स्वीकार करता है। इसीलिए, हम देखते हैं कि वे विदेशी, जो आजीवन किसी दूसरे राज्य के शासन के अधीन रहते हैं, और उसकी सुविधाओं और संरक्षण का उपभोग करते हैं, यद्यपि उसके प्रशासन का, अन्य नागरिकों की ही भाँति अनुवर्त्तन करने को बाध्य हैं, तथापि, वे केवल इसी कारण उस राजनीतिक समाज के नागरिक या सदस्य नहीं बन जाते। केवल निश्चित अनुबन्ध और अभिव्यक्त वचन और संविदा द्वारा ही कोई व्यक्ति ऐसा नागरिक बन सकता है। मेरे विचार से इसी आधार पर राजनीतिक समाजों का प्रारम्भ होता है और यही वह सहमति है जो किसी व्यक्ति को किसी राजनीतिक समाज का सदस्य बनाती है।

अध्याय ९

राजनीतिक समाज और शासन के उद्देश्य

१२३. यदि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में उतना ही स्वाधीन होता है, जैसा मैंने ऊपर लिखा है जहाँ वह अपने शरीर और सम्पत्ति का पूर्ण स्वामी है और उससे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं होता तथा वह किसी के आधीन नहीं होता, तो प्रश्न यह उठता है कि वह अपनी इस स्वतन्त्रता, इस पूर्ण स्वायत्तता का त्याग क्योंकर देता है और अपने को किसी अन्य सत्ता के नियंत्रण और आधिपत्य के अधीन कर देता है ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यही है कि यद्यपि प्राकृत अवस्था में उसे ऐसे अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु, उनका उपभोग बहुत अनिश्चित होता है और उसे सदैव दूसरों के आक्रमण का भय बना रहता है। चूंकि, उस अवस्था में सभी व्यक्ति उसी के समान अधिकार सम्पन्न थे, तथा उनका जीवन उसके सामने था। उनमें से अधिकांश लोग, औचित्य और न्याय के कड़े प्रतिपालक थे, अतः इस अवस्था में किसी व्यक्ति द्वारा सम्पत्ति का उपभोग बड़ा असुरक्षित और अनिश्चित था। ऐसी असुरक्षा और अनिश्चय के कारण वह इस अवस्था को त्यागने के लिए तैयार हो जाता है, जिसमें इष्ट स्वतन्त्रता तो थी, परन्तु वह भय और प्रतिक्षण आशंकाओं से पूर्ण थी। अतः इन पर्याप्त कारणों के वशीभूत होकर वह ऐसे व्यक्तियों को जो संगठित हों या जिनमें अपने पारस्परिक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा की—जिन्हें मैं सम्पत्ति के सामान्य नाम से पुकारता हूँ—सुरक्षा के लिए संगठित होने की इच्छा हो, ढूँढ़कर उनके समाज में सम्मिलित हो जाता है।

१२४. अतः व्यक्तियों द्वारा संगठित होकर राजनीतिक समाज का निर्माण करने का और उनका अपने आपको शासन के अधीन रखने का सबसे महत्त्वपूर्ण और मुख्य कारण उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा है, जो प्राकृत अवस्था में कई अभावों के कारण सम्भव न थी।

प्रथम तो, प्राकृत अवस्था में ऐसे व्यवस्थित निश्चित तथा सर्वज्ञात विधानों का अभाव था, जिनके पीछे व्यापक सहमति हो और जो उचित तथा अनुचित के मापदण्ड के रूप में, और व्यक्तियों के परस्पर समस्त मतभेदों का निर्णय करने के सामान्य विधान के रूप में, सबको स्वीकृत हो। यद्यपि प्रकृति का विधान सब विवेक सम्पन्न जीवों

के लिए स्पष्ट और बोध्य होता है। परन्तु मनुष्य अपने निजी स्वार्थों से प्रभावित होता है और प्रकृति के विधान पर ध्यान न देने के कारण उससे अनभिज्ञ रहता है। अतः स्वयं अपने मामलों में वह प्रकृति के विधान का निष्पादन करने की ओर विशेष इच्छुक नहीं होता।

१२५. दूसरे प्रकृति की अवस्था में ऐसे सर्वमान्य तथा पक्षपातरहित न्यायाधीश का अभाव था, जो सब मतभेदों का उस संस्थापित विधान के अनुसार निर्णय करने का अधिकारी हो। उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के विधान का निर्णायिक और उसे कार्यान्वित करनेवाला होता था। चूँकि, व्यक्ति अपने प्रति पक्षपाती होता है, अतः आवेश और प्रतिशोध की भावना से प्रभावित हो, वह अपने मामलों में आवश्यकता से अधिक उत्तेजित हो जाता है तथा दूसरों के मामलों में, दिलचस्पी न होने के कारण, उपेक्षा और शिथिलता दिखलाता है।

१२६. तीसरे, प्राकृतिक अवस्था में बहुधा उचित दण्ड के सक्रिय समर्थकों का और दण्ड को कार्यान्विल करने के लिए सत्ता का अभाव था। यदि दुष्कर्म या अनिष्ट करने वाला सबल हुआ, तो वह अपने बल के कारण, प्रायः अदंडित रह जाता था। ऐसी स्थिति में बहुधा दण्ड देनेवाले स्वयं विपत्ति में पड़ जाते थे और बहुधा उनका अनिष्ट हो जाता था।

१२७. मानवजाति को यद्यपि प्राकृत अवस्था में इतने अधिकार थे, फिर भी वह अवस्था इतनी असुविधाजनक थी कि मानव जाति उसमें रहते हुए, शीघ्र ही, समाज की ओर अग्रसर हुई। इसी कारण इस अवस्था में, सम्मिलित होकर रहते हुए व्यक्ति कदाचित् ही, नगण्य संख्या में मिलें। प्राकृत अवस्था में चूँकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के सत्तातिक्रमण का दण्ड देने के अनियमित और अनिश्चित अधिकार से संपन्न होता है और उसका अनियमित प्रयोग करता है, अतः मानवजाति के लिए अनेक असुविधाएँ उत्पन्न होती थीं। उन्हीं असुविधाओं के कारण उस जाति ने शासन के स्थापित विधानों की शरण ली और शासन द्वारा अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयास किया। इसी कारण, प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छानुसार स्वयं दण्ड देने की अपनी सत्ता को त्याग देता है और उसका प्रयोग उन्हीं को सौंपता है, जो इस कार्य के लिए ऐसे नियमों द्वारा नियुक्त किये जायँ तथा जिनसे समाज, या समाज द्वारा इस उद्देश्य के लिये अधिकृत व्यक्ति सहमत हों। यही व्यवस्थापक और कार्यकारिणी सत्ता का तथा शासनों और स्वयं समाज का मूल आधार है।

१२८. प्राकृत अवस्था में, निश्छल मनोरंजन के अतिरिक्त, व्यक्ति के दो अधि-

कार होते हैं। उनमें से प्रथम यह है कि वह अपनी और दूसरों की सुरक्षा के लिए, प्रकृति के विधान की सीमा के भीतर रहकर जो उचित समझे, करे। इस सर्वव्यापक विधान के अनुसार व्यक्ति मिलकर, अन्य व्यक्तियों से विशिष्ट, एक समाज बनाते हैं। केवल पतित मनुष्यों के भ्रष्टाचार और दोष के कारण ही बहुसंख्यक समाजों के निर्माण की आवश्यकता होती है, अन्यथा, केवल एक ही बड़े और प्राकृतिक समाज के अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे समुदायों की कोई आवश्यकता न होती। प्राकृत अवस्था में प्राप्त दूसरा वैयक्तिक अधिकार है प्रकृति के विधान के विरुद्ध अपराधी को दण्ड देने का। जब वह व्यक्ति किसी विशिष्ट राजनीतिक समाज में सम्मिलित हो जाता है और शेष मानवजाति से पृथक् किसी संगठित समाज का अंग बन जाता है, तो वह इन दोनों अधिकारों को त्याग देता है।

१२९. इनमें से प्रथम अधिकार—अर्थात् अपने को तथा शेष मानवजाति को सुरक्षित रखने के लिए जो कुछ उचित हो, उसे करने का अधिकार—उस सीमातक जहाँ तक स्वयं उसकी तथा शेष समाज की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो, वह समाज द्वारा निर्मित विधानों के नियन्त्रण तथा संचालन के लिए नियमित रूप से त्याग देता है। अतः, समाज के विधान कई क्षेत्रों में मनुष्य की उस स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं जो उसे प्रकृति की अवस्था में प्राप्त थी।

१३०. दूसरे अधिकार, यानी दण्ड देने के अधिकार को वह पूर्णतया त्याग देता है और अपने व्यक्तिगत बल का प्रयोग, जिसे वह पहले अपने व्यक्तिगत अधिकार के आधार पर, यथेच्छ तथा यथोचित रूप से प्रकृति के विधान के निष्पादन हेतु करता था तब समाज की कार्यकारिणी की सहायतार्थ उसके विधान के अनुकूल करने लगता है; क्योंकि, जब वह नये राज्य में रहता है जहाँ उसे उस समाज के अन्य व्यक्तियों के श्रम, सहायता और संगति से बहुत-सी सुविधाएं प्राप्त होती हैं और उस समाज की पूर्ण शक्ति के कारण सुरक्षा प्राप्त होती है। अतः उसे अपनी व्यवस्था हेतु, प्राकृतिक स्वतन्त्रता का उतना अंश भी त्यागना पड़ता है, जो समाज के हित, समृद्धि और सुरक्षा के लिए आवश्यक हो। ऐसा त्याग आवश्यक ही नहीं, वरन् न्यायसंगत भी है, क्योंकि, समाज के अन्य सदस्य भी ऐसा ही त्याग करते हैं।

१३१. समाज में प्रवेश करते समय प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समता, स्वतन्त्रता और निष्पादन की सत्ता, जो उसे प्राकृत अवस्था में प्राप्त थी, समाज के हाथों में सौप देनी होती है, व्यवस्थापिका सभा उस सत्ता को उतनी ही मात्रा में प्रयोग कर सकती है जितना समाज के हित के लिए आवश्यक हो। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति यह त्याग अपनी

और अपनी स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की अधिक सुरक्षा के लिए ही करता है (कोई विवेक सम्पन्न जीव वर्त्तमान स्थिति से निकृष्टतर स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करता), अतः उनके द्वारा निर्मित समाज या व्यवस्थापक सत्ता का क्षेत्र सामान्य हित से अधिक नही हो सकता और वह उन तीनों दोषों से सबकी सम्पत्ति की सुरक्षा करने को बाध्य है जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, जिनके कारण प्रकृति की अवस्था अरक्षित और असुविधाजनक थी । अतः जिस किसी को किसी भी राजनीतिक समाज में व्यवस्थापक या सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हो, तो वह आवश्यक है कि वह स्थापित स्थायी विधानों के अनुसार शासन करे जो जनता में प्रसिद्ध और ज्ञात हों, स्वेच्छाचारी तथा तात्कालिक आदेशों द्वारा नहीं; और उन विधानों द्वारा मतभेदों का निर्णय करने के लिए पक्षपातरहित और ईमानदार न्यायाधीश हों; और देश में जनता के बल का प्रयोग केवल ऐसे ही विधानों के निष्पादन के लिए, और विदेशियों द्वारा की गयी हानि की क्षतिपूर्ति के लिए तथा देश को आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए किया जाय। इन सबका एकमात्र लक्ष्य समाज में शान्ति, सुरक्षा और सार्वजनिक हित है ।

अध्याय १०

राजनीतिक समाज के रूप

१३२. जैसा मैं बतला चुका हूँ, मनुष्य द्वारा सर्वप्रथम समाज बना लेने के बाद, समाज की समस्त सत्ता स्वभावतः बहुमत के अधीन होती है। बहुमत इस सत्ता का प्रयोग समय समय पर समाज के लिए विधान बनाकर तथा उसके निष्पादन के लिये प्रशासक नियुक्त करके कर सकता है। शासन का ऐसा रूप आदर्श जनतन्त्र होता है। यह व्यवस्थापक सत्ता कुछ चुने हुए व्यक्तियों और उनके वंशजों और उत्तराधिकारियों को सौंपी जा सकती है, शासन के रूप को अल्पतन्त्र कहते हैं। यदि व्यवस्थापक सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में सौंपी जाय, तो शासन का रूप एकतन्त्र होगा। यदि यह सत्ता एक व्यक्ति और उसके वंशजों को सौंपी जाय तो शासन वंशानुगत एकतन्त्र कहा जायगा। यदि एक व्यक्ति को केवल अपने जीवन की अवधि के लिए ही यह सत्ता प्राप्त हो,और उसकी मृत्यु के बाद, उत्तराधिकारी के नामीकरण का अधिकार पुनः समाज को प्राप्त हो तो शासन का रूप निर्वाचित एकतन्त्र होगा। आवश्यकता होने पर समाज इन रूपों का मिश्रण करके या उन्हें संयुक्त करके अन्य शासन सत्ता भी स्थापित करता है। यदि, सर्वप्रथम, व्यवस्थापक सत्ता बहुमत द्वारा एक या एक से अधिक व्यक्तियों को, उनके जीवनकाल या निर्धारित सीमित अवधि के लिए सौंपी जाय और उसके उपरान्त सर्वोच्च सत्ता पुनः समाज के बहुमत को प्राप्त हो, तो ऐसी सत्ता प्राप्त करके समाज उसे अपनी इच्छानुसार जिसे चाहे सौप सकता है और इस विधि से शासन का एक नया रूप स्थापित कर सकता है। सर्वोच्च व्यवस्थापक सत्ता प्राप्त संस्था या व्यक्ति पर ही शासन का रूप निर्भर होता है। यह कल्पना कठिन है कि निम्न श्रेणी की कोई सत्ता श्रेष्ठ सत्ता के ऊपर विधान बनाये या केवल सर्वोच्च सत्ता के अतिरिक्त कोई और विधि निर्माण करे। अतः व्यवस्थापक सत्ता के रूप के अनुसार राजनीतिक समाज का रूप निश्चित होता है।

१३३. इस संपूर्ण निबन्ध में राजनीतिक समाज से मेरा तात्पर्य जनतंत्र या शासन के किसी विशेष रूप से नहीं है, वरन्, एक स्वतन्त्र समाज से है, जिसके लिए प्राचीन रोमन लोग सिविटास (Civitas) शब्द का प्रयोग करते थे और हमारी भाषा

में उसका सबसे उपयुक्त पर्यायवाची शब्द 'राजनीतिक समाज' ही है।[१] ऐसे समाज का जितना अधिकाधिक उचित वर्णन इस शब्द से होता है, उतना 'जाति' अथवा (Community) 'समुदाय' शब्द से नहीं, (क्योंकि, एक शासन में कई अवर जातियाँ हो सकती है) और न "नगर" (City) शब्द से ही। अतः अस्पष्टता से बचने के लिए मैंने "राजनीतिक समाज" शब्द का प्रयोग, उसी अर्थ में किया है, जिसमें सम्राट् जेम्स ने स्वयं इसका प्रयोग किया था। मेरे विचार से उसका सच्चा अभिप्राय भी यही शब्द व्यक्त करता है। यदि किसी को यह शब्द उचित प्रतीत न हो, तो उसके स्थान पर वह किसी अन्य अधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग कर सकता है, मुझे इसमें कोई आपत्ति न होगी।

१. अर्थात्, अंग्रेजी भाषा में कॉमनवेल्थ (राजनीतिक समाज)।—अनु०

अध्याय ११

व्यवस्थापक सत्ता का क्षेत्र

१३४. समाज की स्थापना का महान् लक्ष्य सम्पत्ति का शान्ति और सुरक्षा से उपभोग है, और इस उद्देश्य की प्राप्ति का मुख्य साधन समाज का स्थापित विधान है, अतः सब राजनीतिक समाजों का सर्वप्रथम और मूलभूत निश्चित विधान व्यवस्थापिका सत्ता (The legislative power) की स्थापना उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ मूलभूत प्राकृतिक विधान, जो व्यवस्थापिका सत्ता से भी श्रेष्ठ होता है, समाज की सुरक्षा, और समाज की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए यथासम्भव प्रत्येक व्यक्ति की सुरक्षा, की व्यवस्था करता है। यह व्यवस्थापक सत्ता राजनीतिक समाज की सर्वोच्च सत्ता होती है और समाज इसे एक बार जिसे सौप देता है, उसके पास यह पवित्र और स्थिर रहती है। जनता द्वारा चुनी और नियुक्त व्यवस्थापक सत्ता की स्वीकृति के बिना किसी का आदेश, चाहे वह किसी भी रूप में हो, चाहे उस आदेश के पीछे कितनी ही बड़ी सत्ता क्यों न हो, विधान का बल और प्रभाव प्राप्त नहीं कर सकता। जनता द्वारा स्वीकृत और नियुक्त व्यवस्थापक सत्ता द्वारा अनुमोदित आदेश को ही विधि का बल और प्रभाव प्राप्त होता है। ऐसे अनिवार्यतः आवश्यक अनुमोदन के बिना आदेश को विधि का रूप प्राप्त नहीं होता। इसी अनुमोदनसे समाज की वह स्वीकृति अभिव्यक्त होती है,जिसके बिना किसी को समाज पर विधि लागू करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता। इसी स्वीकृति के बल पर विधि बन सकती है।[1] समाज में आज्ञापालन का दृढ़तम कर्त्तव्य इस सर्वोच्च सत्ता के प्रति

१. "मनुष्य के राजनीतिक समाजों के शासन के लिए विधि निर्माण की सत्ता उचित दृष्टि से उन्हीं सम्पूर्ण समाजों को प्राप्त होती है। इस पृथ्वी पर किसी प्रकार के राजा या शासक को स्वतः इसका अधिकार तब तक नहीं होता, जब तक उसे यह अधिकार परमेश्वर के प्रत्यक्ष और स्पष्ट आदेश द्वारा न प्राप्त हुआ हो, या उसे यह अधिकार उनकी सहमति से न मिला हो जिनको विधान मर्यादित करता है; अन्यथा शासन और निरंकुश अत्याचार में कोई भिन्नता न होगी। स्पष्ट है कि वे ही विधान माने नहीं जा सकते जिन्हें सार्वजनिक सहमति ने विधान नहीं माना है।"— हुकर, लॉज ऑव इक्लिजियेस्टिकल पॉलिटी (१.१०)। "इसलिए इस विषय में हम यह ध्यान में

ही होता है, किसी अन्य सत्ता के प्रति नहीं। अपने विधानों द्वारा समाज की यह सर्वोच्च सत्ता आज्ञापालन कराती है। किसी विदेशी सत्ता को या देश की किसी अवर सत्ता को दिये गये किसी भी वचन के कारण, समाज का कोई भी सदस्य, समाज के विश्वास को कार्यान्वित करती हुई व्यवस्थापक सत्ता के आज्ञापालन से मुक्त नहीं हो सकता और न वह ऐसे निर्मित विधानों के प्रतिकूल या उनकी निर्धारित सीमा के क्षेत्र के बाहर आज्ञापालन के लिये बाध्य है। ऐसा विचार ही उपहासजनक है कि व्यक्ति समाज में ऐसी सत्ता के आज्ञापालन को बाध्य हो जो सर्वोच्च सत्ता न हो।

१३५. व्यवस्थापक सत्ता का निवास एक या एक से अधिक व्यक्तियों में हो, चाहे वह निरन्तर सत्रासन्न रहती हो या कभी-कभी, वह प्रत्येक राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है। परन्तु वह जनता के जीवन और सम्पत्ति के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वेच्छा-चारिणी तथा निरंकुश सत्ता नहीं होती और न हो सकती है। यह सत्ता, समाज के प्रत्येक सदस्य की संयुक्त सत्ता है जो उसने व्यवस्थापक संस्था या व्यक्ति को सौंपी है। व्यवस्थापक सत्ता उस सत्ता से अधिक नहीं हो सकती, जो उन व्यक्तियों को, समाज में प्रवेश करने के पूर्व प्राकृत अवस्था में प्राप्त थी तथा जिसे उन्होंने समाज को सौंपा। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ऐसी सत्ता हस्तान्तरित नहीं कर सकता, जो उसे स्वयं प्राप्त न हो और प्राकृत अवस्था में किसी को अपना जीवन नष्ट करने की, या किसी अन्य का जीवन और सम्पत्ति नष्ट करने की स्वेच्छाचारी सत्ता प्राप्त नहीं थी। जैसा प्रमाणित किया जा चुका है, कोई व्यक्ति अपने को किसी दूसरे की स्वेच्छाचारी सत्ता के अधीन नही कर सकता। प्राकृत अवस्था में किसी व्यक्ति को दूसरे के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर स्वेच्छाचारी सत्ता प्राप्त न थी, उसे केवल उतनी ही सत्ता प्राप्त थी जो उसे स्वयं तथा शेष मानवजाति को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त हो। केवल इतनी ही सत्ता वह राज्य को और राज्य के माध्यम से व्यवस्थापक सत्ता को सौंप सकता है और सौंपता है। अतः व्यवस्थापक सत्ता को इससे अधिक सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती।

रखें कि इस प्रकार के व्यक्तियों को, स्वभावतः विशाल राजनीतिक समाजों पर शासन करने का पूर्ण और उचित अधिकार नहीं है, हमारी सहमति के अभाव में, हम ऐसे समाज में किसी के शासन के अधीन नहीं होते। शासित होने के लिए हमारी सहमति तभी मानी जाती है, जब हमारा समाज जिसके हम अंग हैं, किसी पूर्वकाल में, शासन को ऐसी सहमति प्रदान कर चुका होता है जिसे उसने ऐसी ही व्यापक सहमति द्वारा वापस न लिया हो।

"अतः प्रत्येक प्रकार के मानव विधानों का आधार सहमति है।"—हुकर, लॉज ऑफ इक्लि-ज़ियेस्टिकल पॉलिटी।

अपनी चरम सीमा में, उसकी सत्ता समाज के सार्वजनिक हित तक ही सीमित होती है।[१] इस सत्ता का उद्देश्य केवल सुरक्षा है, अतः नष्ट करने का या दास बनाने का या जान-बूझकर स्वार्थवश प्रजा को दरिद्र बना देने का अधिकार उसे कदापि नहीं हो सकता। प्रकृति के विधान के बन्धन, समाज में समाप्त नहीं हो जाते, वरन्, कई मामलों में और अधिक दृढ़ हो जाते हैं और मानवविधानों द्वारा, तथा उनके साथ जुड़े हुए स्पष्ट दण्डों द्वारा, उनका बलपूर्वक पालन कराया जाता है। अतः प्रकृति का विधान सब मनुष्यों के लिए सनातन नियम है—व्यवस्थापकों के लिए तथा अन्य सब के लिए भी। व्यवस्थापक जो नियम दूसरों के कार्य संचालन के लिये बनाते हैं, वे स्वयं उनके कार्यों पर भी लागू होते हैं, उन्हें प्रकृति के विधान के अनुकूल होना चाहिए, अर्थात्—परमेश्वर की उस इच्छा के अनुकूल होना चाहिए जिसकी वे अभिव्यक्ति हैं। प्रकृति का मूल विधान मानवजाति की सुरक्षा का कारण है, अतः इसके विरुद्ध कोई मानवीय आदेश उचित या वैध न होना चाहिए।

१३६. दूसरे, व्यवस्थापक या सर्वोच्च सत्ता तात्कालिक स्वेच्छाचारी आदेशों द्वारा शासन नहीं कर सकती। उसके लिए घोषित तथा स्थायी विधानों[२] द्वारा शासन

१. राजनीतिक समाजों के दो आधार हैं। पहला आधार ऐसी स्वाभाविक इच्छा है जो सब मनुष्यों को सामाजिक जीवन और सहवास की ओर प्रेरित करती है। दूसरा आधार सहवास और समाज में निवास की व्यवस्था के लिए स्पष्ट या मौन सहमति है। इस दूसरे आधार को हम राजनीतिक समाज का विधान कहते हैं, यही उसकी आत्मा है। राजनीतिक समाज के विभिन्न तत्व इसी विधान के आधार पर उसके सजीव क्रियाशील अंग बन जाते हैं और व्यापक हित में योगदान करते हैं। विदेशी सत्ता द्वारा घोषित विधान और निरंकुश आदेशों का ऐसा आधार नहीं होता, जैसा होना चाहिए, अन्यथा हमें यह मानना होगा कि मनुष्य जड बुद्धि और उच्छृंखल होते हैं और उनमें अपने स्वभाव के सनातन नियमों को तोड़ने की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् मनुष्य का निकृष्ट स्वभाव वन्य पशुओं के समान होता है। व्यापक हित में बाधा न हो, इसके हेतु वे अपने कार्यों के नियन्त्रण के लिए समाज की स्थापना करते हैं, अन्यथा उन्हें पूर्ण नहीं कहा जा सकता।"—हुकर, लॉज ऑव इक्लिज़ियेस्टिकल पॉलिटी (१, १०)

२. "मानव विधान व्यक्तियों के लिए बनाये गये वे नियम हैं जिनके निष्पादन का वे स्वय निर्देशन करते हैं। यह विधान जो भी हो, लेकिन उससे भी श्रेष्ठ दो और विधान हैं; परमेश्वर का विधान और प्रकृति का विधान। मानव विधान प्रकृति के विधान के अनुकूल ही बनना चाहिए और वह हमारे धर्मग्रन्थ के स्पष्ट विधान के प्रतिकूल न हो, अन्यथा मानव विधान उचित विधान न होगा।—हुकर, लॉज ऑफ इक्लिज़ियेस्टिकल पॉलिटी (३,९)

मनुष्य को अनिष्ट के लिए बाध्य करना अविवेकपूर्ण प्रतीत होता है।—हुकर, लॉज ऑफ इक्लि-ज़ियेस्टिकल पॉलिटी (१.१०)

करना ज्ञेय अधिकृत न्यायाधीशों द्वारा न्याय करना और प्रजा के अधिकारों का निर्णय करना अनिवार्य है। प्रकृति का विधान लिखित नहीं है इस कारण वह केवल मनुष्यों के मस्तिष्क में ही पाया जाता है, अतः यदि कोई क्रोध या लोभ के वश उसकी गलत व्याख्या करे या उसका दुरुपयोग करे, तो उसे स्थापित न्यायाधीशों के बिना अपनी भूल का सरलता से विश्वास नहीं कराया जा सकता, और उस विधान का अधीनस्थ प्रजा के अधिकारों की परिभाषा करने का और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा करने का उद्देश्य पूरा नही होता। ऐसी स्थिति में जहाँ सभी व्यक्ति अपने निजी मामलों में भी न्यायकर्त्ता हों और विधान की व्याख्या करने के लिए स्वतन्त्र हों, वहाँ प्रकृति के विधान का उद्देश्य पूरा नहीं होता। यदि किसी का कार्य न्यायसंगत भी हो, तो भी उसका केवल अपना निजी बल आक्रमण से सुरक्षा के लिए तथा आक्रमणकारी को दण्ड देने के लिए पर्याप्त नहीं होता। प्रकृति की अवस्था में, सम्पत्ति को असुरक्षित और अव्यवस्थित करने वाली इन असुविधाओं को दूर करने के लिये व्यक्ति समाज में सम्मिलित होते हैं जिससे सम्पूर्ण समाज की संगठित शक्ति उनकी सुरक्षा कर सके और स्थायी नियमों द्वारा मर्यादा निर्धारित हो सके जिससे प्रत्येक को स्पष्टतया ज्ञात हो कि उसका क्या अधिकार है। इसी उद्देश्य के लिए व्यक्ति अपने सब प्राकृतिक अधिकार समाज को सौंपते हैं और समाज अपनी समझ के अनुसार उपयुक्त हाथों में व्यवस्थापक सत्ता इस विश्वास के साथ सौंपता है कि घोषित विधानों द्वारा शासन किया जायगा, अन्यथा, उनकी शान्ति और सम्पत्ति में वही अनिश्चय बना रहेगा जो प्रकृति की अवस्था में था।

१३७. निरंकुश स्वेच्छाचारी सत्ता, या स्थापित स्थायी विधानों के बिना शासन से समाज और शासन के उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती, जिसके लिए व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता का त्याग करता है। व्यक्ति अपने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए तथा अधिकार और सम्पत्ति के स्थायी नियमों द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिए ही बन्धन स्वीकार करते हैं। हम यह नहीं मान सकते कि उनका उद्देश्य यह हो सकता है कि वे एक या अधिक व्यक्तियों को अपने शरीर और सम्पत्ति पर निरंकुश स्वेच्छाचारी सत्ता प्रदान करें (यदि उन्हें ऐसी सत्ता प्रदान करने का अधिकार हो भी) और राजकीय अधिकारी को इतना बल प्रदान करें कि वह अपनी असीमित इच्छा को स्वेच्छापूर्वक उन पर लाद सके। यदि शासक को ऐसी सत्ता प्राप्त हो तो जनता की स्थिति प्रकृति की अवस्था से भी खराब हो जायगी। प्रकृति की अवस्था में उन्हें अतिक्रमण से अपने अधिकारों की रक्षा करने की स्वतन्त्रता थी और इसके लिए बल प्रयोग करने का समान अधिकार था, चाहे अतिक्रमण एक व्यक्ति

या कई संगठित व्यक्तियों द्वारा हो। यदि हम यह मान लें कि व्यक्ति अपने को व्यवस्थापक की निरंकुश स्वेच्छाचारी सत्ता और इच्छा के हाथ सौप देते हैं, तो वे स्वयं अपने को निशस्त्र करके, शासक को शस्त्र प्रदान करते है, जिससे वह अपनी इच्छानुसार जब चाहे, उनकी बलि दे दे। एक लाख व्यक्तियों के संगठित बल का प्रयोग करने वाले की स्वेच्छाचारी सत्ता से आशंका अधिक होती है; एक लाख असंगठित व्यक्तियों की स्वेच्छाचारी सत्ता से कम। इसका कोई निश्चय नहीं है कि यद्यपि एक व्यक्ति एक लाख व्यक्तियों के संगठित बल का प्रयोग कर सकने की स्थिति में हो, तो उसकी इच्छा दूसरों से श्रेष्ठ ही होगी। अतः राज्य में चाहे जैसा शासन हो, शासन करनेवाली सत्ता को घोषित और अनुमोदित विधानों द्वारा ही शासन करना चहिए—तात्कालिक आदेशों तथा अनिश्चित नियमों द्वारा नहीं। यदि व्यक्ति एक या अनेक व्यक्तियों को जनता की संगठित शक्ति प्रदान करें, और उनके आकस्मिक विचारों से उत्पन्न अत्याचारी और बहुसंख्यक आदेशों का या उनकी अनियंत्रित और उस समय तक अज्ञात इच्छाओं का पालन करने के लिए बाध्य हों और शासक कार्यों का निर्देशन तथा उन्हें न्याय सम्मत सिद्ध करने के लिए कोई स्थापित नियम न हो, तो मानव जाति की अवस्था, प्राकृत अवस्था से कहीं अधिक खराब हो जायगी। चूकि शासन की समस्त सत्ता केवल समाज के हित के लिए ही होती है और उसे स्वेच्छाचारी नही होना चाहिए, अतः उसका प्रयोग स्थापित और घोषित विधानों के अनुसार होना चाहिए जिससे जनता को भी अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो और विधान की सीमा में वह सुरक्षित रह सके, तथा शासक भी उचित सीमा में रहें और अपनी सत्ता का उचित कार्यों के लिए तथा उचित साधनों से प्रयोग करने को प्रेरित हों।

१३८. तीसरे, सर्वोच्च सत्ता किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का कोई भी अंश उस व्यक्ति की सहमति के बिना नही छीन सकती। शासन का उद्देश्य ही सम्पत्ति की सुरक्षा है और इसी के लिए मनुष्य किसी समाज में प्रवेश करता है और इसी सुरक्षा के अभाव में वह समाज—प्रवेश के उद्देश्य को खो देता है। समाज में सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त न होने जैसी घोर असंगति को कोई व्यक्ति स्वीकार न करेगा। अतएव व्यक्ति को समाज में उसके विधान द्वारा प्राप्त साम्पत्तिक अधिकार का अर्थ होता है कि कोई उसकी सम्पत्ति को या उसके किसी अंश को उसकी सहमति के बिना छीन न सके, क्योंकि उस अधिकार के बिना सम्पत्ति उसके पास रह नहीं सकती। यह सच है कि यदि किसी अन्य व्यक्ति को, मेरी सहमति के विपरीत, बलपूर्वक मुझसे मेरी सम्पत्ति छीनने का अधिकार हो, तो वह सम्पत्ति मेरी सम्पत्ति नही मानी जा सकती। अतः ऐसा सोचना

भूल होगी कि किसी भी राज्य की सर्वोच्च या व्यवस्थापक सत्ता जो चाहे कर सकती है और अपनी प्रजा की सम्पत्ति को स्वेच्छानुसार हथिया सकती है या उसके किसी अंश को अपनी इच्छानुसार छीन सकती है। ऐसी आशंका उन शासनों में अधिक नहीं होती जहाँ व्यवस्थापक सत्ता पूर्णतया, या कुछ मात्रा में ऐसी व्यवस्थापिकाओं को प्राप्त होती हैं जो परिवर्तनशील हों और जिनके सदस्य, व्यवस्थापिका के विघटन के बाद, शेष जनता की भाँति देश के सामान्य विधान के वशंवद नागरिक हो जाते हैं। परन्तु उन शासनों में जहाँ व्यवस्थापक सत्ता ऐसी स्थायी सभा को प्राप्त हो जो सदैव कार्यशील रहे, या एक व्यक्ति को प्राप्त हो, जैसा निरंकुश राजतन्त्र में होता है, तो सदैव यह आशंका बनी रहेगी कि वे अपने हित को शेष समाज के हित से भिन्न समझने लगेंगे और इसीलिए जनता से अपनी इच्छानुसार जो चाहे लेकर अपनी सम्पत्ति और सत्ता का विस्तार करने लगेंगे। यदि शासक को स्वेच्छानुसार व्यक्ति की सम्पत्ति का कोई भी अंश छीनने, उपयोग करने और जैसा वह उचित समझे उसकी वैसी अवस्था करने का अधिकार हो चाहे उस समाज में व्यक्तियों के मध्य सीमा निर्धारित करने के लिए समुचित विधान हों, तो भी व्यक्ति की सम्पत्ति कभी पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह सकती।

१३९. जैसा मैं पहले प्रमाणित कर चुका हूँ, शासन सत्ता चाहे जिसके हाथों में सौंपी जाय, उसकी यह शर्त और उसका यही लक्ष्य होता है कि व्यक्ति को सम्पत्ति प्राप्त हो और सुरक्षित रहे। राजा या राजपरिषद् को प्रजाजनों में, एक दूसरे के मध्य सम्पत्ति की व्यवस्था करने के लिए विधि बनाने की चाहे जो सत्ता प्राप्त हो, परन्तु, उन्हें अपनी प्रजा की सहमति के बिना उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति या उस सम्पत्ति का कुछ अंश लेने का अधिकार कदापि नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार का व्यवहार में यही अर्थ होगा कि प्रजा के पास कोई सम्पत्ति शेष न रह जायगी। जिस समय कहीं पूर्ण सत्ता की आवश्यकता होती है, वहाँ वह पूर्ण होते हुए भी स्वेच्छाचारी सत्ता नहीं हो सकती, और उस समय भी, वह उस विवेक और उस उद्देश्य द्वारा सीमित होती है जिसके कारण आवश्यकतावश उसका निरंकुश होना आवश्यक हो। इसका उदाहरण हमें सैनिक अनुशासन में मिलता है। सेना तथा सेना द्वारा सम्पूर्ण राज्य को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक श्रेष्ठ अफसर के आदेश का पूर्णतया पालन किया जाय, यहाँ तक कि घोर आशंकापूर्ण या युक्तिहीन आदेशों के भी उल्लंघन या प्रतिवाद का दण्ड मृत्युदण्ड होता है। फिर भी, हम देखते हैं कि जो सार्जेन्ट, सैनिक को तोप के मुंह पर मोर्चे, या गोलियों की बौछार में मृत्यु के आलिंगन की आज्ञा दे सकता है, वही सार्जेन्ट उस सैनिक को अपने धन से उसे एक पैसा देने तक का आदेश नहीं दे

सकता। इसी तरह, सेनापति सैनिक को मोर्चे से भागने के लिए, या अत्यावश्यक आदेशों का पालन न करने के लिए मृत्युदण्ड दे सकता है, वह सैनिक को कोई भी आदेश दे सकता है और आज्ञा के लेशमात्र उल्लंघन के लिए उसे फाँसी पर भी लटका सकता है, फिर भी, जीवन और मृत्यु पर ऐसी पूर्ण सत्ता होते हुए भी, वह सैनिक की सम्पदा का एक पैसा भी नहीं हथिया सकता, सैनिक की सम्पत्ति का एक पण भी नहीं छीन सकता। कारण यह है कि सेनापति को अपनी सत्ता जिस उद्देश्य के लिए प्राप्त होती है (अर्थात्, समाज की सुरक्षा के लिए), उसकी पूर्ति के लिए दृढ़ आज्ञापालन आवश्यक होता है; उस उद्देश्य का सम्पत्ति की व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

१४०. यह सच है कि महान् धनराशि के बिना शासन चलाना असम्भव होता है और यह उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसे शासन से सुरक्षा प्राप्त होती है, उसकी साधन-पूर्ति के लिए अपनी सम्पदा से अपना अनुदाय दे। परन्तु यह अनुदाय उसकी सहमति से होना चाहिए, अर्थात, बहुमत की सहमति से, जिसे वह या तो स्वयं या अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा देता है। बिना जनता की ऐसी सहमति प्राप्त किये यदि कोई अपने निजी अधिकार से जनता पर कर लगाने का दावा करता है तो वह सम्पत्ति के आधारभूत विधान का उल्लंघन करता है और शासन के मूल उद्देश्य की अवहेलना करता है। यदि किसी व्यक्ति को स्वेच्छानुसार मेरी सम्पत्ति लेने का अधिकार हो तो मेरी सम्पत्ति का अर्थ ही क्या हुआ?

१४१. चौथे, व्यवस्थापक सत्ता अपनी सत्ता किसी अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकती, क्योंकि उसे स्वयं यह सत्ता जनता से प्राप्त होती है और जिन्हें यह सत्ता प्राप्त होती है वे उसे दूसरे को नहीं सौंप सकते। केवल जनता ही राज्य का रूप निर्धारित कर सकती है अर्थात् व्यवस्थापक सत्ता को नियुक्त कर सकती है और निश्चित कर सकती है कि यह सत्ता किसे प्राप्त हो। जनता जब यह घोषित कर दे, "हम इनके अधीन रहेंगे और इनके द्वारा, इस रूप में बनाये गये विधानों द्वारा शासित होंगे," तब कोई अन्य व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि जनता के लिए अन्य लोग विधान बनायें, या जनता किसी अन्य सत्ता द्वारा निर्मित विधानों का पालन करने को बाध्य है। जिन्हें जनता ने इस कार्य के लिए चुना है और विधान बनाने का अधिकार दिया है, उन्हीं द्वारा निर्मित विधान के पालन के लिए जनता बाध्य है।

१४२. समाज के विश्वास तथा परमेश्वर और प्रकृति के विधान के आधार पर प्रत्येक राज्य में हर प्रकार के शासन में व्यवस्थापक सत्ता पर ऐसे ही बन्धन होते हैं—प्रथम, ऐसे घोषित तथा स्थापित विधानों द्वारा शासन होना चाहिए जो किसी के भी

स्वार्थ-साधन के लिए संशोधित न किये जायँ और दरिद्र तथा धनी के लिए तथा राज-दरबार के प्रिय दरबारियों और हल चलानेवाले किसान के लिए समान हों। दूसरे, इन विधानों का एकमात्र ध्येय जनता का हित हो। तीसरे, वे जनता की सहमति के बिना, उनकी सम्पत्ति पर कर न लगायें। यह सहमति जनता स्वयं, या अपने प्रतिनिधियों द्वारा, दे सकती है। इसका सम्बन्ध, विशेषरूप से, उन शासनों से है जहाँ व्यवस्थापक सत्ता निरन्तर सक्रिय रहती हैं, या जहाँ जनता ने व्यवस्थापक सत्ता में समय-समय पर अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों को उसमें शामिल नहीं किया है। चौथे, व्यवस्थापक सत्ता, किसी अन्य को अपनी सत्ता हस्तान्तरित नहीं कर सकती, और न उसे ऐसा करना चाहिए। व्यवस्थापक सत्ता उन्हीं हाथों में रहे जिन्हें जनता ने उसे सौंपा है।

अध्याय १२

राज्य की व्यवस्थापक, कार्यकारिणी और संघीय सत्ता

१४३. व्यवस्थापक सत्ता वह सत्ता है जिसे राज्य की शक्ति का निर्देशन करने का अधिकार हो यानी कि किस प्रकार वह शक्ति समाज और उसके सदस्यों की सुरक्षा के लिए प्रयोग में लायी जाय। चूकि थोड़े समय में ही ऐसे विधानों का निर्माण हो सकता है जिन्हें निरन्तर कार्यान्वित करने की आवश्यकता होती है और जिन्हें सदैव के लिए बल प्राप्त होता है, अतः यह आवश्यक नहीं है कि व्यवस्थापिका का सत्र निरन्तर चलता रहे। क्योंकि उसका कार्य इतना दीर्घ नहीं होता। यदि विधि निर्माण करनेवाले व्यक्तियों को विधानों के कार्यान्वित करने की भी सत्ता प्राप्त हो जिससे वे अपने बनाये हुए विधानों के पालन से स्वयं को विमुक्त कर सकें और विधान के निर्माण तथा उसके कार्यान्वित करने के समय उनका अपने निजी स्वार्थसाधन में प्रयोग कर सकें जिससे उनका स्वार्थ शेष जनता के हित से पृथक् हो जाय और समाज तथा शासन के लक्ष्य के विपरीत हो, तो सत्ता हथियाने के लिए सदैव आतुर मानव स्वभाव के लिए वह एक बहुत बड़ा प्रलोभन होगा। अतः सुव्यवस्थित राज्यों में, जहाँ समस्त समाज के हित का ध्यान रखा जाता है जैसा कि उचित भी है, व्यवस्थापक सत्ता भिन्न-भिन्न ऐसे व्यक्तियों को सौंपी जाय जो विधिपूर्वक सभा में एकत्रित हों और जिन्हें स्वयं या औरों के साथ संयुक्त रूप से व्यवस्थापक सत्ता प्राप्त हो तथा विधान निर्माण के बाद वे फिर पृथक हो जायँ और स्वयं भी अपने बनाये हुए विधानों के अधीन हों। ऐसा होने से जनहित की दृष्टि से उन पर एक नया और दृढ़ बन्धन आयत्त हो जायगा।

१४४. क्योंकि वे विधान जिनका एक काल और थोड़े ही समय में निर्माण होता है, अविरल और स्थायी बलवाले होती है और उन्हें नित्य कार्यान्वित करने की और उन पर सदैव ध्यान देने की आवश्यकता होती है, अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी सत्ता सदैव स्थापित रहे जो निर्मित तथा प्रवर्तित विधानों को कार्यान्वित करे। इसीलिए व्यवस्थापक और कार्यकारिणी सत्ता प्रायः पृथक हाथों में होती हैं।

१४५. राज्य में एक और सत्ता होती है जिसे हम प्राकृतिक सत्ता कह सकते हैं, क्योंकि यह वही सत्ता है जो प्रत्येक व्यक्ति को समाज में प्रवेश करने के पूर्व स्वभावतः प्राप्त थी। यद्यपि राज्य में उसके सब सदस्य विशिष्ट व्यक्ति होते है, फिर भी, वे अपने

पारस्परिक सम्बन्धों में समाज के विधानों द्वारा नियंत्रित रहते हैं। किन्तु एक इकाई के रूप में शेष मानवजाति से उनका सम्बन्ध वही होता है जो मानवजाति के प्रत्येक सदस्य का प्रारंभिक प्राकृत अवस्था में शेष मानवता के साथ होता था। अतः समाज के किसी व्यक्ति का, उस समाज के बाहर के व्यक्तियों की शत्रुता का प्रतीकार सारा समाज मिलकर करता है, और समाज के प्रत्येक सदस्य की इस प्रकार हुई क्षति की पूर्ति करने का प्रयास सम्पूर्ण समाज करता है। अतः इस दृष्टि से, सम्पूर्ण समाज एक इकाई के रूप में, अन्य समाजों या उस समाज से बाहर के व्यक्तियों के प्रति प्राकृत अवस्था में वर्तमान रहता है।

१४६. समाज के इसी अधिकार द्वारा उसे युद्ध अथवा सन्धि करने की, संघ बनाने और मैत्री स्थापित करने की और राज्य के बाहर के सब व्यक्तियों और समाजों से सम्बन्ध बनाये रखने की सत्ता प्राप्त होती है। इस सत्ता को संघीय (Federative) या किसी अन्य नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। मेरा उद्देश्य तो उस सत्ता की रूपरेखा समझने भर का है, उसके नाम से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

१४७. यह दोनों सत्ताएँ—कार्यकारिणी और संघीय—यद्यपि वास्तव में परस्पर भिन्न हैं, फिर भी कार्य में प्रायः दोनों ही अन्योन्याहित होती हैं। एक तो समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति पर राजकीय विधानों को लागू करती है, और दूसरी उन सबसे, जो समाज के बाहर के हैं और जिनसे समाज को हानि या लाभ प्राप्त होने की सम्भावना होती है, समाज की रक्षा और उसके हितों की व्यवस्था करती है। यद्यपि संघीय सत्ता का कुशल या अकुशल संचालन, राज्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु कार्यकारिणी की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती, स्थायी और निश्चित विधानों द्वारा इसका संचालन अधिक कठिन है। अतः इसे सत्ताधारियों के विवेक और बुद्धिमता के भरोसे छोड़ना इसलिए आवश्यक हो जाता है, जिससे वे उसका सार्वजनिक हित के लिए प्रयोग करें। प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक विधान, जो प्रजा के कार्यों का निर्देशन करते हैं, आवश्यकता के पूर्व भी बन सकते हैं, परन्तु वैदेशिक सम्बन्ध विषयक विधान में, क्या व्यवस्था की जाय, यह विदेशियों के कार्यकलाप और उनके उद्देश्यों और हितों के परिवर्त्तन पर निर्भर होता है और इन्हें उन्हीं लोगों के विवेक के भरोसे जिनके हाथों संघीय सत्ता सौंपी गयी हो, छोड़ना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि जिससे वे अपनी सम्पूर्ण योग्यतानुसार उसका उपयोग राज्य के हित में कर सकें।

१४८. जैसा मैंने कहा, यद्यपि सब समाजों की कार्यकारिणी और संघीय सत्ताएँ वास्तव में स्वयं भिन्न होती हैं, परन्तु उन्हें पृथक करना और एक ही समय विभिन्न

व्यक्तियों के हाथों में सौंपना उचित नहीं होता चूंकि दोनों को अपनी सत्ता का उपयोग करने हेतु समाज का समर्थन आवश्यक होता है, इसलिए राज्य की शक्ति दो स्पष्टत: भिन्न तथा परस्पर अवशंवद हाथों के सुपुर्द करना अव्यावहारिक होगा; अथवा कार्यकारिणी तथा संघीय सत्ता ऐसे लोगों के हाथ सौंपना जो अपना काम इस प्रकार अलग-अलग करें जिससे सार्वजनिक सत्ता विभिन्न नेतृत्व के वश में जा पड़े, किसी न किसी समय विनाश और अव्यवस्था का जनक होगा।

अध्याय १३

राजनीतिक समाज की विभिन्न सत्ताओं की पारस्परिक वशंवदता

१४९. स्वयं अपने मौलिक आधारों की नींव पर संगठित किसी ऐसे राजनीतिक समाज में, जो अपनी प्रकृति के अनुसार—जनता सुरक्षा का कार्य करता हो केवल एक ही सर्वोच्च सत्ता हो सकती है। यह सत्ता व्यवस्थापक सत्ता होती है। अन्य सब सत्ताएँ उसके अधीन होती हैं और उनका इस प्रकार वशंवद होना ही उचित है। परन्तु व्यवस्थापिका सत्ता ऐसी निक्षिप्त सत्ता है, जो कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए व्यवस्थापिका सत्ता को प्राप्त होती है। निक्षेप पूर्ति के हेतु व्यवस्थापिका को सत्ता सौंपी गयी थी, उसके विपरीत कार्य करने पर, उसे पदच्युत करने का या उन अधिकारों में परिवर्तन करने का सर्वोच्च अधिकार जनता को रहता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो सत्ता सौंपी जाती है, वह उसी उद्देश्य द्वारा सीमित होती है। जब कभी उस उद्देश्य की स्पष्ट रूप से अवहेलना हो, या विरोध हो, तो यह अवश्यम्भावी है कि वह इस सत्ता के अधिकार को खो दे, और यह सत्ता पुनः उन्हीं के हाथों में चली जाय जिन्होंने इसे सौंपा था; जिससे वे उसे ऐसे हाथों में सौंपे जहाँ वे उसे अपनी सुरक्षा और प्रतिभूति के लिए सर्वोचित समझें। इस प्रकार अतिक्रमण से अपनी सुरक्षा करने की सर्वोच्च सत्ता जनता अपने हाथों में सुरक्षित रखती है—विधिनिर्माताओं द्वारा प्रजा की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के विरुद्ध की गयी मूर्खतापूर्ण या दुष्टतापूर्ण कार्यवाही का प्रतीकार भी वह इस अधिकार द्वारा ही करती है। किसी व्यक्ति या समाज को अपने संरक्षण और संरक्षण के साधनों को, किसी अन्य की निरंकुश इच्छा और स्वेच्छाचारी आधिपत्य के हाथ सौंपने का अधिकार नहीं होता। यदि कोई उसे ऐसे दासत्व की अवस्था में जकड़ने का प्रयास करे, तो उसे सदैव अपनी सुरक्षा करने का अधिकार होता है। इस अधिकार को त्यागने का अधिकार उसे नहीं होता। आत्म-सुरक्षा के इस मौलिक, पवित्र और अपरिवर्तनशील विधान पर, जिसके लिए व्यक्ति ने समाज में प्रवेश किया था, अतिक्रमण करनेवालों से मुक्त करने के अधिकार को त्यागने का अधिकार उसे नहीं होता। इस दृष्टि से समाज ही सर्वोच्च सत्ता कहा जायगा, परन्तु

वह किसी भी रूप मे शासन के अन्तर्गत नहीं होता क्योंकि जनता की शक्ति का अस्तित्व तभी सम्भव होता है जब कि शासन का विघटन हो जाय।

१५०. जब तक शासन रहता है, तब तक व्यवस्थापक सत्ता ही सदैव सर्वोच्च सत्ता होती है, क्योंकि जो अन्य के लिए विधान बना सकता है, वह अवश्य ही उससे श्रेष्ठ होगा और व्यवस्थापक सत्ता, समाज के सब सदस्यों के लिए विधान बनाने के अधिकार के कारण ही व्यवस्थापक सत्ता कहलाती है। वह समाज के प्रत्येक सदस्य के कार्यों के लिए नियम बनाती है जिनका उल्लंघन होने पर वह विधानों का पालन कराने की सत्ता प्रदान करती है। अतः यह आवश्यक है कि व्यवस्थापक सत्ता सर्वोच्च सत्ता हो और समाज के प्रत्येक सदस्य या भाग की सत्ता उससे उत्पन्न हो या उसके अधीन हो।

१५१. कुछ राज्यों में, जहाँ व्यवस्थापक सत्ता सदैव स्थापित नहीं रहती, और कार्यकारिणी सत्ता एक ऐसे अकेले व्यक्ति को प्राप्त होती है जिसको व्यवस्थापक सत्ता का भी कुछ अंश प्राप्त होता है, वहाँ अति उदार दृष्टि से, वह एकमात्र व्यक्ति सर्वोच्च कहा जा सकता है—इसलिये नहीं कि समस्त सर्वोच्च सत्ता, जो व्यवस्थापक सत्ता है, उसी में अन्तर्हित होती है, बल्कि इसलिए कि उसको सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता प्राप्त होती है और समस्त निम्नकोटि के राजकीय पदाधिकारी अपनी विभिन्न अवर सत्ताएँ, या कम से कम उनमें से अधिकांश सत्ताएँ उसी से प्राप्त करते हैं। उससे श्रेष्ठ कोई अन्य व्यवस्थापक सत्ता नहीं होती, क्योकि उसकी अनुमति के बिना किसी विधान का निर्माण नहीं हो सकता और इस कारण वह कभी व्यवस्थापक सत्ता के अन्य भाग के आधीन नहीं हो सकता। अतः इस दृष्टि से, उसे सर्वोच्च कहना ही उचित होगा। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि राजभक्ति की शपथ उसी के नाम से ली जाती है, परन्तु इस कारण नहीं कि वह सर्वोच्च व्यवस्थापक है, वरन् इस कारण से कि वह उन विधानों का सर्वोच्च निष्पादक होता है, जिनका निर्माण उसने अन्य के साथ मिलकर किया हो। राजभक्ति का अर्थ है विधान के अनुसार आज्ञापालन। यदि वह विधान का उल्लंघन करे, तो उसे आज्ञापालन प्राप्त करने का अधिकार नहीं रहता। आज्ञा-पालन का दावा वह विधान की सत्ता प्राप्त सार्वजनिक अधिकारी होने के कारण ही कर सकता है। अतः उसे राज्य के प्रतिबिम्ब, छाया या प्रतिनिधि के रूप में भी समझना चाहिए जो विधानों के रूप में घोषित समाज की इच्छा के अनुसार ही कार्य करता है। अतः स्वयं उसकी अपनी कोई इच्छा या सत्ता नहीं होती, वरन् केवल विधान की होती है। यदि वह इस प्रतिनिधित्व को, इस सार्वजनिक इच्छा को त्याग कर अपनी

निजी इच्छा द्वारा कार्य करे, तो वह सत्ताच्युत हो जाता है और वह सत्ताशून्य और इच्छाशून्य सामान्य व्यक्तिमात्र शेष रह जाता है। समाज के सदस्य केवल समाज की सार्वजनिक इच्छा का ही आज्ञापालन करते हैं, किसी व्यक्ति का नहीं।

१५२. यदि किसी ऐसे व्यक्ति को कार्यकारिणी सत्ता प्राप्त हो जिसे व्यवस्थापक सत्ता में भाग प्राप्त न हो, तो वह स्पष्टतया व्यवस्थापक सत्ता के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी होगा। व्यवस्थापक सत्ता उसे इच्छानुसार पदच्युत कर सकती है और किसी दूसरे को उसके स्थान पर नियुक्त कर सकती है, अतः सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता अनिवार्यतः पूर्ण स्वतंत्र नहीं होती। परन्तु यदि सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में हो, जो सर्वोच्च व्यवस्थापक सत्ता का भी भाग हो जिसकी अधीनता तथा जिसके प्रति उत्तरदायित्व उसने स्वेच्छा से स्वीकार किया हो, और यह निःसन्देह बहुत कम होगा; तो ऐसी सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता किसी के आधीन नहीं होती। राज्य की अन्य कार्यकारिणी और वशंवद सत्ताओं के विषय में हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न राज्यों की प्रथाओं और संविधानों में उनके इतने असंख्य रूप हो गये है कि उन सबका पूर्ण विवरण देना असम्भव है। हमारे उपस्थित उद्देश्य के लिए उन पर केवल इतना ही ध्यान देना आवश्यक है कि उनमें से किसी को ऐसी कोई सत्ता प्राप्त नहीं है —जो निश्चित अनुदान और प्रत्यायोजन द्वारा प्राप्त न हो। वे राज्य में किसी अन्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी होती हैं।

१५३. यह आवश्यक नहीं और न सुविधाजनक भी है कि व्यवस्थापक सत्ता का सत्र निरन्तर चलता रहे; परन्तु कार्यकारिणी सत्ता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह निरन्तर सक्रिय रहे। सदैव नये विधानों की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु निर्मित विधानों का निष्पादन प्रतिदिन आवश्यक होता है। जब व्यवस्थापक सत्ता अपने निर्मित विधानों को निष्पादित करने की सत्ता दूसरों को सौंपती है तो उसे पर्याप्त कारण होने पर उस सत्ता को पुनः वापस लेने का अधिकार होता है और विधानों के कुप्रशासन को दण्डित करने का अधिकार होता है। यही बात संघीय सत्ता के लिए भी है, क्योंकि वह और कार्यकारिणी सत्ता, दोनों प्रशासकीय सत्ताएँ हैं और व्यवस्थापक सत्ता के अधीन होती हैं। जैसा मैं पहले प्रमाणित कर चुका हूँ, व्यवस्थापक सत्ता ही संगठित राजनीतिक समाज में सर्वोच्च होती है। परन्तु यहाँ हम यह मान लेते है कि व्यवस्थापक सत्ता का संगठन कई व्यक्तियों से मिलकर होता है, क्योंकि यदि यह सत्ता केवल एक ही व्यक्ति को प्राप्त हो, तो वह सदैव सक्रिय रहेगी और सर्वोच्च सत्ता होने के कारण, स्वभावतः, उसे कार्यकारिणी सत्ता भी प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति में यह

सर्वोच्च विधिनिर्माता अपनी पूर्ण स्वेच्छानुसार इस प्रकार विधि बना सकेगा या स्वेच्छानुसार उसे निलम्बित कर सकेगा जिसकी व्यवस्था राजनीतिक समाज की आदि स्थापना के समय न की गयी हो। यह भी हो सकता है कि ऐसे विधिनिर्माता के कार्य करने के लिए कोई स्थापित विधि न हो। यदि मूल संविधान द्वारा व्यवस्थापिका पर कुछ निश्चित अधिवेशनों की सीमा न बाँध दी गयी हो, या अपनी ही सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करते हुए उसने स्वयं अपने अधिवेशनों की समयावधि निश्चित न की हो जिसके पूरे हो जाने पर उसे पुनः समवेत होकर कार्य करने का अधिकार होता हो तो, चूंकि जनता ने उसे सर्वोच्च सत्ता सौंपी है, उसकी वह सत्ता सदा स्थायी रहेगी और वह जब चाहे उसका प्रयोग कर सकती हैं।

१५४. यदि संपूर्ण व्यवस्थापिका या उसका कोई भाग, निर्धारित अवधि के लिए, जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का हो, जो अवधि पूरी होने पर पुनः साधारण प्रजा की स्थिति में आ जाते हों और बिना नवीन चुनाव हुए उन्हें व्यवस्थापक सत्ता में कोई अधिकार प्राप्त न हो, तब निर्वाचन का यह अधिकार जनता को ही प्राप्त होगा, जिसका प्रयोग जनता या तो निर्धारित समय पर या आदेश होने पर करती है। यदि आदेश द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था हो तो व्यवस्थापक सत्ता के समाह्वान का अधिकार साधारणतया कार्यकारिणी को प्राप्त होता है। कार्यकारिणी पर समय के सम्बन्ध में दो बन्धन हो सकते हैं। यदि मूल संविधान में, निश्चित अवधि पूरी होने पर जनता द्वारा निर्वाचन का उल्लेख हो तो कार्यकारिणी सत्ता निर्वाचन के लिए यथाविधि आवयक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं करती। यदि नया चुनाव करवाना कार्यकारिणी सत्ता के विवेक पर निर्भर हो तब उसके मतानुसार जब जनता की परिस्थितियों या आवश्यकताओं के कारण पुराने विधानों में संशोधन और नये विधानों के निर्माण की आवश्यकता हो या जनता में कुछ ऐसी असुविधाएं हों या उनके होने की आशंका हो जिनके निवारण की आवश्यकता हो, तब वह चुनाव करा सकती है।

१५५. यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि कार्यकारिणी सत्ता, जिसे राज्य की शक्ति प्राप्त हो, उस शक्ति के प्रयोग से व्यवस्थापक सत्ता--जिसका समाह्वान मूल संविधान या जनता की परिस्थिति के कारण आवश्यक हो, के समवेत होने और कार्य करने में बाधा डाले तो क्या होगा? मेरा मत है कि जो अनधिकार और जनता के विश्वास के विरुद्ध जनता पर ऐसा बल प्रयोग करता है, वह जनता के प्रति युद्ध की अवस्था को प्राप्त होता है और ऐसी स्थिति में जनता को अपने अधिकारों का प्रयोग करके अपनी व्यवस्थापक सत्ता को पुनःस्थापित करने का अधिकार होता है। जब जनता इस

उद्देश्य से व्यवस्थापक सत्ता को स्थापित करती है कि वह निश्चित अवधिपर, या आवश्यकता पडने पर विधानों का निर्माण करे, और जब समाज के लिए इस अत्यावश्यक कार्य में, जिसमें जनसाधारण की सुरक्षा समाविष्ट है, कोई रुकावट डाले, तो जनता को उसे बल द्वारा पदच्युत करने का अधिकार होता है। सब परिस्थितियों में अनधिकार बल प्रयोग का उचित परिहार उसके विरुद्ध बलप्रयोग है। जो अनधिकार बलप्रयोग करता है, वह सदैव युद्ध की अवस्था में अतिक्रमणकारी होता है और उसके प्रति उसकी स्थिति के उपयुक्त व्यवहार ही उचित है।

१५६. व्यवस्थापक सत्ता का अधिवेशन बुलाने और विघटित करने के अधिकार से कार्यकारिणी सत्ता को उस पर श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होती, वरन् उसका यह अधिकार जनता की सुरक्षा के लिए उसको विश्वास के साथ सौंपा गया निक्षिप्त अधिकार है। मानव कार्यों के अनिश्चय और परिवर्त्तनशीलता के कारण कोई निश्चित स्थापित नियम नहीं बनाया जा सकता। शासन के आदि संस्थापकों के लिए यह सम्भव नहीं था कि उनको भविष्य का इतना पूर्ण ज्ञान हो कि वे चिरकाल के लिए व्यवस्थापक सत्ता की सभाओं के निर्वाचन और अवधि का उचित काल निश्चित कर सके, जो राज्य की प्रत्येक परिस्थिति के उपयुक्त हो। अतः इस कमी को पूरा करने का सर्वोचित साधन यह है कि ऐसे व्यक्ति के सद्विवेक में विश्वास किया जाय जिसका पद सदैव सक्रिय रहे और जिसका कार्य सार्वजनिक हित का संरक्षण हो। पर्याप्त अवसर के बिना व्यवस्थापक सत्ता की बारम्बार बैठक और निरन्तर लम्बे अधिवेशन जनता पर भारस्वरूप होंगे, और उनसे कालान्तर में अधिक आशंकापूर्ण असुविधाओं का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। परन्तु कभी-कभी परिस्थिति में द्रुत गति से ऐसा परिवर्त्तन हो सकता है जिसमें व्यवस्थापक सत्ता की तत्काल आवश्यकता हो और उसके समाह्वान में तनिक भी विलम्ब होने से जनता का अहित होने की सम्भावना हो। कभी-कभी उसके पास कार्य की इतनी अधिकता हो सकती है, कि उसके अधिवेशन का निर्धारित समय उस कार्य के लिए पर्याप्त न हो और पूर्ण वाद-विवाद के बिना जनता पूरे लाभ से वंचित हो। अतः व्यवस्थापक सत्ता के अधिवेशन और कार्य करने की अवधि निश्चित करने से, दोनों आशंकाओं की सम्भावनाओं से जनता को सुरक्षित रखने का केवल एक ही उपचार है—ऐसे व्यक्ति के विवेक पर विश्वास जिसके निरन्तर सक्रिय रहने और सार्वजनिक कार्यों का ज्ञान होने के कारण, यह सम्भावना हो कि वह अपने विशेषाधिकार का प्रयोग जनहित में ही करेगा। और इस अधिकार को ऐसे व्यक्ति को सौंपना सर्वोचित होगा जिसे उसी लक्ष्य के लिए विधानों

के निष्पादन की सत्ता प्राप्त हो। अतः यदि मूल संविधान द्वारा व्यवस्थापक सत्ता की सभाओं और अधिवेशनों का समय निर्धारित न किया गया हो, तो यह कार्य कार्यकारिणी सत्ता को प्राप्त होना स्वभाविक है। परन्तु यह उसे इस विश्वास से सौपा जाय कि वह इसका निष्पादन, स्वेच्छाचारी सत्ता के रूप में नहीं, सदैव जनहित में समय और स्थिति के परिवर्त्तन की आवश्यकतानुसार करेगा। यहाँ मै इस विवाद में नहीं पडता कि व्यवस्थापक सत्ता के अधिवेशनों का समय निश्चित होने से, या राजा को उसके अधिवेशन के समाह्वान की स्वतन्त्रता प्राप्त होने से, या दोनों के मिश्रण से, क्या असुविधाएं होंगी। यहाँ मेरा उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करना है कि यद्यपि कार्यकारिणी सत्ता को व्यवस्थापक सत्ता के अधिवेशनों के समाह्वान और विघटन का विशेषाधिकार प्राप्त हो सकता है, परन्तु इसके कारण वह व्यवस्थापक सत्ता से श्रेष्ठ नहीं होती।

१५७. यह संसार इतना परिवर्त्तनशील है कि परिस्थितियाँ क्षणभंगुर होती हैं। अतः मनुष्य, धन, व्यापार, सत्ता, सब परिवर्त्तनशील होते है। विशाल वैभवशाली नगर विनष्ट हो कालान्तर में वीरान हो जाते हैं और निर्जन प्रदेश जनधनधान्यपूर्ण देश बन जाते हैं। परन्तु परिवर्त्तन समान गति से नहीं होता और प्रथाएँ और विशेषाधिकार, आवश्यकता समाप्त हो जाने पर भी निजी स्वार्थ के लिए बने रहते है। ऐसे शासनों में, जहाँ व्यवस्थापक सत्ता का कुछ अंश जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो को प्राप्त हो, बहुधा ऐसा होता है कि प्रतिनिधित्व जिस आधार पर स्थापित किया गया हो, कालान्तर में वह उस आधार से भ्रष्ट हो समताहीन और समन्वय शून्य हो जाता है। स्थापना का आधार समाप्त हो जाने पर भी प्रथाओं का पालन करने से कैसी हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो सकती है, यह हमें इस उदाहरण से स्पष्ट होता है, कि संसद में एक नगर, जो वीरान हो चुका है और जहाँ घर के नाम से भेड़ों का एक बेड़ा और निवासियों के नाम पर एक चरवाहा शेष रह गया है, केवल अपने नाम के कारण उतने ही प्रतिनिधि निर्वाचित करता है जितने एक घना आबाद और धन सम्पन्न क्षेत्र। इस पर विदेशियों को आश्चर्य होता है और सब स्वीकार करते हैं कि इसमें संशोधन की आवश्यकता है। परन्तु अधिकांश को इसमें कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि व्यवस्थापक सत्ता का संविधान समाज का सर्वप्रथम और सर्वोच्च विधान माना जाता है और सब निश्चित विधानों से पूर्ववर्त्ती होता है और चूंकि वह सम्पूर्ण समाज पर निर्भर होता है, अतः कोई अवर सत्ता उसमें परिवर्त्तन नहीं कर सकती। अतः ऐसे शासन में व्यवस्थापक सत्ता के संगठित होने के बाद, जब तक शासन स्थापित रहे, तब तक जनता को कुछ करने का अधिकार नहीं होता। अतः इस असुविधा का कोई उपचार समझ में नहीं आता।

१५८. जनता का आदेश सर्वोच्च विधान है, यह निःसन्देह ऐसा न्याय सम्मत और मौलिक सिद्धान्त है कि जो भी सच्चाई से इसका पालन करता है, वह कभी भयानक भूल नहीं कर सकता। अतः यदि कार्यकारिणी, जिसे व्यवस्थापक सत्ता के समाह्वान का अधिकार प्राप्त हो, प्रचलित प्रतिनिधित्व की प्रणाली के स्थान पर प्रतिनिधित्व के सच्चे अनुपात का अनुसरण करे और प्राचीन परम्परा का पालन न करते हुए, न्यायपूर्ण विवेक के आधार पर स्पष्ट प्रतिनिधित्व के ऐसे अधिकार से सम्पन्न सब स्थानों से उनके सदस्यों की संख्या निश्चित करे, जिसका दावा जनता का कोई भाग जनहित में अपने अनुदाय के आधार पर ही कर सकता है, तो इस कारण नयी व्यवस्थापिका की स्थापना नहीं मानी जायगी, वरन् इसे प्राचीन और सच्ची सत्ता की पुनःस्थापना कहा जायगा वह कालान्तर की अगोचर और अनिवार्य रूप से होने वाली अव्यवस्था का परिशोधन मात्र है। चूँकि जनता का उद्देश्य न्यायपूर्ण और समान प्रतिनिधित्व था और इसी में उसका हित था, अतः जो इस लक्ष्य की निकटतम प्राप्ति का प्रयास करे, वह निःसन्देह शासन के संस्थापकों का मित्र होगा और उसे अवश्य ही जनता की सहमति और प्रशंसा प्राप्त होगी। विशेषाधिकार द्वारा राजा को ऐसी सत्ता सौंपी जाती है जिससे वह ऐसी परिस्थिति में जनहित के वह कार्य कर सके, जो अज्ञात और अनिश्चित कारणों से निश्चित और अपरिवर्त्तनशील विधानों द्वारा सम्भव न हों। स्पष्टतया जनहित के लिए और शासन के सच्चे आधार को स्थापित करने के लिए किया गया कार्य न्यायपूर्ण विशेषाधिकार है और सदैव माना जायगा। नये नगरों की स्थापना और उनकी स्थापना के फलस्वरूप, नये प्रतिनिधियों की व्यवस्था के साथ, कालान्तर में, प्रतिनिधित्व के आधार में परिवर्त्तन की सम्भावना सदा रहती है और जिन्हें पहले प्रतिनिधित्व का अधिकार नहीं था, उन्हें बाद में ऐसा अधिकार देना न्यायपूर्ण हो सकता है। इसी तर्क से जिन्हें पहले यह अधिकार प्राप्त था, वह इसके लिए अयोग्य हो सकते हैं। अवनति और भ्रष्टाचार से प्रभावित प्रचलित स्थिति के सुधार से शासन को क्षति नहीं होगी। वर्तमान स्थिति से जनता को हानि होगी और ऐसे अत्याचार की ओर प्रवृत्ति होगी जहाँ जनता का एक भाग या एक दल अपने स्वार्थ के लिए सब पर अत्याचार करता है। समाज के हित में जो कुछ भी किया जाय वह सदैव न्यायपूर्ण माना जायगा। जब कभी जनता अपने प्रतिनिधि ऐसे न्यायपूर्ण और स्थायी आधारों पर चुनेगी, जो शासन के मूल संविधान के अनुकूल होंगे तो इसके लिए उन्हें चाहे जिसने अनुमति या सुझाव दिया हो, उसे निःसन्देह समाज की इच्छा और कार्य ही माना जायगा।

अध्याय १४

विशेषाधिकार

१५९. जहाँ कहीं व्यवस्थापक और कार्यकारिणी सत्ता अलग-अलग व्यक्तियों के हाथ में होती है, जैसा सब सीमित राजतन्त्रों और सुसंगठित शासनों में होता है, वहाँ जनहित के लिए यह आवश्यक होता है कि अनेक विषय कार्यकारिणी सत्ता के विवेक पर छोड़ दिये जायँ। व्यवस्थापक भविष्यदर्शी नहीं होते, अतः, वे विधानों द्वारा जनता के लिए सभी आवश्यक नियमों की व्यवस्था नहीं कर सकते। उन अनेकों मामलों में, जिनपर राजकीय विधान का कोई निर्देश न हो, और जब तक उसकी व्यवस्था के लिए व्यवस्थापक सत्ता का सुविधानुसार अधिवेशन न बुलाया जा सके, तब तक विधानों को कार्यान्वित करनेवाली शक्ति को, प्रकृति के सामान्य नियम के आधार पर, यह अधिकार होता है कि वह सत्ता का जनहित में प्रयोग करे। बहुत-से ऐसे विषय हैं जिनकी व्यवस्था विधानों द्वारा सम्भव नहीं है, और उन्हें कार्यकारिणी के विवेक पर, यथावश्यकता, जनता के हित और लाभ के लिए प्रयोग करने के लिए, छोड़ना अनिवार्य होता है। कुछ मामलों में स्वयं विधानों पर भी कार्यकारिणी का प्रभाव आवश्यक है, अर्थात् समाज के विधान, प्रकृति और शासन के इस आधार भूत नियम से प्रभावित हो कि समाज के सब सदस्यों की यथासम्भव रक्षा हो। ऐसी कई परिस्थितियाँ हो सकती हैं जहाँ विधानों का कठोर और अक्षरक्षः पालन हानिप्रद होता है जैसे, पड़ोसियों के घर में आग लग जाने पर निर्दोष व्यक्ति का घर गिराना। कभी-कभी कोई व्यक्ति किसी कार्य के फलस्वरूप, जिसके लिए उसे पारितोषिक और क्षमा मिलनी चाहिए, विधान के चंगुल में फँस जाता है क्योंकि विधान की दृष्टि में सब व्यक्ति समान हैं। यह उचित है कि शासक को कई मामलों में विधान की कठोरता को कम करने तथा अपराधियों को क्षमा करने का अधिकार हो, क्योंकि शासन का उद्देश्य, यथासम्भव, व्यक्तियों की जीवन रक्षा है, और यदि निर्दोषों की हानि न होती हो, तो अपराधियों की भी जीवन रक्षा होनी चाहिए।

१६०. जनहित के लिए, अपने विवेक के अनुसार, विधान की अनुमति के बिना और कभी-कभी विधान के प्रतिकूल भी कार्य करने के अधिकार को ही विशेषाधिकार

कहते हैं। चूँकि कुछ शासनों में व्यवस्थापिका सदैव सन्नासन्न नहीं होती, और साधारणतया उसमें इतने अधिक व्यक्ति होते हैं कि शासन की दृष्टि से उसका कार्य बड़ी मन्द गति से होता है; और चूँकि भविष्य का ज्ञान असम्भव होता है, जनता से सम्बन्धित सब परिस्थितियों और आवश्यकताओं की व्यवस्था विधानों द्वारा नहीं हो सकती और ऐसे विधान नहीं बनाये जा सकते जिनके सब अवसरों और सब व्यक्तियों पर अपरिवर्त्तनशील कठोरता के साथ कार्यान्वित करने से कोई हानि न हो; इसलिए. कार्यकारिणी को कई मामलों में अपने विवेकानुसार कार्य करने का अधिकार होता है जिसकी व्यवस्था विधानों में नहीं होती।

१६१. यह सत्ता विशेषाधिकार है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि इसका प्रयोग जनहित के लिए और शासन के उद्देश्य के अनुकूल ही किया जाय, तो इस पर आपत्ति नहीं हो सकती। जब तक इस विशेषाधिकार का प्रयोग स्वल्प मात्रा में भी, केवल जनहित के लिए किया जाता है और स्पष्टतया जनता के हित के प्रतिकूल नहीं किया जाता, तब तक जनता कदाचित ही कभी इस पर आपत्ति करती है। विशेषाधिकार के किसी दावे पर यदि कार्यकारिणी और जनता में मतवैभिन्य हो, तो निर्णय इसी आधार पर होगा कि अधिकार का दावा जनहित में है या नहीं।

१६२. यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि शासनों के आदि काल में परिवार और राजनीतिक समाज में भिन्नता प्रायः नहीं थी और जनसंख्या तथा विधानों की संख्या दोनों में प्रायः समान थी। शासक अपनी प्रजा पर पिताओं की तरह, उसके हित को ध्यान में रखते हुए, शासन करते थे और शासन के प्रायः समस्त अधिकार विशेषाधिकार थे। थोड़े से स्थायी विधानों से कार्य पूरा हो जाता था और शेष सब राजा के विवेक और जनहित की चिन्ता पर छोड़ दिया जाता था। परन्तु जब दुर्बल राजा अविवेक या चाटुकारिता से प्रभावित होकर इस सत्ता का प्रयोग अपने वैयक्तिक हित के लिए करने लगा, जनहित के लिए नहीं; तब जनता ने निश्चित विधानों द्वारा उन विषयों पर विशेषाधिकार सीमित कर दिया जिनसे उसका अहित होता था और उन विशेषाधिकारों को मर्यादित कर दिया जिन्हें उसके पूर्वजों ने उन राजाओं के विवेक पर पूर्णतया छोड़ दिया था जो उनका उचित, अर्थात् जनहित में प्रयोग करते थे।

१६३. अतः जो व्यक्ति जनता द्वारा किसी भी विशेषाधिकार को निश्चित विधानों द्वारा मर्यादित करने को जनता द्वारा विशेषाधिकार पर अतिक्रमण कहते हैं, वे शासन की प्रकृति को नहीं समझते। जनता विशेषाधिकार को मर्यादित कर शासक के कोई ऐसे अधिकार कम नहीं करती जो शासक को स्वतः प्राप्त थे; जनता केवल यही घोषित

करती है कि जो अनिश्चित सत्ता उसने शासक या शासक के पूर्वजों को सौंपी थी, वह केवल जनहित में प्रयोग के लिए थी और उसका उद्देश्य यह नहीं था कि शासक जनहित के विपरीत उसका प्रयोग करें। चूँकि शासन का उद्देश्य समाज का हित है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिवर्तनों से किसी के अधिकार पर अतिक्रमण नहीं होता, क्योंकि शासन में किसी को किसी अन्य उद्देश्य के लिए, कोई अधिकार नहीं हो सकता। अतिक्रमण केवल वही माना जा सकता है जो जनहित के विपरीत हो और जन-हित में बाधक हो। इस मत के विपरीत विचारवाले ऐसा कहते हैं मानो शासक का हित जनता के हित से भिन्न और पृथक हो और शासन जनता के लिये न हो। यही मत उन सब दोषों और अव्यवस्थाओं का मूल कारण है जो राजतान्त्रिक शासन में पायी जाती हैं। यदि उनका मत वास्तव में उचित होता तो राजतन्त्र की प्रजा को ऐसे विवेक-सम्पन्न व्यक्तियों का समाज न कहा जा सकता जो पारस्परिक हित के लिए समाज का निर्माण करें और जो अपने ऊपर ऐसे स्वतंत्र शासक नियुक्त करे जो उनके हित की रक्षा करें और उसमें सहायक हों। ऐसी प्रजा तो स्वामी के अधीन, निम्न कोटि के जीवों के समूह के सदृश मानी जायगी जो उसे अपने स्वार्थ और सुख के लिए रखता है और परिश्रम कराता है। यदि मनुष्य इतने विवेकशून्य और पशुवत् होते जो ऐसी शर्तों पर समाज में प्रवेश करते, तो शायद विशेषाधिकार भी ऐसा ही होता जैसा कुछ व्यक्ति उसको चाहते हैं—विशेषाधिकार ऐसी स्वेच्छाचारी सत्ता होती जिसे जनता की हानि करने का अधिकार होता।

१६४. हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि स्वतन्त्र अवस्था में विवेक सम्पन्न, व्यक्ति खुद अपनी ही हानि के लिए अन्य के अधीन होना चाहेंगे (यद्यपि जहाँ उन्हें अच्छे और कुशल शासक उपलब्ध होंगे, वहाँ शायद वे उसकी सत्ता में निश्चित सीमा निर्धारित करना आवश्यक या उपयोगी न समझें), अतः विशेषाधिकार केवल जनता द्वारा शासक को दिया गया अधिकार है, जिसके बल पर शासक अपनी व्यक्तिगत इच्छानुसार जनहित में ऐसे कार्य कर सकता है जिन पर विधि मौन हो। वह कभी-कभी जनहित के लिए विधान के स्पष्ट शब्दों के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है, और जनता उसके ऐसे कार्य स्वीकार करने के लिए बाध्य है। अच्छे शासक के लिए, जो जनता के विश्वास का ध्यान रखता हो और जनता के हित के लिए सावधान रहता हो, विशेषा-धिकार—अर्थात् जनता के हित में सत्ता—कभी अत्यधिक नहीं हो सकती। इसी तरह, निर्बल और दुष्ट शासक, जो अपने पूर्वजों की इस सत्ता का, अपने पद के विशेषाधिकार के रूप में दावा करे जिसका प्रयोग वह अपने स्वेच्छानुसार जनता के हित से भिन्न,

स्वार्थ साधन के लिए करे, तो वह जनता को अपने अधिकार का प्रयोग करके उस सत्ता को सीमित करने का अवसर देता है। जबतक इस विशेषाधिकार का जनहित में प्रयोग होता था, तब तक जनता की इसके लिए मौन सम्मति थी।

१६५. इंग्लैण्ड के इतिहास के ज्ञाता को विदित होगा कि वहाँ के सबसे बुद्धिमान् और योग्य राजाओं को ही सबसे अधिक मात्रा में विशेषाधिकार प्राप्त थे, क्योंकि, जनता को उनके सब कार्यों में जनहित की प्रवृति दिखलाई देती थी। यदि किसी मानवीय दुर्बलता या भ्रान्ति के कारण (क्योंकि राजा भी सबकी तरह मनुष्य ही होते हैं) वे कुछ मात्रा में जनहित के प्रतिकूल भी कार्य करते थे, तो भी, मुख्यतया उनके आचरण की प्रवृति जनहित में ही प्रकट होती थी। चूँकि जनता को इन राजाओं से सन्तुष्ट होने का कारण था, अतः जब कभी उन्होंने लिखित विधान की अनुमति के बिना, या उसके विपरीत कार्य किया, तो जनता ने उसको स्वीकार किया और बिना किसी प्रकार की शिकायत के, उनको अपनी इच्छानुसार अपने विशेषाधिकारों में विस्तार करने दिया। जनता ने यह ठीक ही अनुभव किया कि इससे राजा विधानों के प्रतिकूल कुछ नहीं कर रहे हैं क्योंकि राजा सब विधानों के मूल आधार और उद्देश्य के अनुकूल ही अर्थात् जनता के हित के लिए—कार्य करते थे।

१६६. वास्तव में ऐसे देव सदृश राजाओं को उसी तर्क पर स्वेच्छाचारी सत्ता का कुछ अधिकार हो सकता था जो यह प्रस्तुत करता है कि राजतन्त्र ही सर्वोच्च शासन प्रणाली है और इसी प्रणाली से स्वयं परमेश्वर विश्व पर शासन करता है क्योंकि ऐसे राजाओं में परमेश्वर की सर्वज्ञता और कल्याण का अंश होता था। इसी पर यह कथन आधारित है, "अच्छे शासको के शासन काल ही, उनकी जनता की स्वतन्त्रता के लिए सबसे अधिक आशंकापूर्ण रहे हैं, "क्योंकि उनके उत्तराधिकारी, जो शासन का विभिन्न उद्देश्यों से संचालन करते हैं, इन अच्छे राजाओं की सत्ता को पूर्वोदाहरण मानकर उन्हें अपने विशेषाधिकारों का आधार बना लेते हैं, मानो जो कुछ केवल जनता के हित के लिए किया गया था, उससे उन्हें—यदि वे चाहे—जनता का अहित करने का भी अधिकार प्राप्त हो जाता है। इससे बहुधा प्रतिवाद के, और कभी-कभी जनता के विरोध के वे अवसर आये हैं, जिनके द्वारा जनता अपने मूल अधिकारों को पुनः प्राप्त कर सकीं है और विशेषाधिकारों के विशेषाधिकार न होने की घोषणा कर सकी है, जैसा वे वास्तव में नहीं थे। यह असम्भव है कि समाज में किसी को भी जनता का अहित करने का अधिकार प्राप्त हो, यद्यपि यह बहुत सम्भव और युक्तिसंगत है कि जनता उन राजाओं और शासकों के विशेषाधिकारों को सीमित करने का प्रयास न करे जो स्वयं

ही जनहित के विरुद्ध कार्य नहीं करते, क्योंकि "विशेषाधिकार, नियम के अभाव में, जनहित करने की सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

१६७. इंग्लैण्ड में राजा को संसद का समाह्वान करने का, उसका समय-स्थान और अवधि निर्धारित करने का, विशेषाधिकार निश्चय ही प्राप्त है, परन्तु, यह विशेषाधिकार इस विश्वास पर आधारित है कि इसका उपयोग सदैव राष्ट्र के हित में, समय और अवसर की परिवर्त्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार किया जायगा। यह पहले से भविष्य के लिए निर्धारित करना असम्भव था कि उसकी बैठकों का सबसे उपयुक्त स्थान और सबसे उचित समय कौन-सा होगा। अतः जनता के हित और संसद के उद्देश्य के अविरुद्ध एतद्विषयक निर्णय, उसी कार्यकारिणी की इच्छा पर छोड़ दिया गया।

१६८. विशेषाधिकार से सम्बन्धित यह पुराना प्रश्न आप पूछेंगे, "इसका कौन निर्णय करे कि इस सत्ता का उचित प्रयोग हो रहा है या नहीं ?" मेरा उत्तर यह है— ऐसी विशेषाधिकार सम्पन्न कार्यकारिणी, और अपने अधिवेशनों के लिए कार्यकारिणी की इच्छा पर निर्भर व्यवस्थापिका के मध्य इस पृथ्वी पर कोई निर्णायक नहीं हो सकता, उसी प्रकार, जिस प्रकार व्यवस्थापिका सत्ता और जनता के मध्य कोई निर्णायक नहीं हो सकता। यदि कार्यकारिणी या व्यवस्थापिका सत्ता, सत्तारूढ़ होने पर जनता को दास बनाना या नष्ट करना आरम्भ कर दे या अनिष्ट करने की योजना बनाये, तो जनता को इसके लिए केवल परमेश्वर से अपील करने के अतिरिक्त और कोई चारा उपलब्ध नही है जैसा उन सब अन्य मामलों में होता है जिनमें संसार का अन्य कोई न्यायकर्त्ता उन्हें उपलब्ध नहीं होता। अनिष्ट के प्रयास में राजा अपनी सत्ता का प्रयोग अनधिकृत रूप से करता है। जनता ने ही यह सत्ता उसे सौंपी है, और यह नहीं माना जा सकता कि जनता कभी इससे सहमत होगी कि उसके अनिष्ट के लिए उस पर शासन किया जाय। जहाँ कुछ व्यक्तियों के समूह को, या किसी एक व्यक्ति को अधिकारों से वंचित किया जाता है, या वे ऐसी सत्ता के अधीन होते हैं जिसे उस सत्ता का अधिकार न हो तो संसार में वे किसी से अपील नहीं कर सकने पर, पर्याप्त महत्व का कारण होने पर, वे परमेश्वर से अपील कर सकते हैं। यद्यपि जनता निर्णायक नहीं हो सकती और समाज के संविधान द्वारा उसे ऐसी श्रेष्ठ सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती, जिससे वह ऐसे मामलों में निर्णय करे और उचित दण्ड दे; फिर भी, उसमें उस अंतिम निर्णय की सत्ता विद्यमान रहती है जो समस्त मानवजाति को संसार में, और कोई अपील करने की सत्ता उपलब्ध न होने पर, प्राप्त होती है, और जो समस्त मानवीय विधानों से पूर्ववर्त्ती, और श्रेष्ठ विधान पर आधारित है और जिसके द्वारा वे, न्यायपूर्ण कारण होने पर परमेश्वर से

अपील कर सकते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयं को अन्य के इस प्रकार अधीन नहीं बना सकता कि उसे उसको विनष्ट करने का भी अधिकार मिल जाय वैसे ही यह निर्णय करने की सत्ता जनता से नहीं छीनी जा सकती। परमेश्वर और प्रकृति कभी मनुष्य को, अपनी जीवन रक्षा की अवहेलना करने की अनुमति नहीं देते। चूँकि मनुष्य अपना जीवन स्वयं नष्ट नहीं कर सकता, अतः वह दूसरे को भी ऐसा अधिकार नहीं दे सकता। इससे कोई यह न समझे कि इसके कारण चिरस्थायी अव्यवस्था की नींव पड़ेगी। क्योंकि इसका प्रवर्त्तन तभी होता है जब असुविधाओं की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि बहुमत उसका अनुभव करता है और उससे परेशान होकर उसमें परिवर्तन आवश्यक समझता है। कार्यकारिणी को और बुद्धिमान् राजाओं को इसकी कभी आशंका नहीं हो सकती। परन्तु अन्य कोटि के शासकों को इससे सबसे अधिक आशंका होती है क्योंकि उन्हीं के लिए यह सबसे खतरनाक है।

अध्याय १५

पितृत्व, राजनीतिक और निरंकुश सत्ताओं की विवेचना

१६९. यद्यपि मैं इनके विषय में अलग-अलग पहले कुछ कह चुका हूँ, परन्तु मेरे विचार से, हाल में शासन के विषय में कई बड़ी त्रुटियाँ इन विभिन्न सत्ताओं के विषय में भ्रम के कारण हुई हैं। अतः यहाँ उन पर सम्मिलित रूप से विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

१७०. जब तक सन्तान को विवेक या ऐसा ज्ञान प्राप्त न हो जाय जिससे वे अपने ऊपर शासन करनेवाले विधान को उसी भाँति समझने योग्य हो जाँय, जिस भाँति उस विधान के अधीन अन्य स्वतन्त्र व्यक्ति—चाहे वह प्राकृतिक विधान हो या देश का राजकीय विधान—तब तक माता-पिता की अपनी सन्तान के हित के लिए, सन्तान पर शासन करने की सत्ता पितृत्व की सत्ता है। परमेश्वर ने माता-पिता के हृदय में जो प्रेम और वात्सल्य की भावना रची है, उससे यह स्पष्ट है कि यह सत्ता कठोर, स्वेच्छाचारी शासन के लिए नहीं, वरन् केवल सन्तान की सहायता, शिक्षा और जीवन रक्षा के लिए प्राप्त होती है। परन्तु, जैसा भी हो, मैं प्रमाणित कर चुका हूँ कि यद्यपि माता-पिता से जीवन और शिक्षा प्राप्त करने पर सन्तान आजीवन अपने माता-पिता के आदर, सम्मान, कृतज्ञता और सहायता के लिए बाध्य होती हैं, परन्तु, इसके कारण किसी भी समय पिता को सन्तान के जीवन और मृत्यु पर अधिकार प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जैसे अन्य के जीवन और मृत्यु पर नहीं होता, या सन्तान के बड़े होने और पूर्ण विवेक प्राप्त कर लेने पर उसे माता-पिता की इच्छा के अधीन नहीं रखा जा सकता। अतः यह सच है कि पितृत्व की सत्ता, शासन की प्राकृतिक सत्ता है, परन्तु उसका उद्देश्य और अधिकार क्षेत्र राजनीतिक शासन के क्षेत्र तक नहीं पहुँचता। पिता को सन्तान की सम्पत्ति पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता, उसकी व्यवस्था केवल स्वयं सन्तान ही कर सकती है।

१७१. राजनीतिक सत्ता वह सत्ता है, जो प्रकृति की अवस्था में सब मनुष्यों ने समाज को, और इस प्रकार, शासकों को सौंपी है। इन शासकों को समाज ने इस प्रकट या मौन विश्वास के साथ अपने ऊपर स्थापित किया है कि इसका प्रयोग समाज के हित और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए होगा। इस सत्ता का अभिप्राय जो नैसर्गिक

अवस्था मे प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त थी, और जिसे उन सब विषयो मे, जिनमे समाज द्वारा उसकी सुरक्षा सम्भव है, वह त्याग कर समाज को सौप देता है—उन सब साधनो का प्रयोग करना है जिससे उसकी निजी सम्पत्ति की ऐसी सुरक्षा हो सके जो उसके उद्देश्यानुसार उचित है और प्रकृति भी जिसकी अनुमति देती है, इसके अतिरिक्त उसका अभिप्राय प्राकृत विधान का उल्लघन करनेवालो को दण्ड देना भी है जिससे (उसके विवेक के अनुसार) सर्वोचित रूप मे उसकी तथा शेष मानव जाति की जीवन रक्षा सम्भव हो। जब प्राकृत अवस्था मे यह सत्ता प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त थी, तब इसका उद्देश्य और परिमाण समस्त मानवजाति के जीवन की सामान्य रूप से रक्षा करना था। अत राजकीय अधिकारियो के हाथ मे भी इसका और कोई उद्देश्य नही हो सकता और यह सत्ता उतनी ही हो सकती है जितनी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हो। यह उद्देश्य उस समाज के सदस्यो के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा ही हो सकता है। अत इस सत्ता को उन लोगो के जीवन और सम्पत्ति पर, जिनकी यथासम्भव सुरक्षा अपेक्षित है, निरकुश स्वेच्छाचारी अधिकार नही दिया जा सकता, वरन् यह सत्ता तो विधान बनाने और उन विधानो के उल्लघनो को ऐसे दण्डित करने की सत्ता ही हो सकती है जिससे उन दूषित अगो का विच्छेद करके—जो स्वस्थ अगो के लिए आशका-जनक हो गये हो—सम्पूर्ण समाज की जीवन रक्षा हो सके। ऐसे कारणो के अभाव मे किसी प्रकार का दण्ड वैधानिक नही माना जा सकता। इस सत्ता का एकमात्र मूल आधार समाज के सदस्यो का पारस्परिक अनुबन्ध या सहमति ही हो सकता है।

१७२ निरकुश सत्ता एक व्यक्ति की अन्य व्यक्तियो पर असीमित स्वेच्छा-चारी सत्ता होती है। वह अपने इच्छानुसार उनका जीवन हरण भी कर सकता है। यह सत्ता न तो प्रकृति द्वारा प्राप्त होती है—क्योकि प्रकृति ने सब मनुष्यो को समान बनाया है—और न अनुबन्ध द्वारा प्राप्त होती है। चूंकि मनुष्य को स्वय अपने जीवन पर ऐसी स्वेच्छाचारी सत्ता प्राप्त नही है, अत वह दूसरे व्यक्ति को स्वय पर ऐसी सत्ता प्रदान नही कर सकता। दूसरे व्यक्ति के प्रति अपने को युद्ध की अवस्था में रखने के परिणाम स्वरूप केवल अतिक्रामक अपने जीवन के अधिकार से हाथ धो लेता है। मनुष्यो के परस्पर सम्बन्धो के सचालन के लिए परमेश्वर द्वारा प्रदान किये हुए विवेक, और उस विवेक के सिखाये हुए शान्तिपूर्ण व्यवहार को त्यागकर, अपने अन्यायपूर्ण उद्देश्यो की पूर्ति के लिए, दूसरे पर बल-प्रयोग करने के कारण, वह व्यक्ति प्रतिद्वन्द्वी द्वारा अनिष्टकारी और हिंस्र पशुओ की भाँति नष्ट किये जाने योग्य हो जाता है। अत न्यायपूर्ण और वैधानिक युद्ध मे बनाये गये बन्दी ही केवल निरकुश सत्ता के अधीन

अध्याय १६

विजय

१७५ यद्यपि शासनो का मूल आधार केवल वही हो सकता है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है और राजनीतिक समाज जनता की सहमति के आधार पर ही स्थापित हो सकते है, परन्तु ससार मे महत्वाकाक्षा के कारण ऐसी अव्यवस्था हो गयी है कि युद्धो के कोलाहल मे, जिनसे मानवजाति का अधिकाश इतिहास भरा पडा है, इस सहमति की ओर ध्यान आकर्पित नही होता। अत भ्रम के कारण बहुत-से लोग बल को जनता की सहमति और विजय को शासन का मूल आधार समझते है। परन्तु विजय और शासन की स्थापना मे उतनी ही भिन्नता है जितनी एक घर को गिराकर उसके स्थान पर नये घर के निर्माण मे है। यह सच है कि पुराने राज्य को नष्ट करने मे नये शासन की स्थापना का अवसर उपस्थित होता है, परन्तु, जनता की सहमति के बिना, नये शासन की स्थापना कदापि नही हो सकती।

१७६ युद्ध की घोषणा करनेवाला आक्रामक अपने को प्रतिद्वन्द्वी के प्रति युद्ध की स्थिति मे डाल देता है और दूसरे के अधिकार पर आक्रमण करता है। ऐसे अन्याय-पूर्ण युद्ध मे उसे विजित के ऊपर अधिकार प्राप्त नही होता, इसे कोई अस्वीकार नही करेगा, अन्यथा यह भी स्वीकार करना पडेगा कि डाकू या समुद्री डाकू जिस किसी को भी अपने बल द्वारा अपने वश मे कर सके, उस पर उसे शासन का अधिकार प्राप्त हो जाता है, या, अन्यायपूर्ण बल पर आधारित प्रतिज्ञा से मनुष्य बाधित होते है। यदि कोई डाकू बलात मेरे घर मे घुस आये और मुझे छुरा दिखला कर मुझसे मेरी समस्त सम्पत्ति अपने लिए लिखवा ले, तो क्या इससे उसे मेरी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हो जायगा ? बलात् मुझे अपने अधीन बनानेवाले अन्यायपूर्ण विजेता का अधिकार भी इसी भाँति तलवार के बल पर प्राप्त होता है। चाहे राजा हो या तुच्छ अपराधी, दोनों का अपराध समान है। अपराधी का पद और उसके अनुगामियो की सख्या से अपराध की प्रकृति मे कोई अन्तर नही पडता, चाहे इससे अपराध की गुरुता बढ भले ही जाय। अन्तर केवल इतना ही होता है कि बडे डाकू, छोटे डाकुओ को दण्ड देकर आज्ञापालन करा सकते है, परन्तु बडे डाकुओ का मालाओ और जुलूसो के साथ सत्कार किया जाता है, क्योंकि उनका न्याय करने के लिए ससार मे उनसे अधिक शक्तिशाली कोई नही

होता और उनके पास विरोधियों को दण्डित करने के लिए पर्याप्त बल होता है। मेरे घर में जबरदस्ती घुस आनेवाले डाकू से मेरा कैसे उपचार होगा? न्याय के लिए विधान को अपील करने से। परन्तु, सम्भव है, मुझे न्याय प्राप्त न हो, या मैं घायल हो जाने के कारण कुछ न कर पाऊँ या लुट जाने के कारण मेरे पास न्याय प्राप्त करने के साधन न बचें। यदि परमेश्वर ने इसके उपचार के सब साधन छीन लिये हों, तो मेरे पास धैर्य धारण करने के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता। परन्तु हो सकता है कि मेरा पुत्र योग्य हो जाने पर न्याय प्राप्त कर सके, जिससे मैं वंचित रहा। वह या उसका पुत्र पुनः अपील करके अपना अधिकार फिर से प्राप्त कर सकता है। परन्तु विजित या उनकी सन्तान के लिए संसार में कोई न्यायालय या कोई मध्यस्थ नहीं है जिससे वे अपील कर सकें। जबतक उन्हें अपने पूर्वजों का वंशागत मूल अधिकार पुनः प्राप्त न हो जाय, तब तक वे, जेफथा की तरह, परमेश्वर से ही बारम्बार अपील कर सकते हैं कि उनका मूल अधिकार उन्हें पुनः प्राप्त हो, अर्थात् उनके ऊपर ऐसी व्यवस्थापक सत्ता स्थापित हो जिसका बहुमत अनुमोदन कर सके और जिसे मौन सहमति प्रदान कर सके। यदि इस पर यह आपत्ति उठायी जाय कि इससे अनेकों परेशानियाँ खड़ी होंगी, तो मेरा उत्तर यह होगा कि जो न्याय सब अपील करनेवालों के लिए उपलब्ध होता है, उसमें भी कम परेशानियाँ नहीं होतीं। अकारण अपने पड़ोसी का अनिष्ट करनेवालों को वही न्यायालय दण्ड देता है जिसमें पड़ौसी अपील करे। परमेश्वर से अपील करने वाले को इसका निश्चय होना चाहिए कि सत्य उसी के पक्ष में है—ऐसा सत्य जो अपील की परेशानी उठाने लायक है, क्योंकि अपीलकर्ता ऐसे न्यायाधीश के सम्मुख उत्तरदायी होगा जिसे धोखा नहीं दिया जा सकता और जो प्रत्येक को मानव जाति के प्रति अपराध के अनुसार निश्चय दण्ड देता है। इसमें यह स्पष्ट है कि अन्यायपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले को विजित की अधीनता और आज्ञापालन प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता।

१७७. मान लीजिए, न्याय पक्ष की विजय हो, तो हम विचार करें कि वैधानिक युद्ध में विजेता को क्या अधिकार प्राप्त होंगे और किस पर प्राप्त होंगे?

प्रथम, यह स्पष्ट है कि उसे विजय के फलस्वरूप अपने साथ देनेवालों के ऊपर कोई अधिकार प्राप्त न होगा। युद्ध में उसकी सहायता करनेवालों की विजय से हानि नहीं हो सकती और वे पहले की भाँति ही स्वतन्त्र बने रहेंगे। वे प्रायः इसी शर्त पर अपने नेता का साथ देते हैं कि विजय की लूट और अन्य लाभों में उनका भी भाग हो, या, कम-से-कम, पराजित देश का कुछ अंश उन्हें प्रदान किया जाय। अतः विजय

पक्ष के व्यक्ति, विजय के बाद दास नही बनाये जा सकते मानो वे इस विजय के परिणाम-स्वरूप अपने नेता की सफलता के लिए बलिदान हो। तलवार के आधार पर निरकुश राजतन्त्र की स्थापना का जो समर्थन करते है और अपने नायक को निरकुश राजतन्त्र का सस्थापक मानते है, यह भूल जाते है कि ऐसे नायक के अपने अफसर थे, सैनिक थे, वे उसके पक्ष मे लडे, लडाइयॉ जीती, विजित देश के शमन मे उसे सहायता दी, और विजित देश की सम्पत्ति मे उनका भी भाग था। हमसे कहा जाता है कि इग्लैण्ड के राजतन्त्र का आधार नॉरमन विजय है और उसके कारण हमारे राजाओ को निरकुश आधिपत्य प्राप्त है। यदि यह सच है (यद्यपि, इतिहास का साक्ष्य इसके विपरीत है) और यदि विलियम को इस देश से युद्ध करने का अधिकार था, तो भी उसका आधिपत्य केवल सैक्सन और ब्रिटन जातियो पर ही हो सकता था जो उस समय इस देश में निवास करती थी। उसके साथ आनेवाले, और विजय मे उसका साथ देनेवाले नॉरमन व्यक्ति और उनके वशज पराधीन नही माने जा सकते और विजेता को जो भी अधिकार प्राप्त हुआ हो, वे स्वतन्त्र ही बने रहेगे। यदि मै, या कोई अन्य व्यक्ति, उनका वशज होने के कारण स्वतन्त्रता का दावा करे तो इस दावे के विरुद्ध प्रमाण देना बहुत कठिन होगा। स्पष्ट है कि जहाँ विधान की दृष्टि में सब नागरिक समान होते है, वहॉ उनकी स्वतन्त्रता और विशेषाधिकारो मे भेद नही माना जा सकता।

१७८ मान लीजिए, यद्यपि ऐसा कदाचित ही कभी होता है, कि विजेता और विजित और विजित जाति मिल कर एक ही समाज का निर्माण न करे, जिन्हें समान विधान और समान अधिकार उपलब्ध हो, तो वैधानिक विजेता की परास्त जाति के ऊपर क्या सत्ता होगी ? मेरा मत है कि उसकी सत्ता पूर्ण रूप से निरकुश सत्ता होगी। उसे ऐसे व्यक्तियो के जीवन पर निरकुश सत्ता प्राप्त होगी जिन्होने अन्यायपूर्ण युद्ध द्वारा अपना अधिकार खो दिया है। परन्तु युद्ध मे सक्रिय भाग लेनेवालो के जीवन और सम्पत्ति पर, और युद्ध मे सक्रिय भाग लेनेवालो की सप्पत्ति पर उसे कोई अधिकार नही मिलता।

१७९ दूसरे, मेरा मत है कि विजेता को केवल उन्ही पर सत्ता प्राप्त होती है जिन्होने उसके विरुद्ध अन्यायपूर्ण युद्ध में सक्रिय भाग लिया हो, सहायता की हो या सहमत रहे हो। चूँकि जनता अपने शासको को अन्यायपूर्ण युद्ध आदि अन्यायपूर्ण कार्य करने के लिए कोई सत्ता प्रदान नही करती, चूँकि शासको को स्वय भी ऐसी कोई सत्ता प्राप्त नही होती, अत इसमे सक्रिय सहायता देने वालो के अतिरिक्त, शेष को अन्यायपूर्ण युद्ध की हिसा और अन्याय के लिए दोषी नही ठहराया जा सकता, जैसे शासको द्वारा प्रजा पर अत्याचार और हिसा के लिए जनता पर दोषारोपण नही

किया जा सकता, क्योंकि जनता शासकों को ऐसी कोई सत्ता प्रदान नहीं करती। यह सच है, विजेता शायद ही कभी इस भिन्नता की ओर दृष्टिपात करते हैं और युद्ध की ओट में सबके साथ एक-सा व्यवहार करते है, परन्तु इससे अधिकार में अन्तर नहीं होता। विजेता को विजित पर अधिकार प्राप्त होने का एकमात्र कारण उनका अन्याय के समर्थन में बल का प्रयोग है। अतः उसे केवल ऐसे बल का प्रयोग करनेवालों पर ही सत्ता प्राप्त हो सकती है, शेष सब निर्दोष माने जायेंगे। विजित देश के जिन व्यक्तियों ने उसकी कोई हानि नहीं की और जिसके कारण उन्होंने अपने जीवन पर अधिकार नहीं खोया उन पर विजेता को कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार अनिष्ट और उत्तेजना के, बिना, शान्ति से रहने वालों पर जिस प्रकार नहीं होती।

१८०. तीसरे, विजेता को न्यायपूर्ण युद्ध में परास्त व्यक्तियों के ऊपर पूर्णतया निरंकुश सत्ता प्राप्त होती है। जिन्होंने उसके प्रति युद्ध की अवस्था स्थापित करके स्वयं अपने को जीवन के अधिकार से वंचित कर दिया, उनके जीवन पर उसे निरंकुश सत्ता प्राप्त होती है। परन्तु इस आधार पर उसे उनकी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त नहीं होता। निःसन्देह प्रथम दृष्टि में यह मत आश्चर्यजनक प्रतीत होगा, क्योंकि यह मत संसार की प्रथाओं के नितान्त विपरीत है। साम्राज्यों के अधिकारान्तर्गत प्रदेशों के विषय में साधारणतः यही कहने का ढंग है कि उन्हें विजय किया गया था; मानो, विजयमात्र से ही उन्हें पूर्ण स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है, यद्यपि सामान्यतः विजेताओं के द्वारा विजितों की अधीनता की यह एक अनिवार्य शर्त निश्चित कर दी जाती है कि वे अपनी जीवन-स्थिति के विरुद्ध कोई विरोध प्रकट नहीं करेंगे तथापि यह निस्संदेह है कि शक्तिशाली तथा बलवानों का व्यवहार, कितना ही सार्वलौकिक क्यों न हो, कदाचित ही न्यायसंगत होता है।

१८१. यद्यपि, साधारणतया, प्रत्येक युद्ध में बल और क्षति का संमिश्रण रहता है और आक्रामक विरोधियों पर बल प्रयोग करते समय सदैव उनकी सम्पत्ति को भी हानि पहुँचाता है। फिर भी, अकेले बल का प्रयोग करने से ही एक व्यक्ति युद्ध की अवस्था को प्राप्त होता है। चाहे वह बल प्रयोग से अनिष्ट का सूत्रपात करे, या शन्तिपूर्वक कपट द्वारा अनिष्ट करके उसकी क्षतिपूर्ति करना अस्वीकार करे और बल द्वारा अपनी सत्ता स्थायी रखने की चेष्टा करे जो बलप्रयोग से अनिष्ट आरम्भ करने के बराबर ही हैं, युद्ध की स्थिति अन्यायपूर्ण बलप्रयोग से ही उत्पन्न होती है। मेरे घर में अनधिकार प्रवेश करके, मुझे बलात् बाहर निकाल देना, और शान्तिपूर्वक घर में प्रवेश कर मुझे बल द्वारा अन्दर न घुसने देना, एक ही बात है। मान लीजिए हम ऐसी स्थिति में हों कि

हमारे पास अपील करने के लिए इस पृथ्वी पर कोई सामान्य न्यायकर्त्ता न हो जिसकी अधीनता हम दोनो स्वीकार करने को बाध्य हो, क्योंकि मै इसी के सदृश स्थिति का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ। अत बल के अनधिकार प्रयोग से ही एक व्यक्ति दूसरे के प्रति युद्ध की अवस्था स्थापित करता है और ऐसा अपराध करनेवाला अपने जीवन का अधिकार खो देता है। मानव सम्बन्धो के नियत्रक विवेक को त्यागकर बल प्रयोग करनेवाला आक्रामक वन्य हिस्र पशु के समान होता है और पीडित व्यक्ति को उसे अनिष्टकारी जान कर नष्ट करने का अधिकार होता है।

१८२ पिता के दुष्कर्मों के लिए सन्तान को दोषी नही ठहराया जा सकता क्योकि यह सम्भव है कि पिता अत्याचारी और अन्यायी हो, परन्तु सन्तान विवेकसम्पन्न और शान्तिप्रिय हो। अत दुष्कर्मो और हिसा के फलस्वरूप केवल पिता ही अपने जीवन को आशका में डालता है और उसके अपराध मे उसकी सन्तान भागी नही होती। उसकी सम्पत्ति, जिसकी रचना प्रकृति मानव जाति की यथासम्भव जीवन रक्षा के लिए और सन्तान को विनष्ट होने से बचाने के लिए करती है, उसकी सन्तान को ही प्राप्त होगी। सन्तान ने शैशव या स्वेच्छावश युद्ध मे भाग नही लिया था। अत अपराध के अभाव मे उनके अधिकार बने रहेंगे। विजयी को केवल विजय के आधार पर उनकी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त नही हो जाता। जिसने विजयी का सामना कर युद्ध मे उसे नष्ट करने का प्रयास किया हो, उसकी सम्पत्ति पर विजयी को युद्ध में और अपने अधिकार की रक्षा मे हुई क्षति की पूर्ति के हेतु कुछ अधिकार होता है। इसके लिए उसे विजित की कितनी सम्पत्ति पर अधिकार मिलता है, इस पर हम आगे विचार करेंगे। अस्तु, जिसे विजय के कारण अपने प्रतिद्वन्द्वी के शरीर पर अधिकार प्राप्त होता है और जिसे वह इच्छानुसार नष्ट कर सकता है, उसे विजित की सम्पत्ति पर और उसके उपभोग का अधिकार नही मिलता। आक्रामक के पाशविक बल प्रयोग के कारण ही प्रतिरोधी को उसके अनिष्टकारी होने के कारण उसके जीवन को नष्ट करने का अधिकार मिलता है। परन्तु उसे दूसरे की सम्पत्ति पर अधिकार क्षति के आधार पर ही मिल सकता है। यद्यपि मै रास्ते मे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले डाकू की हत्या कर सकता हूँ, परन्तु मैं उसका धन लेकर उसे छोड नही सकता (जो कम दण्ड प्रतीत होता है)। डाकू की सम्पत्ति छीन कर डाकू को छोड देना डाका डालना माना जायगा। डाकू बल प्रयोग तथा युद्ध की अवस्था स्थापित करने के कारण, अपने जीवन का अधिकार खो देता है। परन्तु इससे मुझे उसकी सम्पत्ति पर कोई अधिकार प्राप्त नही होता। अत विजय का अधिकार केवल युद्ध में भाग लेनेवालो के जीवन पर ही होता है, उनकी सम्पत्ति

पर नहीं। केवल युद्ध द्वारा क्षति और व्यय की पूर्ति के लिए उनकी सम्पत्ति का कुछ अंश हस्तगत किया जा सकता है, परन्तु वह भी निर्दोष पत्नी और सन्तान के अधिकार की सुरक्षा के उपरान्त।

१८३. चाहे विजेता का पक्ष कितना ही न्यायपूर्ण क्यों न हो, वह केवल उतनी ही सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है जितनी दण्डस्वरूप पराजित पक्ष देने को बाध्य हो। पराजित पक्ष का जीवन विजेता की दया पर निर्भर होता है, और उसकी सेवा तथा सम्पत्ति से विजेता अपनी क्षतिपूर्ति कर सकता है। परन्तु विजित की पत्नी और सन्तान की सम्पत्ति वह नहीं छीन सकता। पत्नी और सन्तान को भी सम्पत्ति के कुछ अंश पर अधिकार होता है। उदाहरणार्थ यदि मैं प्राकृतिक अवस्था में, (सब राज्य एक दूसरे के प्रति प्राकृत अवस्था में ही होते हैं) किसी व्यक्ति का अनिष्ट करूँ और उसकी क्षतिपूर्ति करना अस्वीकार कर युद्ध की स्थिति स्थापित करूँ, तो बलप्रयोग द्वारा अन्याय-पूर्ण रीति से प्राप्त सम्पत्ति की रक्षा करने के कारण मैं अतिक्रामक माना जाऊँगा। यह सच है कि परास्त होने पर मेरा जीवन विजेता की दया पर निर्भर होगा, क्योंकि मैं अपने जीवन का अधिकार खो देता हूँ, परन्तु मेरी पत्नी या सन्तान के अधिकार बने रहते हैं। अपनी सम्पत्ति में पत्नी के भाग को त्यागने का मुझे अधिकार नहीं है। मेरी सन्तान को भी, मेरे द्वारा जन्म लेने के कारण, मेरे श्रम या सम्पत्ति से पोषित होने का अधिकार है। अतः स्थिति इस प्रकार होगी—विजेता को अपनी हानि की क्षतिपूर्ति का अधिकार होता है और सन्तान को अपने भरण-पोषण के लिए अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार होता है। पत्नी के अंश को, जो उसे अपने श्रम या अनुबन्ध से प्राप्त हुआ हो, पति नहीं त्याग सकता। अतः ऐसी स्थिति में क्या उचित है? मेरा उत्तर है—चूँकि प्रकृति के आधारभूत विधान के अनुसार सबकी या अधिकाधिक की जीवन रक्षा होनी चाहिए, अतः यदि सम्पत्ति दोनों की तृप्ति के लिए पर्याप्त न हो—अर्थात् विजेता की क्षतिपूर्त्ति और सन्तान के भरण-पोषण के लिए—तब जिसके पास अधिक है, वह अपनी पूर्ण तृप्ति का कुछ अंश, दूसरे की अत्यावश्यकताओं की तुष्टि के लिए त्याग दे, जिसके अभाव में उसके नष्ट हो जाने की आशंका हो।

१८४. मान लीजिए कि युद्ध में विजेता के व्यय और क्षति की अन्तिम पाई तक क्षतिपूर्ति की जाय और पराजित व्यक्ति की सन्तान, अपने पिता की समस्त सम्पति से वंचित करके भूखों मरने और नष्ट होने के लिए छोड़ दी जाय; परन्तु अपने दावे की पूर्ति होने पर भी विजेता विजित देश पर न्यायसम्मत स्वामित्व प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि संसार के किसी भी भाग में, जहाँ सब भूमि अधिकृत की जा चुकी हो और

बजर न पडी हो, भूमि के किसी विशाल क्षेत्र का मूल्य युद्ध की क्षति से कही अधिक होता है। यदि मै विजेता की भूमि छीन लूं, जो परास्त होने के कारण मेरे लिए असभव होगा, तो मेरे द्वारा उसकी और जो भी क्षति हुई हो, उसका मूल्य मेरी भूमि के बराबर नही हो सकता चाहे वह क्षेत्र और पैदावार मे उतनी ही हो जितनी मैने उसकी उजाडी हो। साधारणतया, अधिकाधिक, एक या दो वर्ष की उपज नष्ट की जा सकती है (शायद ही कभी चार या पाँच वर्ष की उपज नष्ट की जा सके)। अपहृत धन या अन्य मूल्यवान निधियो के लिए यह कहा जा सकता है कि वे प्राकृतिक पदार्थ नही है और असगत कल्पना के आधार पर उनका मूल्य निर्धारण होता है, प्रकृति उनका ऐसा मूल्य निर्धारित नही करती। प्रकृति के लिए वे उतनी ही तुच्छ है जैसे अमेरिका के वैनपोम्पीके (Wanpompeke–कौडियाँ) योरप के राजाओ के लिए या योरप के चाँदी के सिक्के अमेरिका के आदिवासियो के लिए। ऐसे देश में जहाँ सब भूमि अधिकृत हो चुकी हो और कोई बन्जर न पडी हो वहाँ पाँच वर्ष की उपज का मूल्य भूमि के चिर-कालीन स्वामित्व के अधिकार के बराबर कदापि नही हो सकता। ऐसे देश मे जिनकी सपत्ति छीन ली गयी है उन्हे और कोई भूमि प्राप्त नही हो सकती। यदि आप मुद्रा के काल्पनिक मूल्य को भूल जायँ तो इसे समझने में विशेष कठिनाई न होगी कि पाँच वर्ष की उपज और भूमि के स्वामित्व के मूल्य में पाँच और पाँच सौ का अनुपात है। यद्यपि यह सच है कि जिस देश मे निवासियो की आवश्यकता से अधिक और उनके द्वारा अधिकृत भूमि के अतिरिक्त बहुत-सी भूमि उपलब्ध हो वहाँ छ महीने की उपज का मूल्य भूमि के चिरकालीन स्वामित्व के अधिकार से अधिक होता है। परन्तु ऐसे देशो मे विजेता विजित की भूमि को अधिकृत करने की ओर ध्यान नही देते। यदि प्रकृति की व्यवस्था मे—और एक दूसरे के प्रति सब शासक और शासन प्रकृति की अवस्था में ही होते है—मनुष्य विजेता को विजित की सपूर्ण सम्पत्ति पर, और विजित के उत्तराधिकारियो को उचित उत्तराधिकार से वञ्चित करने का अधिकार स्वीकार करते है, तो कोई विशेष हानि नही होती। विजेता अपने को स्वामी समझेगा और विजित अपने अधिकार की रक्षा कर सकने की स्थिति मे न होगे। परन्तु यदि अधिकार का केवल यही आधार हो जो बलवान् को निर्बल पर बल द्वारा प्राप्त होता है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि बलवान् को, जिस पर वह चाहे, कब्ज़ा करने का अधिकार होगा।

१८५ अत न्यायसम्मत युद्ध में भी, विजेता को, अपनी विजय से, युद्ध मे अपना साथ देनेवालो पर और परास्त देश के उन नागरिको पर जिन्होने उसका विरोध न किया हो और उसके विरोधियो के वशजो पर भी, आधिपत्य का अधिकार प्राप्त नही

होता। वे उसके अधीन नहीं हो सकते और यदि उनके पूर्ववर्त्ती शासन का विघटन हो जाय तो उन्हें अपने लिए नया शासन स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है।

१८६. यह सच है कि विजेता साधारणतया, उनके ऊपर बल से, उन्हें तलवार का भय दिखा कर, अपनी शर्तें पूरी करने को, और ऐसे शासन की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर सकता है जिसे वह अपने इच्छानुसार उन पर स्थापित करे। परन्तु, प्रश्न यह है कि क्या उसे ऐसा करने का अधिकार है? यदि यह कहा जाय कि वे स्वयं अपनी सहमति से पराधीनता स्वीकार करते हैं, तो इसका अर्थ तो यह होगा कि विजेता को उन पर शासन करने के लिए उनकी सहमति प्राप्त करनी आवश्यक होगी। अब केवल यह विचार करना शेष है कि क्या बल द्वारा, अनधिकारपूर्वक प्राप्त वचन को सहमति कहा जा सकता है और क्या उसका पालन करना अपरिहार्य होगा? मेरा उत्तर यह है कि विजित ऐसे वचन को पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। कोई मुझसे बल द्वारा जो कुछ भी छीनता है, वह उस पर मेरा अधिकार नहीं छीन सकता, और वह मुझे उसे शीघ्र ही लौटाने को बाध्य होगा। जो बलपूर्वक मेरा घोड़ा मुझसे छीनता है, वह उसे शीघ्र ही वापस लौटाना चाहिये क्योंकि मुझे घोड़े को पुनः वापस पाने का अधिकार है। इसी तर्क से, जो बल द्वारा मुझसे वचन लेता है, उसे शीघ्र ही उस वचन को मुझे लौटाना चाहिए,—अर्थात् मुझे उसके बन्धन से मुक्त करना चाहिए, या, मैं स्वयं उसे पुनः प्राप्त कर लूँ, अर्थात्, मैं स्वयं यह निर्णय करूँ कि मै उसका पालन करूँ या नहीं। प्रकृति का विधान जो अपने स्पष्ट नियमों द्वारा ही मुझे बाधित करता है मुझे नियमों के उल्लंघन का आदेश नहीं दे सकता। बलात् मुझसे कुछ छीन लेना प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है। यह कहने से स्थिति नहीं बदल जाती कि मैंने स्वयं वचन दिया था। मैं स्वयं अपनी जेब से अपना बटुआ निकालकर उस चोर को दूँ जो मेरे सीने पर पिस्तौल ताने खड़ा हो, तो इससे बल को क्षमा नहीं किया जा सकता या मेरा अधिकार नहीं छिन जाता।

१८७. इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे परास्त व्यक्तियों पर विजेता का बल के आधार पर स्थापित शासन, जिनके विरुद्ध उसे युद्ध का कोई अधिकार नही था, या जिन्होंने उसका अधिकार होने पर भी उसके विरुद्ध युद्ध में भाग नहीं लिया था, उन्हें बाधित नहीं कर सकता।

१८८. यदि हम यह मान लें कि एक ही राजनीतिक समाज के सदस्य होने के कारण, किसी समाज के सब व्यक्ति, उस अन्यायपूर्ण युद्ध में भाग लेनेवाले माने जायँ जिसमें वे परास्त हुए हों, तो क्या फलस्वरूप उन सबका जीवन विजेता की दया पर निर्भर होगा?

१८९ मेरा मत है कि इस स्थिति का प्रभाव बच्चो पर जो अवयस्क हो नही पड सकता, चूँकि स्वय पिता को अपनी सन्तान के जीवन और स्वतन्त्रता पर सत्ता प्राप्त नही होती अत, वह अपने किसी भी कार्य द्वारा उन्हे जीवन के अधिकार से वचित नही कर सकता। पिताओ के साथ चाहे जो हुआ हो, बच्चे स्वतन्त्र बने रहते है, और विजेता की सत्ता केवल उन व्यक्तियो तक ही सीमित रहती है जिन्हे उसने परास्त किया हो। वह उन व्यक्तियो के जीवन के साथ समाप्त हो जाती है। यद्यपि वह उन्हे अपनी निरकुश स्वेच्छाचारी सत्ता के अधीन दास बनाकर उन पर शासन करता है, परन्तु उसे उनकी सन्तान पर शासन करने का अधिकार नही होता। वह चाहे उन्हे जो कुछ भी कहने या करने को बाध्य करे, जब तक वह बल से उन्हें बाध्य करता है और उनकी स्वेच्छा से नही, उसे उन पर केवल उनकी सहमति से प्राप्त सत्ता के अतिरिक्त और कोई सत्ता प्राप्त नही होती।

१९० प्रत्येक व्यक्ति को जन्मत दो अधिकार प्राप्त होते हे। प्रथम, अपने शरीर की स्वतन्त्रता का अधिकार, जिस पर किसी का अधिकार नही हो सकता और वह स्वय उसकी व्यवस्था करने को स्वतन्त्र होता है, और दूसरा, प्रत्येक व्यक्ति को, किसी अन्य व्यक्ति के पहले, अपने पिता की सम्पत्ति को अपने भाइयो के साथ, उत्तराधिकार में प्राप्त करने का अधिकार होता है।

१९१ इनमें से प्रथम अधिकार के बल पर, व्यक्ति शासन के अधीन जन्म लेने पर भी, उसकी अधीनता से प्रकृतिवश स्वतन्त्र होता है। परन्तु यदि वह अपनी जन्मभूमि के वैधानिक शासन को अस्वीकार कर दे, तो उसे अपने पूर्वजो की सम्पत्ति पर अधिकार भी त्यागना पडेगा, जिसकी प्राप्ति उसे उस देश के विधानो के अनुसार ही हो सकती है—यदि उस देश के शासन का निर्माण उसके पूर्वजो की सहमति से हुआ हो।

१९२ दूसरे अधिकार के अनुसार, किसी भी देश के निवासियो को, जो परास्त व्यक्तियो के वशज हो जिनसे उन्हे सम्पत्ति प्राप्त हुई हो, जिन पर उनकी स्वतन्त्र सहमति के विरुद्ध बल द्वारा शासन स्थापित किया हो अपने पूर्वजो की सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार होता है, चाहे शासन के प्रति उनकी स्वतन्त्र सहमति न हो और उस शासन के कठोर नियम बल द्वारा उस देश के नागरिको पर स्थापित किये गये हो। विजेता को उस देश की भूमि पर कोई न्यायसम्मत अधिकार प्राप्त नही था, अत बल से उसके शासन की अधीनता स्वीकार करने वालो के वशजो को, उस शासन को पदच्युत करके, उस अन्याय्य सत्वग्राही शासन से मुक्त होने का सदैव अधिकार होता है, जबतक उनका शासक उन पर ऐसा शासन न स्थापित करे जिसे वे स्वेच्छा से स्वीकार कर सकें। (यह

तभी सम्भव है जब वहाँ के निवासी अपने शासन का रूप निश्चित करने और शासकों को चुनने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हों, या, कम-से-कम, ऐसे स्थायी विधान हों जिनके लिए उन्होंने या उनके प्रतिनिधियों ने स्वतन्त्र सहमति दी हो, और जब उन्हें अपनी यथोचित सम्पत्ति के उपभोग की अनुमति हो अर्थात् उनकी अनुमति के बिना कोई उनकी सम्पत्ति न ले सके। इन सबके अभाव में किसी भी शासन के अधीनस्थ व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते और बल पर आधारित शासन के कारण दास की स्थिति में होते हैं।) इसमें किसे सन्देह है कि यूनान में रहनेवाले ईसाई, जो उस देश के आदि पूर्वजों के वंशज हैं, शक्तिशाली होने पर टर्की की अधीनता से अपने को न्यायतः मुक्त कर सकते हैं, जिसकी अधीनता में वह इतने काल से पीड़ित हैं ?

१९३. यदि यह भी मान लिया जाय कि न्यायपूर्ण युद्ध में विजेता को विजित की सम्पत्ति पर अधिकार और उनके शरीर पर सत्ता प्राप्त होती है, जो स्पष्टतया उसे प्राप्त नहीं होती; तो भी इससे शासन को सदैव के लिए निरंकुश सत्ता प्राप्त नही हो सकती। चूँकि विजित व्यक्तियों की सब सन्तान स्वतन्त्र होती है, अतः यदि विजेता उन्हें अपने देश में बसने के लिए भूमि और सम्पत्ति प्रदान करे, जिसके बिना उसके देश का कोई मूल्य न होगा, तो जो कुछ भी वह उन्हें प्रदान करेगा, उसमें उनको सम्पत्ति प्राप्त होगी जिसके अर्थ होंगे कि उनकी सहमति के बिना वह उनसे नहीं छीनी जा सकती।

१९४. अपने शरीर पर उनका प्राकृतिक अधिकार होता है और उनकी सम्पत्ति, चाहे अधिक हो या कम, उन्हीं की होती है जिसकी वे इच्छानुसार व्यवस्था कर सकते हैं, अन्यथा, वह सम्पत्ति नहीं कही जा सकती। मान लीजिए, विजेता एक व्यक्ति और उसके वंशजों को सदैव के लिए एक हजार एकड़ भूमि प्रदान करे। दूसरे व्यक्ति को वह उसके जीवन काल के लिए एक हजार एकड़ भूमि किराये पर दे जिसका वह पचास पाउण्ड या पाँच सौ पाउण्ड प्रति वर्ष किराया निश्चित करे। क्या इनमें से प्रथम को अपने १००० एकड़ पर चिरकाल के लिए और दूसरे को निर्धारित किराया देने पर अपने जीवन काल के लिए अधिकार नहीं होता ? अपने जीवन काल के लिए किराये पर भूमि प्राप्त करनेवाला, अपने श्रम और उद्योग से, किराये से अधिक जो कुछ भी प्राप्त करे, क्या उसका उस पर अधिकार नहीं होता, चाहे वह किराये का दुगना ही क्यों न हो ? क्या कोई ऐसा कह सकता है कि राजा या विजेता, ऐसे अनुदान के बाद, विजेता होने के अधिकार के आधार पर सब भूमि, या उसका कुछ अंश, एक के वंशजों से, और दूसरे से किराया देते रहने पर भी उसके जीवन काल में वापस ले सकता है ? या दोनों में से किसी से भी अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति या धन छीन सकता है जो उन्होंने

उस भूमि से अर्जित किया हो? यदि वह ऐसा कर सकता है, तो संसार के सब स्वतन्त्र और स्वेच्छाकृत अनुबन्ध समाप्त हो जायेंगे, और उनका कुछ मूल्य न रह जायगा। यदि पर्याप्त बल प्राप्त होने से ही, किसी भी समय उन्हें अस्वीकार किया जा सकता है, तो बलवान् के अनुदान और वचन केवल उपहासमात्र और छल होंगे। क्या इससे भी अधिक असंगत कुछ और हो सकता है कि मैं आप को कोई वस्तु सदैव के लिए अति विश्वसनीय और गम्भीर प्रक्रिया द्वारा प्रदान करूँ और वह आप की हो जाय फिर भी मेरा यह अधिकार बना रहे कि जब मेरी इच्छा हो, मैं उसे वापस लूँ?

१९५. मैं इस पर विवाद नहीं करूँगा कि क्या राजा अपने देश के विधानों से मुक्त होते हैं? परन्तु मुझे निश्चय है कि वे परमेश्वर और प्रकृति के विधानों का पालन करने के लिए बाध्य हैं। इन सनातन विधानों के पालन से कोई सत्ता उन्हें मुक्त नहीं कर सकती। वचन का पालन करना इतना महत्वपूर्ण और शक्तिशाली बन्धन है कि स्वयं सर्वशक्तिशाली परमेश्वर भी उससे वाध्य होता है। लौकिक राजाओं के चाटुकार, चाहे जो कुछ कहें, अनुदान, वचन और शपथ का पालन करने को परमेश्वर भी बाध्य है। संसार के सब राजा और उनकी समस्त प्रजा मिल कर भी परमेश्वर के समक्ष ऐसी ही है जैसे, गागर में एक बूँद या तराजू पर धूल का एक कण—अर्थात् नगण्य है।

१९६. अतः विजय की स्थिति संक्षिप्त में यह है—यदि विजेता का युद्ध न्याय सम्मत हो, तो उसे अपने विरुद्ध युद्ध में वास्तविक सहायता और सहमति देनेवालों के शरीर पर निरंकुश सत्ता प्राप्त होती है और जब तक वह दूसरे के अधिकार पर अतिक्रमण न करे, वह उनके श्रम और सम्पत्ति से युद्ध में अपनी क्षति पूर्ति करा सकता है। शेष व्यक्तियों पर, जिन्होंने उसके विरुद्ध युद्ध में सहायता न दी हो, और बन्दियों की सन्तान पर, तथा दोनों की सम्पत्ति पर उसे कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती। अतः विजय के आधार पर उसे या उसके वंशजों को, उन पर शासन करने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं होता। उनके लिए वह आक्रमणकारी बना रहता है और स्वयं युद्ध की स्थिति में बना रहता है। उसे या उसके वंशजों में से किसी को उन पर राज्य करने का अधिकार नहीं होता, जिस प्रकार डेन जाति के हिंगार (H'ngar) या हुब्बा (Hubba) को इंग्लैण्ड में नहीं हो सकता था, या स्पारटाकस (Spartacus) को विजयी होने पर इटली मे न होता—अर्थात् अधीनस्थ प्रजा को परमेश्वर द्वारा बल और अवसर प्राप्त होते ही पराधीनता से मुक्त होने का अधिकार होता है। असीरिया (Assyria) के राजाओं को तलवार के बल पर जूडा के ऊपर चाहे जो अधिकार रहा हो फिर भी परमेश्वर ने उस साम्राज्य से स्वाधीन होने में हेज़ेकिया (Hejckiah) की

सहायता की। "और परमेश्वर की हेज़ेकिया पर अनुकम्पा हुई और वह सफल हुआ, जिससे वह आगे बढ़ा और उसने असीरिया के राजा के विरुद्ध विद्रोह किया और उसकी अधीनता से मुक्त हुआ।" (२, किग्स-१८,७) इससे यह स्पष्ट है कि अन्याय पर आधारित बल द्वारा स्थापित सत्ता से स्वाधीन होना यद्यपि विद्रोह कहा जाता है, परन्तु परमेश्वर के समक्ष अपराध नहीं होता। परमेश्वर इसकी अनुमति देता है और इसे प्रोत्साहित करता है, चाहे बल पर आधारित वचन और सन्धियाँ टूटती हों। जो अहाज़ (Ahag) और हेज़ेकिया की कथा ध्यानपूर्वक पढ़ेगा, उसे यह स्पष्ट हो जायगा कि असीरिया के निवासियों ने अहाज को परास्त किया और पदच्युत किया और हेज़ेकिया को उसके पिता के जीवनकाल में राजा बनाया और हेज़ेकिया ने सन्धि के अनुसार इस समय उसकी वश्यता स्वीकार की थी और उसे खिराज दी थी।

अध्याय १७

अनधिकृत सत्त्वग्रहण

१९७. किसी बाह्य सत्ता द्वारा देश पर विदेशी अनधिकृत सत्वग्रहण को विजय कहते हैं, इसी प्रकार, अनधिकृत सत्त्वग्रहण देश की क्षेत्रीय विजय है। विजय और अनधिकृत सत्त्वग्रहण में साम्य यह है कि शासन सत्ता को बलात् अनधिकारपूर्वक हस्तगत करनेवाले के पक्ष में न्याय कभी नहीं हो सकता, क्योंकि, यदि न्याय ही पक्ष में हो तो सत्त्वग्रहण अनधिकृत न होगा। जहाँ तक अनधिकृत सत्त्वग्रहण की बात है, वहाँ केवल विशिष्ठ सत्तारूढ़ व्यक्तियों के स्थान पर दूसरे व्यक्ति सत्तारूढ़ हो जाते हैं, परन्तु शासन के रूप और नियम नहीं बदलते। परन्तु यदि अनधिकृत सत्त्वग्राही राजनीतिक समाज के न्यायसम्मत राजाओं और शासकों को पदच्युत करने के अतिरिक्त, अपनी सत्ता के क्षेत्र में, पूर्ववर्त्ती शासकों की सत्ता के क्षेत्र से अधिक विस्तार करें, तो अनधिकृत सत्त्वग्रहण के साथ अत्याचार भी संयुक्त हो जायगा।

१९८. सभी न्यायसम्मत शासनों में शासकों की नियुक्ति का निर्देशन उतना ही स्वाभाविक और आवश्यक है जितना स्वयं शासन के रूप का निश्चय। साथ ही इस नियम की स्थापना भी मूलतः जनता द्वारा ही होती है। चूंकि, शासन की अनिश्चित रूप-रेखा और सहमति द्वारा राजतन्त्र की स्थापना के साथ सम्राट् की नियुक्ति के साधनों के भी अनिश्चित होने के कारण अराजकता उत्पन्न होती है, अतः सब राजनीतिक समाजों में शासन के रूप की स्थापना के साथ-साथ, राज्याधिकार में कोई अंश प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों की नियुक्ति और सत्ता हस्तांतरण के नियम भी होते हैं। जो कोई भी समाज की इन स्थापित रीतियों का अतिक्रमण करके सार्वजनिक सत्ता के किसी भाग को हस्तगत कर लेता है, उसे जनता का आज्ञापालन प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं होता, चाहे राजनीतिक समाज का ऊपरी रूप ज्यों का त्यों बना रहे। चूंकि, वह अपनी सत्ता, स्थापित नियमों के प्रतिकूल रीति से प्राप्त करता है, अतः उसके प्रति जनता की सहमति नहीं मानी जा सकती। अतः जब तक जनता सहमति प्रदान करने के लिए स्वतन्त्र न हो, और वस्तुतः ऐसी सहमति प्रदान न करे जिससे अनधिकृत सत्त्वग्रहण का अनुमोदन हो, तब तक अनधिकृत सत्त्वग्राही को, या उसके वंशजों को न्यायसम्मत अधिकार प्राप्त नहीं होता।

अध्याय १८

उत्पीडक शासन

१९९. जिस प्रकार अनधिकृत सत्त्वग्रहण किसी अन्य के न्यायसम्मत अधिकारों का प्रयोग है, उसी प्रकार, उत्पीडक शासन, शासक द्वारा न्याय की सीमा से परे सत्ता का प्रयोग है। सत्ता के ऐसे प्रयोग का किसी को अधिकार नहीं है। उत्पीडक शासन में सत्ता का ऐसा प्रयोग अधीनस्थ जनता के कल्याण के लिए नहीं, शासक के पृथक् और व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए होता है। जब शासक, उसकी नियुक्ति का जो भी आधार रहा हो, विधान का नहीं, मनमाना आचरण करता है तो उसके कार्य और उसके आदेश उसकी जनता की सम्पत्ति की सुरक्षा नहीं, उसकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, प्रतिशोध, लोभ और अन्य अनियमित प्रवृत्तियों की तृप्ति करते हैं।

२००. यदि आप एक क्षुद्र व्यक्ति का मत होने के कारण इस मत के औचित्य में शंका करें, तो शायद आप एक राजा के वचन अवश्य स्वीकार कर लेंगे। १६०३ में संसद में अपनी वक्तृता में सम्राट् जेम्स ने इस प्रकार कहा था—"अच्छे संविधान और विधानों के निर्माण में, मैं अपने किसी वैयक्तिक स्वार्थ पर विचार न करूँगा, जनता और सम्पूर्ण राज्य का कल्याण ही मुझे प्रभावित करेगा। न्यायसम्मत राजा और उत्पीडक में सबसे महत्त्वपूर्ण विशेष अन्तर यह है कि महत्त्वाकांक्षी और अभिमानी उत्पीडक अपने राज्य और प्रजा को अपनी स्वेच्छा और अविवेकपूर्ण प्रवृत्तियों की तृप्ति का साधन समझता है; धर्म और न्यायपूर्ण राजा, इसके विपरीत, स्वयं को प्रजा की सम्पत्ति और समृद्धि की प्राप्ति का साधन समझता है।" और पुनः १६०९ में उसने संसद के समक्ष यह शब्द कहे—"अपने साम्राज्य के मौलिक विधानों के पालन के लिए राजा एक दोहरी शपथ लेता है—मौन रूप से, राजा होने के कारण वह अपनी प्रजा और अपने राज्य के विधानों, दोनों का पालन करने की, और स्पष्टतया, सिंहासनारोहण की शपथ द्वारा, अपने शासन को उस अनुबन्ध के अनुरूप रखने की शपथ लेता है जो वह अपनी प्रजा से करता है। यह अनुबन्ध परमेश्वर और नोआ के मध्य हुए अनुबन्ध के अनुरूप है जो जल-प्रलय के बाद हुआ था—'आज के बाद, जब तक पृथ्वी का अस्तित्व रहेगा, बोने और काटने का समय, सर्दी और गर्मी, ग्रीष्म और शीत ऋतुएँ, दिन और रात निरन्तर आते रहेंगे।' अतः व्यवस्थित राज्य का शासक राजा विधानों के अनुसार शासन न करने पर

राजपद को त्याग कर उत्पीड़क की कोटि में आ जाता है।" आगे वह कहता है—"जो राजा उत्पीड़क न हो, मिथ्या शपथ लेनेवाला न हो, वह स्वेच्छा से विधानों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, उनसे सीमित रहता है। राजा को इसके प्रतिकूल मंत्रणा देने वाले राजा और राज्य, दोनों के प्रति अनिष्टकारी और नितान्त अवांछनीय होते हैं।" इस प्रकार, यह बुद्धिमान् नृप राजा और उत्पीड़क का यह अन्तर प्रस्तुत करता है—एक सत्ता को विधानों से सीमित करता है और शासन का लक्ष्य जन-कल्याण बतलाता है; और दूसरा स्वेच्छा और स्वार्थ को सर्वोपरि स्थान देता है।

२०१. यह विचार गलत है कि यह दोष केवल राजतन्त्रों में ही सम्भव है। शासन के अन्य रूपों में भी इसकी सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि जहाँ कहीं भी प्रजा का शासन और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा करनेवाली शक्ति का प्रयोग भिन्न उद्देश्य से किया जाता है और सत्ताधारी के निरंकुश अवैध आदेशों से जनता का दमन किया जाता है, उसे दरिद्र बना कर पीड़ित किया जाता है, वहाँ शासन उत्पीड़क शासन हो जाता है, चाहे सत्ता एक के हाथ में हो या अनेकों के। इतिहास में हम ऐथन्स के तीस उत्पीड़कों से, और सायराक्यूज़ के एक उत्पीड़क से परिचित हैं। रोम में "दस प्रशासकों की समिति" (Decemviri) का शासन उनसे किसी भाँति अच्छा नहीं था।

२०२. किसी के अनिष्ट के लिए विधान की सीमा का अतिक्रमण होने पर उत्पीडक तन्त्र की स्थापना होती है। विधान द्वारा प्राप्त अपनी सत्ता की मर्यादा को त्याग कर जो अपनी प्रजा पर अवैध बल का प्रयोग करता है, वह शासक नहीं कहा जा सकता और उसके अवैध कार्यों का विरोध उसी प्रकार उचित है जिस प्रकार किसी ऐसे व्यक्ति का विरोध जो दूसरों के अधिकार पर सबल अतिक्रमण करता है। इस मत को निम्न पदाधिकारियों के सम्बन्ध में स्वीकार किया जाता है। जिसे मुझे सार्वजनिक मार्ग में गिरफ्तार करने का अधिकार हो, वह यदि चोर और डाकू की तरह मेरे घर में अनधिकार प्रवेश करके मुझे गिरफ्तार करने की चेष्टा करे तो, चाहे मुझे यह ज्ञात भी हो कि उसके पास मुझे सार्वजनिक स्थान पर गिरफ्तार करनेकी वैधानिक सत्ता है और इसके लिए वैध आज्ञापत्र भी है, उसका चोर और डाकुओं की भाँति विरोध करना उचित होगा। मुझे खुशी होगी अगर मुझे बतलाया जाय कि यह सिद्धान्त जो निम्न अधिकारियों पर लागू होता है, किस तर्क के आधार पर उच्च अधिकारियों पर लागू न होगा। क्या यह युक्तिसंगत है कि चूंकि ज्येष्ठ भ्राता को अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकांश भाग प्राप्त होता है, इसलिए उसे छोटे भाइयों के अंश को भी छीनने का अधिकार है? या एक बहुत बड़ी ज़मींदारी के स्वामी, धनी व्यक्ति को, अपने निर्धन पड़ोसी का घर और खेत अपनी

इच्छानुसार हड़पने का अधिकार है ? आदम के पुत्रों से हजार गुना धन और सत्ता का न्यायसम्मत स्वामी हो जाने से किसी को अत्याचार और लूट का अधिकार नहीं मिल जाता। दूसरे का अनधिकार अनिष्ट करने से अपराध की गुरुता बढ़ती है। अपने वैध अधिकार की सीमा का उल्लंघन जिस प्रकार निम्न अधिकारी के लिए अपराध है, उसी प्रकार श्रेष्ठ अधिकारी के लिए, सम्राट् के लिए और पुलिस के क्षुद्र सिपाही के लिये भी। जिसमें जनता ने अपना विश्वास स्थापित किया हो, जिसे औरों से अधिक धन-धान्य का भाग प्राप्त हुआ हो, जिसमें शिक्षा-दीक्षा के कारण, और बहुसंख्यक मंत्रियों की सहायता उपलब्ध होने के कारण उचित और अनुचित में भेद समझने की योग्यता अपेक्षित हो, उसके द्वारा अधिकार की सीमा के उल्लंघन के अपराध का गुरुत्व, अन्य की अपेक्षा, बहुत बढ़ जाता है।

२०३. क्या राजा के ऐसे आदेशों का विरोध किया जा सकता है ? जब कभी असंतोष का कारण हो तो क्या कोई भी, यह समझ कर कि उसके साथ अन्याय हुआ है, राजा का मुकाबला कर सकता है ? यदि ऐसा हो, तो क्या राजनीतिक समाज का अन्त न हो जायगा, व्यवस्था और शासन के स्थान पर अराजकता और अव्यवस्था न फैल जायगी ?

२०४. मेरा उत्तर यह है—बल द्वारा केवल अन्यायपूर्ण और अवैधानिक बल का ही विरोध किया जा सकता है। अन्य किसी भी स्थिति में, यदि कोई भी किसी भी प्रकार का विरोध करे, तो वह परमेश्वर तथा मनुष्य, दोनों से, न्यायपूर्ण दण्ड का भागी होगा। अतः ऐसी कोई आशंका या अव्यवस्था न होगी, जिसकी ओर प्रायः संकेत किया जाता है, क्योंकि——

२०५. प्रथम, कुछ देशों में परम्परागत विधान द्वारा राजा का व्यक्तित्व पवित्र माना जाता है। अतः राजा चाहे जो आदेश दे या कार्य करे, उसके व्यक्तित्व पर कोई सन्देह नहीं किया जाता, न उस पर बल प्रयोग सम्भव होता है, और वह न्यायिक निन्दा या दण्ड के परे होता है। परन्तु उसके किसी भी निम्न पदाधिकारी, या उसके अन्य नियुक्त व्यक्तियों के अवैधानिक कार्यों का विरोध किया जा सकता है। परन्तु यदि राजा शासन का विघटन करके अपनी जनता के प्रति अपने को युद्ध की अवस्था में कर दे, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुरक्षा का स्वयं उत्तरदायी हो जाय जैसे वह प्राकृत अवस्था में होता है, तब राजा का भी विरोध किया जा सकता है। कौन कह सकता है कि अंत में इसका क्या परिणाम होगा ? हमारे एक पड़ोसी राज्य ने संसार के समक्ष एक असाधारण उदाहरण प्रस्तुत किया है। अन्य सब परिस्थितियों

में, राजा का व्यक्तित्व पवित्र होने के कारण राजा स्वयं विरोध का लक्ष्य नहीं होता, और हिंसा और क्षति से सुरक्षित रहता है, और शासन का अस्तित्व भी बना रहता है। इससे और अच्छा संविधान क्या हो सकता है? यदि अपनी दुर्बलता या दुष्प्रवृत्ति के कारण कोई राजा स्वयं जनता पर अत्याचार करने का प्रयत्न करे, तो केवल उसके व्यक्तिगत प्रयत्न से अनिष्ट न तो बहुत व्यापक हो सकता है और न बार-बार संभव होगा। वह केवल अपनी व्यक्तिगत शक्ति से विधानों को उच्छेदित नहीं कर सकता और न समस्त जनता पर अत्याचार कर सकता है। किसी उग्र स्वभाव के राजा के सिंहासन पर आने से यदा-कदा अनिष्ट की सम्भावना होती है, परन्तु उसके बदले राजा के व्यक्तित्व में जनता को, अति श्रेयस्कर शान्ति और शासन की सुरक्षा भी प्राप्त होती है। जनता के हित में यह श्रेयस्कर है कि कुछ साधारण नागरिकों को कभी-कभी कष्ट की आशंका हो, परन्तु, यह नहीं कि राज्य के प्रधान पर सरलता से और किंचित् कारण होने पर ही आघात हो।

२०६. दूसरे, राजा के व्यक्तित्व की सुरक्षा के इस विशेषाधिकार के यह अर्थ नहीं होते कि अन्यायपूर्ण बल प्रयोग करनेवालों से जवाब तलब न किया जाय, या उनका विरोध न किया जाय, या उनका सामना न किया जा सके, चाहे उन्हें अपने अवैध कार्य के लिए स्वयं राजा से ही आदेश क्यों न मिला हो। मेरा मत इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा। चाहे अधिपत्र में इन अपवादों का कोई उल्लेख न हो, तो भी किसी व्यक्ति के घर में घुस कर, या कुछ विशिष्ट स्थानों पर, या कुछ विशिष्ट दिनों में, राजा का अधिपत्र होने पर भी वह व्यक्ति गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। इन अपवादों का आधार स्वयं विधान की सीमा है जिसके उल्लंघन से अधिकारी को इस आधार पर मुक्ति नहीं मिल सकती कि उसने केवल राजा के आदेश का पालन किया था। केवल विधान ही राजा की सत्ता का आधार है, राजा किसी को विधान का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं दे सकता और न उल्लंघन होने पर क्षमा कर सकता है। किसी भी पदाधिकारी का अधिपत्र या आदेश, जिसे जारी करने का उसे अधिकार न हो, उतना ही अवैधानिक और प्रभाव शून्य होता है जितना किसी साधारण नागरिक का, अन्तर केवल यही है कि राजकीय पदाधिकारी को कुछ सत्ता किसी निश्चित उद्देश्य के लिए प्राप्त होती है और साधारण नागरिक को कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती। राजकीय अधिपत्र से ही अधिकार नहीं मिलता, वरन्, वह उस अधिपत्र के पीछे मौजूद जारी करने की सत्ता के वैधानिक अधिकार से प्राप्त है। विधान के प्रतिकूल कोई अधिकार नहीं हो सकता। अस्तु, विरोध के होने पर भी, राजा का व्यक्तित्व और सत्ता दोनों सुरक्षित रहती हैं और राजा या शासन के लिए कोई आशंका उपस्थित नहीं होती।

२०७. तीसरे, ऐसे शासन में भी, जहाँ शासक का व्यक्तित्व पवित्र नहीं माना जाता, शासक के अवैधानिक सत्ता के प्रयोग के विरोध से राजा के व्यक्तित्व को और उसके शासन को छोटे-मोटे असन्तोषों के कारण आशंका न होगी। जहाँ पीड़ित पक्ष की न्याय से अपील करने पर क्षतिपूर्ति हो सकती हो, वहाँ बल प्रयोग का कोई अवसर नहीं आवेगा और न आवश्यकता होगी। बल प्रयोग का अवसर वहीं आवेगा जहाँ व्यक्ति विधान से अपील न कर सके। जहाँ अन्याय के विरुद्ध न्याय के समक्ष अपील प्रस्तुत न की जा सके, वहाँ रक्षार्थ बलप्रयोग अनुचित न माना जायगा। अन्यायपूर्ण बलप्रयोग करने वाला अपने को युद्ध की स्थिति में डाल देता है और उसका विरोध वैधानिक होता है। रास्ते में यदि कोई व्यक्ति तलवार दिखा कर मेरा धन छीनने का प्रयास करे, उस समय, चाहे मेरी जेब में शायद बारह पेन्स भी न हों, तो भी इस व्यक्ति को मार डालना मेरे लिए वैधानिक होगा। यदि मैं एक दूसरे व्यक्ति को सौ पाउण्ड कुछ समय के लिए धरोहर के रूप में दूँ और वह मुझे बाद में मेरी धरोहर धौंस दिखाकर लौटाना अस्वीकार कर दे, और उसे हड़प जाने की चेष्टा करे, तो मैं उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयास करूँगा। इस व्यक्ति द्वारा मुझे जो हानि हुई, वह, यद्यपि, पहले व्यक्ति की अपेक्षा (जिसे मुझे उसके कुछ करने के पहले ही मार डालने का अधिकार था) सौ गुनी या शायद हज़ार गुनी अधिक हो, तो भी मेरा पहले व्यक्ति को मौत के घाट उतारना वैधानिक माना जायगा, जबकि मैं दूसरे व्यक्ति को ज़रा-सी चोट भी नहीं पहुँचा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम व्यक्ति के बल प्रयोग से मेरे जीवन के लिए आशंका उपस्थित थी और अपनी सुरक्षा के लिए मेरे पास न्याय के समक्ष अपील करने का समय नहीं था। जीवन का अंत हो जाने पर अपील नहीं की जा सकती, विधान मेरे मृत शरीर में जीवन नहीं फूँक सकता। अतः मेरी हानि की क्षति पूर्ति होना असम्भव था। ऐसी स्थिति में प्रकृति का विधान मुझे उस व्यक्ति का नाश करने की अनुमति देता है जो मेरे प्रति अपने को युद्ध की अवस्था में स्थापित करे और मुझे विनष्ट करने की धमकी दे। परन्तु, दूसरी परिस्थिति में, मेरे जीवन के लिए आशंका न थी, और मैं अपने सौ पाउण्ड की क्षतिपूर्ति के लिए न्याय के समक्ष अपील कर सकता था।

२०८. चौथे, यदि राजकीय पदाधिकारी के अवैधानिक कार्यों को उसकी सत्ता के कारण दण्डित न किया जाय और वह अपनी सत्ता द्वारा विधान द्वारा प्रस्तुत उपचार में बाधा डाले, तो इतना स्पष्ट अन्याय होने पर भी, अत्याचारी शासन का विरोध करने के अधिकार से अकस्मात् या अमहत्त्वपूर्ण कारणों से शासन में अधिक अशान्ति उत्पन्न न होगी। यदि केवल मुट्ठी भर साधारण नागरिक ही अत्याचार के ग्रास हों, तो

यद्यपि उन्हें अपनी सुरक्षा का अधिकार होगा, और अवैधानिक बल प्रयोग द्वारा जो कुछ उनसे छीना गया हो, उसे बलप्रयोग द्वारा पुनः प्राप्त करने का अधिकार होगा, तो भी, इस अधिकार के आधार पर, वे सरलता से शासन का प्रतिवाद न करेंगे, क्योंकि, इसमें उन्हीं का विनाश अवश्यम्भावी होगा। यदि समस्त जनता का समर्थन उनको प्राप्त न हो, तो एक या मुट्ठी भर पीड़ित व्यक्तियों द्वारा शासन में विघ्न उतना ही असम्भव होगा जितना एक क्रोधी पागल व्यक्ति द्वारा, या किसी उग्र असन्तुष्ट व्यक्ति द्वारा एक सुव्यवस्थित राज्य को नष्ट करने का प्रयास। जनता इनका कदाचित ही समर्थन करेगी।

२०९. परन्तु यदि अधिकांश जनता शासन के इन अवैधानिक कार्यों का शिकार हो, या, यदि अनिष्ट और अत्याचार केवल मुट्ठी भर व्यक्तियों पर हुआ हो, परन्तु उनको पूर्ववर्त्ती उदाहरण मानकर समस्त जनता को आशंका हो और जनता को ऐसा विश्वास हो जाय कि उसके विधान, उसकी सम्पत्ति, स्वतन्त्रता और जीवन, और शायद उसके धर्म को भी खतरा है तो अवश्य ही वह इस अवैधानिक बलप्रयोग का विरोध करेगी और तब उसे कैसे रोका जा सकेगा यह मैं नहीं जानता। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि शासकों द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न करने से, जिसमें जनता का उनपर, विश्वास हट जाय, सब शासनों पर संकट आ जाता है और यह शासनों और शासकों के लिए सबसे अधिक आशंकापूर्ण परिस्थिति होती है। परन्तु इसके लिए हमें शासकों के प्रति सहानुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि वे बहुत सरलता से इस स्थिति के उत्पन्न होने को रोक सकते थे। यदि शासक वास्तव में जनता का हित और उनके जीवन और विधानों की सुरक्षा चाहे, तो यह असम्भव है कि जनता को उनके सद्उद्देश्य का अनुभव उसी तरह न हो, जैसे परिवार में सन्तान को अनुभव होता है कि उनका पिता उनसे स्नेह करता है और उनका पोषण करता है या नहीं।

२१०. यदि समस्त संसार शासन की सिद्धान्त विषयक बातें एक प्रकार की पाये और उसके कार्य उसके विपरीत देखे, तथा यदि शासन विधानों से बचने के लिए चतुराई का प्रयोग करे, और विशेषाधिकार का प्रयोग (जो, जनता का हित करने के लिए, पर जनता का अनिष्ट करने के लिये नहीं कुछ विषयों में राजा को प्राप्त है) उसके उद्देश्य के विपरीत करे, यदि जनता प्रत्यक्ष देखे कि ऐसे अत्याचारी कार्यों के लिए उपयुक्त मंत्री और निम्न पदाधिकारी नियुक्त हो रहे हैं, और उनकी पदोन्नति या अवनति इसी आधार पर होती है कि वे इन कार्यों का समर्थन करते हैं या विरोध करते हैं और जब जनता देखे कि निरंकुश सत्ता का सदैव प्रयोग किया जाता है और ऐसी सत्ता का समर्थन करनेवाले वर्ग को परोक्ष में प्रोत्साहित किया जा रहा है यद्यपि सार्वजनिक रूप से उसका

विरोध किया जाता है, और उस वर्ग के प्रचारकों को यथासम्भव सहायता दी जाती है और जहाँ अनुचित हो, वहाँ भी उसका अनुमोदन किया जाता है और उसके प्रति पक्षपात किया जाता है, तथा अनेकों घटनाओं से जब यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक का रुख किस ओर है, तब यह आवश्यक होता है कि जनता को शासन की यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखलाई दे और वह अपनी सुरक्षा का उपाय करे। यदि जहाज का कप्तान एल्जियर्स की ओर ही जहाज चलाये, यद्यपि हो सकता है कि रास्ते में हवा के रुख के कारण, या आदमियों और खाने-पीने के सामान की कमी के कारण कप्तान थोड़े समय के लिए जहाज को दूसरी दिशा में मोड़ दे, परन्तु हवा, मौसम और अन्य परिस्थितियों के सुधर जाने पर फिर सदा एल्जियर्स की ओर ही जहाज चलाये, तो उस जहाज में बैठे व्यक्ति को अवश्य यही सन्देह होगा कि जहाज एल्जियर्स की ओर ले जाया जा रहा है।

अध्याय १९

शासन का विघटन

२११. शासन के विघटन पर अपने विचार तनिक भी स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करनेवाले को सर्वप्रथम समाज के विघटन और शासन के विघटन में भिन्नता स्पष्ट करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का, शेष अन्य के साथ सहमति द्वारा एकीभूत होकर, एक इकाई के रूप में कार्य करने, और इस प्रकार एक विशिष्ट समुदाय बनाने के कारण ही समाज की स्थापना होती है और वे व्यक्ति प्राकृत अवस्था को त्यागकर, एक राजनीतिक समाज में प्रवेश करते हैं। इस संगठन के विघटन की सामान्य और एकमात्र रीति उसपर किसी बाह्य सत्ता द्वारा आक्रमण और विजय है। ऐसी पराजय क परिणाम स्वरूप स्वतन्त्र समाज के रूप में अपने को स्थापित न रख सकने के कारण, उस समाज के सदस्यों के संगठन का समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी है, और तब उस समुदाय का प्रत्येक सदस्य उसी अवस्था में वापस आ जाता है, जिसमें वह संगठन स्थापित होने के पूर्व था। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर वह अपने कार्यों के लिए स्वतन्त्र होता है और अपनी सुरक्षा के हेतु, अपनी इच्छानुसार, किसी समाज में प्रवेश कर सकता है। यह निश्चित है कि समाज के विघटन पर, उसके शासन के अस्तित्व का भी अंत हो जाता है। अतः बहुधा विजेता की तलवार शासनों को आमूल समाप्त कर देती है और समाज को तहसनहस कर देती है। आक्रमण से उनकी रक्षा न कर सकने के कारण, पराजित या विकीर्ण मनुष्य समाज के संरक्षण और अधीनता से मुक्त हो जाते हैं। शासनों के विघटन की इस रीति से संसार खूब परिचित है और प्रगति के कारण इसको अवांछित मानता है। अतः इस विषय में और कुछ कहना अनावश्यक है। यह प्रमाणित करने के लिए बहुत तर्क की आवश्यकता नहीं है कि समाज का विघटन होने पर शासन नहीं बना रह सकता, यह उसी प्रकार असम्भव होगा जैसे किसी मकान की सब ईंटें एक तूफान द्वारा तितर-बितर हो जायें या भूचाल द्वारा गिर जायें, परन्तु मकान का ढाँचा बना रहे।

२१२. बाह्य आक्रमण द्वारा विघटन के अतिरिक्त, शासन आन्तरिक परिस्थितियों से भी विघटित हो सकते हैं —

प्रथम, जब व्यवस्थापिका में परिवर्त्तन होता है राजनीतिक समाज व्यवस्थापिका द्वारा अपने सदस्यों में शान्ति की स्थिति स्थापित करता है और उनके मध्य सब मतभेदों को दूर करने के लिए, तथा युद्ध की अवस्था का अंत करने के लिए, अपनी व्यवस्थापिका को निर्णायक का अधिकार देता है। अतः व्यवस्थापिका द्वारा ही समाज के सदस्य एकीभूत होकर एक समन्वयशील सजीव समाज बनाते हैं। व्यवस्थापिका ही राजनीतिक समाज को उसका रूप, जीवन और एकता प्रदान करनेवाली आत्मा है। इसीके द्वारा विभिन्न सदस्यों को पारस्परिक प्रभाव, सहानुभूति और सम्बन्ध प्राप्त होते हैं। अतः व्यवस्थापिका के नष्ट होने या विघटित होने पर शासन का अन्त और विघटन हो जाता है। चूँकि समाज का अस्तित्व और एकता की अभिव्यक्ति उसकी एकीभूत इच्छा में है, अतः बहुमत द्वारा स्थापित व्यवस्थापिका ही इस इच्छा को व्यक्त करती है और वही इस इच्छा का निवास-स्थान है। समाज का सर्वप्रथम और मौलिक कार्य व्यवस्थापिका का संगठन होता है। इसके द्वारा व्यवस्था होती है कि समाज के संगठन का स्थायित्व कुछ व्यक्तियो और विधानों के संरक्षण में बना रहे। इन विधानों का निर्माण जनता की अनुमति प्राप्त अधिकृत व्यक्ति करते हैं। जनता की अनुमति के बिना किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को ऐसा विधान बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता जिसके आदेश पालन के लिए शेष सब लोग भी बाध्य हों। यदि जनता की अनुमति के बिना, एक या अनेक व्यक्ति विधिनिर्माण करने लगे तो उनका बनाया विधान अनधिकृत होगा, और जनता उसका पालन करने के लिए बाध्य न होगी। ऐसी अवस्था में, जनता, अधीनता से मुक्त हो, पुनः अपने लिए, जैसा वह सर्वोचित समझे, एक नयी व्यवस्थापिका का निर्माण कर सकती है और उसे अनधिकृत पीडकों का प्रतिरोध करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। जनता की सार्वजनिक इच्छा को व्यक्त करने के लिए नियुक्त व्यक्तियों को वंचित करके, यदि अन्य उनका स्थान छीन लें जिन्हें उसका कोई अधिकार या दावा न हो, तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी इच्छा का स्वयं स्वामी बन जायगा।

२१३. चूंकि राज्य में ऐसा 'प्रायः शक्ति के दुरुपयोग द्वारा ही होता है, अतः जब तक हमें शासन का रूप न मालूम हो, इस पर उचित रूप से विचार करना और यह पता लगाना कि कौन दोषी हैं, कठिन होता है ? व्यवस्थापक सत्ता तीन विशिष्ट प्रकार की संस्थाओं की सहमति में निहित हो सकती है– प्रथम, ऐसे वंशागत व्यक्ति की जिसे अविरल, सर्वोच्च, कार्यकारिणी सत्ता प्राप्त हो और साथ ही साथ निश्चित अवधि के अन्दर अन्य दोनों संस्थाओं के समाह्वान और विघटन का अधिकार भी प्राप्त हो।

द्वितीय, वंशागत सामन्तों की सभा की। तृतीय, जनता द्वारा अस्थायी काल के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा की। ऐसे शासन में स्पष्ट है कि—

२१४. प्रथम, यदि ऐसा एक व्यक्ति या राजा, व्यवस्थापिका द्वारा समाज की इच्छा को व्यक्त करनेवाले विधानों के स्थान पर अपनी स्वेच्छाचारी इच्छा का निष्पादन करे, तो व्यवस्थापिका के रूप में परिवर्त्तन माना जायगा, क्योंकि वही व्यक्ति वास्तव में व्यवस्थापक कहलायेगा जिसके नियमों और विधानों का निष्पादन वस्तुत: होता हो और जिनके पालन करने को जनता बाध्य हो। जब समाज द्वारा स्थापित व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित विधानों के स्थान पर अन्य विधानों का निर्माण हो और उनका निष्पादन हो, तो, स्पष्टतया, व्यवस्थापक सत्ता में परिवर्त्तन माना जायगा। समाज द्वारा नियुक्ति प्राप्त किये बिना, यदि कोई अनधिकृत नये विधानों का निर्माण करता है, या पुराने विधानों में परिवर्त्तन करता है, और इस प्रकार वह उन पुराने विधानों का निर्माण करनेवाली सत्ता को अस्वीकृत करके हटा देता है, तो नयी व्यवस्थापक सत्ता की स्थापना मानी जायगी।

२१५. द्वितीय, यदि राजा व्यवस्थापिका को, उसकी स्थापना के उद्देश्य के प्रतिकूल, नियत समय में समवेत होने में, या स्वतन्त्रता से कार्य करने में बाधा डाले, तो व्यवस्थापक सत्ता में परिवर्त्तन माना जायगा। व्यवस्थापक सत्ता के लिए केवल कुछ व्यक्ति या उनकी सभा ही पर्याप्त नहीं है, वरन्, यह भी आवश्यक है कि उन्हें वाद-विवाद की स्वतन्त्रता, और समाज के हित में कार्य करने का अवसर भी प्राप्त हो। यदि इस स्वतन्त्रता और अवसर को छीन लिया जाय या संशोधित कर दिया जाय, जिससे व्यवस्थापिका अपनी सत्ता का उचित उपयोग न कर सके, तो व्यवस्थापक सत्ता में, वास्तव में, परिवर्त्तन माना जायगा। केवल नाम धर देने से ही शासन का रूप स्थिर नहीं होता, वरन्, सत्ता के निर्दिष्ट उद्देश्यानुसार उपयोग में होता है। अत: जो व्यवस्थापिका की स्वतन्त्रता का हरण करता है, या उसके नियत अधिवेशनों में बाधा डालता है, वह, वास्तव में, व्यवस्थापक सत्ता का हरण करता है और शासन को समाप्त कर देता है।

२१६. तीसरे, जब राजा अपनी सत्ता से जनता की अनुमति के बिना, तथा सार्वजनिक हित के विपरीत, निर्वाचक मंडल या निर्वाचन विधि में परिवर्त्तन करता है, तब व्यवस्थापक सत्ता में परिवर्त्तन माना जायगा क्योंकि, यदि समाज द्वारा अधिकृत व्यक्तियों के अलावा अन्य निर्वाचन करें, या समाज द्वारा निर्धारित रीति से भिन्न रीति से चुनाव हों तो निर्वाचित व्यक्ति जनता द्वारा नियुक्त व्यवस्थापिका नहीं माने जा सकते।

२१७. चौथे, राजा या व्यवस्थापिका द्वारा राज्य को किसी विदेशी सत्ताके हाथ सौप देने से भी, निश्चय ही, व्यवस्थापिका में परिवर्त्तन और शासन का विघटन होता है। व्यक्तियों का समाज में प्रवेश करने का उद्देश्य अपने को एक सम्पूर्ण और स्वतन्त्र समाज के रूप में सुरक्षित रखना था जो अपने ही विधानों द्वारा शासित हो। अतः जब कभी वे किसी और की सत्ता के अधीन बना दिये जाते है, तो यह उद्देश्य खण्डित हो जाता है।

२१८. ऐसे संविधान में, उपर्युक्त अवस्थाओं में शासन के विघटन के लिए राजा को ही दोषी ठहराये जाने के कारण स्पष्ट है। राजा ही राज्य की शक्ति, धन और अधिकारियों का प्रयोग करता है। बहुधा वह स्वयं ऐसा सोचने लगता है, या उसके प्रशंसक उसे चाटुकारिता से यह विश्वास दिला देते हैं कि सर्वोच्च पदाधिकारी होने के कारण उस पर कोई नियंत्रण नही हो सकता। केवल राजा ही वैधानिक सत्ता की धोखे-धड़ी से इस प्रकार के परिवर्त्तन कर सकता है, और अपने विरोधियों को फ़सादी, राज-द्रोही, और शासन के शत्रु बतलाकर डरा या दबा सकता है। परन्तु बिना स्पष्ट और प्रत्यक्ष विद्रोह किये व्यवस्थापक सत्ता का कोई और अंग, या जनता ऐसा कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकती। ऐसा विद्रोह यदि सफल हो जाय तो उसका प्रभाव मूलतः बाह्य आक्रमण के अनुरूप होता है। इसके अतिरिक्त शासन के इस रूप में, राजा को व्यवस्थापक सत्ता के अन्य अंगों को विघटित करने की सत्ता प्राप्त होती है जिससे उसके सदस्य पुनः साधारण नागरिक बन जाते हैं, अतः वे कभी राजा का विरोध करके, या उसकी अनुमति के बिना, विधान द्वारा व्यवस्थापक सत्ता में परिवर्त्तन नहीं कर सकते। उनके किसी भी पारित नियम को विधान का बल प्राप्त करने के लिए राजा की अनुमति आवश्यक होती है। यदि व्यवस्थापक सत्ता का कोई अंग अपनी सामर्थ्यानुसार शासन पर अतिक्रमण करने में सहायक हो और ऐसे प्रयत्न में सक्रिय भाग लें, तो निःसन्देह, उसे अपराध का दोषी माना जायगा। जैसे, अन्य व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति घोरतम अपराध करके दोषी ठहराये जाते हैं।

२१९. शासन के विघटन का एक और साधन है सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता प्राप्त व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य की अवहेलना या उसे त्याग देना जिससे स्थापित विधानों का निष्पादन न हो सके। इससे सर्वव्यापक अराजकता फैल जायगी और वस्तुतः शासन का विघटन हो जायगा। विधान का उद्देश्य केवल उनका निर्माण ही नहीं है, उनके निष्पादन द्वारा समाज के बन्धन दृढ़ होते हैं और समाज का प्रत्येक भाग अपने स्थानोचित कर्त्तव्य सम्पन्न करने के लिए बाध्य होता है। जब विधानों का निष्पादन

नहीं होता, तो शासन, स्पष्टतया, समाप्त हो जाता है, और जनता अव्यवस्थित असम्बद्ध समूह बन जाती है जिसमें कोई व्यवस्था नहीं शेष रहती। जहाँ मनुष्य के अधिकारों की सुरक्षा के लिए न्याय का प्रशासन नहीं होता, और न कोई ऐसी सत्ता शेष रह जाती है जो समाज की शक्ति का संचालन करे, या जनता की आवश्यकताओं की व्यवस्था करे, वहाँ निश्चय ही कोई शासन शेष नहीं रह जाता। जहाँ विधानों का निष्पादन नही होता, वहाँ ऐसी स्थिति होती है मानों विधानों का अस्तित्व ही न हो। राजनीति में, बिना विधान का शासन मनुष्य की समझ के परे है और मानव समाज के असंगत है।

२२०. ऐसे तथा इनसे मिलते-जुलते अन्य दृष्टान्तों में, जब शासन का विघटन हो जाता है, तब जनता अपने लिए नयी व्यवस्थापक सत्ता की स्थापना करने के लिए स्वतन्त्र हो जाती है। अपनी सुरक्षा और हित के लिए, जैसा वह सर्वोचित समझे, जनता निर्णय कर सकती है कि इस नयी सत्ता में पूर्ववर्त्ती सत्ता से भिन्न व्यक्ति हों या उसका रूप भिन्न हो या दोनों ही भिन्न हों। किसी अन्य के दुष्कर्म के कारण समाज कभी अपने को सुरक्षित रखने का अपना प्रारम्भिक और मौलिक अधिकार नहीं खो सकता। केवल एक स्थापित व्यवस्थापक सत्ता, तथा उसके निर्मित विधानों के उचित और पक्षपातशून्य निष्पादन द्वारा ही समाज अपने को सुरक्षित रख सकता है। परन्तु मानव की दशा इतनी दयनीय नहीं है कि वह इस उपचार का प्रयोग उसी समय कर सके जब उसके पास अन्य कोई साधन शेष न रह जाय। यदि जनता नयी व्यवस्थापक सत्ता की स्थापना करके अपनी व्यवस्था तभी कर सके जब अत्याचार, कूट साधन या विदेशी सत्ता के सुपुर्द हो जाने पर उसकी मूल व्यवस्थापक सत्ता पूर्णतया नष्ट हो जाय, तो यह वही बत होगी कि उपचार की आशा उसी समय की जाय जब अनिष्ट का कोई उपचार सम्भव न रह जाय। यानी पहले वे दास बनें और तब वे अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करें और जब वे बन्धनों में जकड़ जावें, तब वे स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह आचरण करें। यदि ऐसा ही है तो यह मुक्ति न होगी, उसका उपहासमात्र होगा, और मनुष्य अत्याचारी शासन से कभी सुरक्षित न रह सकेंगे, क्योंकि जब तक वे पूर्णतया अत्याचार के शिकार न हो जायें, उनके पास उससे बचने का और कोई साधन न होगा। इसके विपरीत उन्हें अत्याचारी शासन से केवल छुटकारा पाने का ही अधिकार नहीं, वरन् उसका प्रतिशोध करने का भी अधिकार है।

२२१. अतः शासनों के विघटन की एक और रीति है और वह यह है—जब व्यवस्थापक सत्ता या राजा, दोनों में से कोई भी, अपने सुपुर्द कर्तव्य के उद्देश्य के विपरीत कार्य करे तब शासन विघटित किया जाय।

यदि व्यवस्थापक सत्ता अपनी वशंवद जनता की सम्पत्ति पर अनधिकारपूर्ण हस्तक्षेप करे, स्वयं को, या समाज के किसी अंश को जनता के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का स्वामी या स्वेच्छाचारी निर्णायक बनाने की चेष्टा करे, तो वह अपने कर्त्तव्य से विमुख और भ्रष्ट हो जाती है।

२२२. मनुष्य अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ही समाज में प्रवेश करते हैं। व्यवस्थापक सत्ता की स्थापना और अधिकार का उद्देश्य यह है कि ऐसे नियम हों जिनसे समाज के सब सदस्यों की सम्पत्ति की रक्षा हो सके और समाजके प्रत्येक सदस्य के अधिकार सीमित और संयत हों। स्पष्ट है कि समाज की इच्छा यह कदापि नहीं हो सकती कि व्यवस्थापक सत्ता को उसे नष्ट करने का अधिकार हो जिसकी सुरक्षा के हेतु समाज की स्थापना होती है और जिसके लिए जनता अपने बनाये हुए विधायकों के हाथ अपने को सौंप देती है। जब कभी व्यवस्थापक जनता की सम्पत्ति छीनने और नष्ट करने का प्रयास करते हैं, या जनता को स्वेच्छाचारी सत्ता के अधीन दास बनाने का प्रयास करते हैं, तो वे जनता के प्रति अपने को युद्ध की अवस्था में डाल देते हैं और जनता उनके आज्ञापालन से मुक्त हो जाती है तब जनता का वही सहारा शेष रह जाता है जिसकी व्यवस्था परमेश्वर ने समस्त मानव जाति के लिए बल और हिंसा का सामना करने के लिए की है। अतः जब भी कभी व्यवस्थापक सत्ता समाज के इस आधारभूत नियम का उल्लंघन करती है, और महत्त्वाकांक्षा, या भय, या मूर्खता, या भ्रष्टाचार से प्रेरित होकर, जनता के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर निरंकुश सत्ता हथियाने का, उसे किसी और के हाथ सौंपने का प्रयास करती है तो जनता के प्रति विश्वासघात करने के कारण, वह उस सत्ता से वंचित हो जाती है जो जनता ने उसे नितान्त भिन्न उद्देश्य के लिए सौंपी थी। तब जनता को अपना अधिकार पुनः प्राप्त हो जाता है और उसे नवीन व्यवस्थापक सत्ता को अपने विवेक के आधार पर स्थापित करने का अधिकार हो जाता है जो उनकी सुरक्षा की व्यवस्था कर सकें जिसके लिए उन्होंने समाज बनाया था। मैंने यहाँ जो कुछ व्यवस्थापक सत्ता के लिए कहा है, वह सामान्य रूप से सर्वोच्च कार्यकारिणी सत्ता पर भी लागू होता है। कार्यकारिणी के प्रति जनता का विश्वास दुगुना होता है। वह विधानों का निष्पादन करती है और विधिनिर्माण में भी उसका भाग होता है। कार्यकारिणी जब अपनी स्वेच्छाचारी इच्छा को समाज का विधान बना देती है, तो वह समाज के इन दोनों विश्वासों के प्रतिकूल कार्य करती है। जब राजा समाज की शक्ति, धन और अधिकारियों का प्रयोग प्रतिनिधियों को कर्त्तव्य भ्रष्ट करने और उन्हें अपनी ओर प्रभावित करने में करता है, जब वह प्रकट रूप से निर्वाचकों

को पहले ही वशीभूत कर लेता है और उन्हें केवल ऐसे व्यक्तियों को चुनने को बाध्य करता है जिन्हें उसने अनुरोध, अनुनय, धमकी या प्रलोभन से या अन्य उपायों से अपनी ओर मिला लिया है, और वह निर्वाचकों द्वारा ऐसे ही व्यक्तियों को निर्वाचित करवाता है जिन्होंने वचन दे दिया हो कि वे किसे मत देंगे और क्या विधान बनावेंगे, वह अपने ऊपर किये विश्वास के विरुद्ध कार्य करता है। उम्मीदवारों और निर्वाचकों को बाध्य करके, चुनावों को प्रभावित करने से शासन की जड़ ही कट जाती है और सार्वजनिक सुरक्षा का स्रोत दूषित हो जाता है। चूँकि जनता में अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार सुरक्षित रहता है, अतः यह आवश्यक है कि प्रतिनिधियों का स्वतन्त्र निर्वाचन हो और निर्वाचन के उपरान्त वे स्वतन्त्रता से कार्य करें और राज्य और जनता के हित में यथोचित पूरी जाँच और वाद-विवाद के बाद सलाह दें और अपना कार्य करें। जो व्यक्ति बिना वाद-विवाद सुने और सब पक्षों के तर्क पर विचार किये मतदान करते हैं, वे इसके अयोग्य हैं। ऐसे व्यक्तियों से बनी व्यवस्थापिका को स्थापित करना और अपने पहचाने हुए पिट्ठुओं को जनता के सच्चे प्रतिनिधियों और समाज के विधि-निर्माताओं के रूप में निर्वाचित करा देना, निश्चय ही शासन के साथ विश्वासघात करने तथा उसका विध्वंस करने की घोषणा करने के समान है। यदि हम शासक द्वारा ऐसे उद्देश्य के लिए खुल्लमखुल्ला पुरस्कार देने और उसका विरोध करने पर दण्ड का प्रयोग करने को भी ध्यान में रखें और उसके दुष्प्रयोजन में विघ्न डालनेवालों को, जो अपने देश की स्वतन्त्रता का घात करने को तैयार हों, विधान के समस्त विकृत रूपों की सहायता से हटाने या नष्ट करने के प्रयास पर भी विचार करें तो उन व्यक्तियों के कार्यों की प्रकृति के बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जो लोग इस प्रकार अपनी सत्ता का उसके सच्चे उद्देश्य के प्रतिकूल प्रयोग करते हैं, उन्हें कितनी सत्ता मिलनी चाहिये, यह निश्चय करना सरल है। जो एक बार ऐसा प्रयास करता है, उस पर निश्चय ही दुबारा विश्वास नहीं किया जा सकता।

२२३. परन्तु मेरे इस मत पर शायद यह आपत्ति की जाय कि चूँकि जनता अनभिज्ञ और सदैव असन्तुष्ट रहती है, अतः शासन की नींव जनता के ऐसे अस्थिर मत और अनिश्चित स्वभाव पर रखने से निश्चय ही, शासन का सर्वनाश हो जायगा। यदि शासन से तनिक भी असन्तुष्ट होने पर जनता नयी व्यवस्थापिका सत्ता का निर्माण कर सके, तो कोई भी शासन अधिक समय तक न टिक सकेगा। मेरा उत्तर यह है कि सत्य इसके विपरीत ही है। मनुष्य अपनी स्थापित प्रचलित व्यवस्था को इतनी सरलता से नहीं बदलते जैसा कुछ लोगों का विचार है। जिस प्रणाली की जनता अभ्यस्त हो जाती है,

उसके स्वीकृत दोषों में संशोधन के लिए वह कठिनाई से तैयार होती है। यदि कोई मौलिक दोष हों, या समय और भ्रष्टाचार के कारण आकस्मिक दोष आ गये हों, तो परिवर्त्तन की आवश्यकता को जानते हुए भी परिवर्त्तन करना उतना सरल नहीं होता। प्राचीन संविधानों को त्यागने में जनता के आलस्य या अनिच्छा के कारण इस देश में अभी और पूर्व काल में भी अनेक क्रान्तियाँ हुई है, परन्तु, फिर भी, हमने कुछ असफल प्रयासों के बाद व्यवस्थापक सत्ता के उसी पुराने रूप को——राजा, सामन्तों की सभा और साधारण जनता की सभा—को बनाये रखा है। घोर असंतोष के कारण जनता ने हमारे कुछ राजाओ को सिंहासनच्युत किया, परन्तु जनता ने कोई दूसरा राजवंश कभी स्थापित नहीं किया।

२२४. परन्तु शायद यह आपत्ति उठायी जाय कि इस सिद्धान्त से बारम्बार विद्रोह को बल मिलेगा। मेरा उत्तर यह है—

प्रथम, इस सिद्धान्त का, अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा, ऐसा परिणाम कदापि न होगा। जव जनता अति दुखी होती है और अपने को स्वेच्छाचारी सत्ता के दुरुपयोग का शिकार अनुभव करती है, तो वह हमेशा अपने शासकों के विरुद्ध आवाज उठाती है, चाहे राजाओं को परमेश्वर का अवतार घोषित कर दिया गया हो और उन्हें पवित्र और दिव्य, स्वर्ग से आये हुए, परमेश्वर से सत्ता प्राप्त भी मान लिया गया हो। आप अपनी इच्छुछासार जिसे जाहें जो सत्ता दें, जो पद चाहें प्रदान करें, परिणाम सदैव यही होगा। जिस जनता पर, उसके अधिकारों के विरुद्ध, निरन्तर अत्याचार हो रहा हो, वह अवसर पाने पर अपने को इस भार से——जो उसको दबा रहा है—मुक्त करने को आतुर रहेगी। वह अवसर की ताक में रहेगी। मानव जीवन में ऐसे अवसर परिवर्तन, दुर्बलता और आकस्मिक घटनाओं के कारण बारम्बार आया ही करते हैं। शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसे अपने जीवन में इसके उदाहरण देखने को न मिले हों और शायद ही कोई ऐसा पाठक हो जो संसार के सब प्रकार के शासनों से इसके उदाहरण प्रस्तुत न कर सके।

२२५. दूसरे, मेरा उत्तर यह है कि सार्वजनिक मामलों में प्रत्येक छोटे-मोटे कुप्रबन्ध के कारण ऐसी क्रान्तियाँ नहीं होतीं। राज्य संचालन में भयानक भूलें, बहुसंख्यक अनुचित और असुविधाजनक विधान और मानव-दुर्बलताजनित त्रुटियों को जनता बिना विद्रोह और शिकायत के सह लेगी; परन्तु यदि लम्बी अवधि तक लगातार दुर्व्यवहार, वाक्छल, और कूटसाधन एक ही दिशा की ओर लक्ष्य रखें और शासक का अभिप्राय जनता को स्पष्ट हो, और जनता को यह अनुभव हो कि वह किसके अधीन है और किस स्थिति की ओर जा रही है, तो कोई आश्चर्य नहीं कि उसमें आन्दोलन हो

और वह शासन सत्ता किसी ऐसे को सौंपने का प्रयास करें जो शासन के उस उद्देश्य को सुरक्षित रख सके जिसके लिये सर्वप्रथम शासन की स्थापना हुई थी। शासन के कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाने पर राज्य के पद और व्यवहार से उत्पन्न स्थिति प्राकृत अवस्था और अराजकता से भी गयी बीती हो जाती है, कष्ट और असुविधाएं कहीं अधिक बढ़ जाती हैं और उनका उपचार और भी अधिक दुःसाध्य हो जाता है।

२२६. तीसरे, मेरा उत्तर यह है कि जनता की सम्पत्ति पर आक्रमण करने और व्यवस्थापक सत्ता द्वारा विश्वास के प्रतिकूल व्यवहार करने पर, अपनी सुरक्षा के हेतु नवीन व्यवस्थापक सत्ता को स्थापित करने के जनता के अधिकार में विद्रोह को रोकने की सर्वोचित व्यवस्था है और यह अधिकार ही विद्रोह को रोकने का सर्वोपयुक्त साधन है। विद्रोह व्यक्तियों का विरोध नहीं, वरन्, शासन के संविधानों, और विधानों पर आधारित सत्ता का विरोध होता है। जो भी बल द्वारा उन संविधानों और विधानों का उल्लंघन करता है और बल द्वारा ही उस उल्लंघन को न्यायोचित प्रमाणित करता है, वही सच्चा और वास्तविक विद्रोही होता है। चूँकि समाज और राजनीतिक शासन में प्रवेश करते समय मनुष्य बल प्रयोग को वर्जित कर देते हैं और सम्पत्ति, शान्ति और एकता की सुरक्षा के लिए विधानों की स्थापना करते हैं, अतः जो इन विधानों के प्रतिकूल पुनः बल द्वारा शासन स्थापित करते हैं, वे ही विद्रोही हैं, क्योंकि वे पुनः युद्ध की अवस्था स्थापित करते हैं, और अपनी कथित सत्ता के बल पर, बलप्रयोग को प्रेरित करते हैं। विद्रोह की सर्वाधिक संभावना उन्हीं से होती है जो चाटुकारों से घिरे रहते हैं। अतः इस अनिष्ट को रोकने की सर्वोचित विधि यह है कि जिनकी ओर से ऐसे विद्रोह का सबसे अधिक भय हो, उन्हें विद्रोह की अन्याय्यता और अनिष्ट स्पष्ट कर दिया जाय।

२२७. पूर्वांकित दोनों ही दृष्टान्तों में, जहाँ व्यवस्थापक सत्ता में परिवर्त्तन हो, या जब व्यवस्थापक अपने अस्तित्व के उद्देश्यों के प्रतिकूल कार्य करे, दोषी का अपराध विद्रोह का अपराध होता है। यदि कोई बल द्वारा किसी समाज की स्थापित व्यवस्थापक सत्ता और उन निर्मित विधानों को अपदस्थ कर दे जो जनता ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाये थे, तो अपने इस कर्म द्वारा वह उस मध्यस्थता को समाप्त कर देता है जिसकी प्रत्येक व्यक्ति ने, अपने समस्त मतभेदों के शान्तिपूर्ण निर्णय के लिए और पारस्परिक युद्ध की अवस्था को रोकने के लिए, सहमति प्रदान कर, स्थापना की थी। व्यवस्थापक सत्ता को अपदस्थ करने या उसमें परिवर्त्तन करने वाले ऐसी निर्णायक सत्ता का अंत कर देते हैं जिसकी स्थापना केवल जनता की नियुक्ति और सहमति द्वारा ही हो सकती है। अतः ऐसी सत्ता को नष्ट करके, जिसे केवल जनता ही स्थापित कर सकती

है और ऐसी सत्ता को स्थापित करके जिसको जनता ने अधिकार नहीं दिया है, वे वास्तव में युद्ध की अवस्था स्थापित कर देते हैं, जो ऐसी अनधिकृत बलप्रयोग की अवस्था है। अतः समाज द्वारा स्थापित व्यवस्थापक सत्ता को हटाकर, जिसके निर्णयों को जनता अपने ही निर्णयों के रूप में स्वीकार करती थी, वे समाज के बन्धनों को तोड़कर जनता को पुनः युद्ध की अवस्था में डाल देते हैं। यदि बल द्वारा व्यवस्थापक सत्ता को अपदस्थ करने वाले विद्रोही होते हैं, तो जैसा मै कह चुका हूँ ऐसे व्यवस्थापक भी विद्रोहियों से कम न माने जायेंगे जिनकी स्थापना जनता की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए हुई थी, परन्तु जो बल द्वारा इसी सम्पत्ति और स्वतन्त्रता पर आघात कर इन्हें छीनने का प्रयास करें। वे ऐसी जनता के प्रति अपने को युद्ध की अवस्था में डाल देते हैं जिसने उन्हें अपना संरक्षक और अपनी शान्ति का रक्षक नियुक्त किया था। उन्हें वास्तव में हम जनता के प्रति विद्रोही ही कहेंगे।

२२८. कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि जनता में यह प्रचार किया जाय कि उनकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर अवैध आक्रमण होने पर वह आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं होती और जब अधिकारी जनता के विश्वास के विपरीत सम्पत्ति पर हस्तक्षेप करने लगें, तो वह शासकीय पदाधिकारियों के अवैध बलप्रयोग का विरोध कर सकती है, तो यह विद्रोह का बीजारोपण होगा और गृहयुद्ध और आन्तरिक कलह को प्रोत्साहन मिलेगा, अतः संसार की शान्ति को भंग करनेवाला ऐसा सिद्धान्त स्वीकार न करना चाहिए। इस मत के आधार पर तो आप यह भी कह सकते है कि ईमानदार व्यक्ति डाकुओं का विरोध न करे क्योंकि इससे खून-खच्चर और अशान्ति होगी। यदि विरोध से कोई अनिष्ट होता हो तो उसका दोषी अपनी सुरक्षा करनेवाला नहीं, वरन् वह होगा जो अपने पड़ोसी पर आक्रमण करता है। यदि निर्दोष और ईमानदार व्यक्ति, शान्ति बनाये रखने के लिए, चुपचाप अपने ऊपर बलात् आक्रमण करनेवाले को अपना सब कुछ सौंप दे, तो मै आपसे विचार करने का अनुरोध करूँगा कि संसार में यह किस प्रकार की शान्ति होगी जो हिंसा और लूट पर आधारित है और जो डाकुओं और अत्याचारियों के लाभ के लिए ही है। जब बिना प्रतिरोध किये बकरी का बच्चा घमन्डी भेड़िये द्वारा मारा जाना स्वीकार कर ले, तो कौन इस शक्तिशाली और नगण्य के बीच की शान्ति को प्रशंसा के योग्य समझेगा? पोलीफेमस की गुफ़ा में हमें ऐसी ही शान्ति का उदाहरण मिलता है। वह ऐसा शासन था जिसमें यूलिसीज और उसके साथी चुपचाप अपने भोजन की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके लिए कोई रास्ता न था। यूलिसीज़ निःसन्देह बुद्धिमान् था, उसने अपने साथियों को धैर्यपूर्वक आज्ञापालन करने का उपदेश

दिया और मानवजाति के लिए शान्ति की महत्ता बतला कर और यह दिखला कर कि अब अपने शासक पोलिफेमस के विरोध से कितनी हानि हो सकती है, चुपचाप आत्म-समर्पण करने को कहा।

२२९. शासन का उद्देश्य मानवजाति का हित और कल्याण है। क्या मानव-जाति के हित में यह उचित होगा कि जनता अत्याचारी शासन की निरंकुश इच्छा का शिकार बनी रहे, या यह कि शासक जब अपनी सत्ता के प्रयोग में अति करें और उसका प्रयोग जनता की सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए नहीं, वरन्, उसके विनाश के लिए करें, तो उसका कभी-कभी विरोध भी किया जा सके ?

२३०. ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जब कभी भी कोई उपद्रवकारी शासन में परिवर्त्तन चाहे, तुरन्त विद्रोह का प्रारम्भ हो जाय। यह सच है कि ऐसे व्यक्ति जब चाहें उपद्रव खड़ा कर सकते हैं, परन्तु ऐसा उपद्रव स्वयं उन्हीं के विनाश का कारण होगा, क्योंकि, जब तक अनिष्ट व्यापक न हो और शासकों के दुष्ट अभिप्राय सबको स्पष्ट न हों, तब तक जनता, जिसकी प्रवृत्ति विरोध करने की अपेक्षा सहन करने की अधिक होती है, आन्दोलन आरम्भ नहीं करती। यदा-कदा, किसी अभागे व्यक्ति पर अन्याय या अत्याचार होने का उदाहरण देकर उसे उकताया नहीं जा सकता। परन्तु यदि स्पष्ट प्रमाणों के आधार पर सर्वसाधारण में यह विश्वास दृढ़ हो जाये कि उनकी स्वतन्त्रता के विरुद्ध प्रयत्न किया जा रहा है और घटनाओं के सामान्य क्रम और प्रवृत्ति से उन्हें अपने शासकों के दुष्ट अभिप्रायों की पक्की आशंका हो जाय, तो इसमें दोष किसका होगा ? जो इसको रोक सकते हैं यदि वही सन्देह का कारण बन जायें, जिनका कर्त्तव्य ऐसी आशंका का निवारण है, तो कौन निवारण कर सकता है ? क्या यह दोष जनता का है कि वह विवेक सम्पन्न जीवों की तरह, जैसा वह देखती और अनुभव करती है, उसी के आधार पर अपने विचारों को निर्धारित करती है ? यह दोष क्या उनका नहीं है जो घटनाक्रम को ऐसे रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उसकी वास्तविक स्थिति पर विचार सम्भव न हो ? यह मैं स्वीकार करता हूँ कि मुट्ठी भर व्यक्तियों के अहंकार, महत्त्वाकांक्षा और उपद्रवी स्वभाव के कारण कभी-कभी राज्यों में घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है और स्वार्थी राजनीतिक दलों के कारण साम्राज्यों का विनाश हो चुका है। परन्तु यह निर्णय मैं निष्पक्ष इतिहास के जिम्मे छोड़ता हूँ कि क्या अनिष्ट का आरम्भ प्रायः जनता के उपद्रवी स्वभाव और अपने राजाओं की न्यायपूर्ण सत्ता को हटाने की प्रवृत्ति के कारण होता है, या शासकों के अहंकार और जनता पर अपनी स्वेच्छाचारी सत्ता स्थापित करने के प्रयास के कारण होता है। क्या यह अव्यवस्था

अत्याचार के फलस्वरूप पैदा होती है या आज्ञा के उल्लंघन से ? इस बात का मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो कोई भी---शासक हो या प्रजा---बल द्वारा शासकों या प्रजा के अधिकारों का अतिक्रमण करता है और न्यायपूर्ण शासन और संविधान को नष्ट करने का प्रयास करता है, वह मानवजाति के प्रति घोर अपराधी है, क्योंकि, लूट, रक्तपात, बरबादी के फलस्वरूप उस अनिष्ट का उत्तरदायित्व, जो शासन ध्वस्त होने पर प्रकट होता है, उसी व्यक्ति पर होता है। अतः जिस व्यक्ति के कारण ऐसा घोर अनिष्ट उपस्थित होता है, उसे मानवजाति का शत्रु और अनिष्टकारी समझना न्यायोचित है तथा उसके कर्मों का उपयुक्त प्रतीकार होना आवश्यक है।

२३१. इससे सभी सहमत होंगे कि यदि प्रजा या कोई विदेशी बल द्वारा किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अतिक्रमण करने का प्रयास करे, तो बल द्वारा उसका विरोध किया जाय, परन्तु अब कुछ लोग कह रहे हैं कि यदि शासकीय अधिकारी किसी की सम्पत्ति का अतिक्रमण करे तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि जिन्हें विधान द्वारा सर्वाधिक सुविधाएं और विशेषाधिकार प्राप्त हों, उन्हें उन विधानों का उल्लंघन करने का भी अधिकार है जिनके आधार पर उन्हें अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा ऊँचा स्थान प्राप्त है। सच तो यह है कि उनका अपराध गुरुतर होता है, क्योंकि, विधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के प्रति वे द्रोह करते हैं और जनता के प्रति विश्वासघात करते है।

२३२. अनधिकृत बलप्रयोग करनेवाले---और समाज में अवैध बलप्रयोग करने-वाले दोनों ही एक समान होते हैं---वे अपने को उन लोगों के विरुद्ध युद्ध की अवस्था में प्रस्तुत करते हैं जिनके विरुद्ध उन्होंने बल प्रयोग किया हो। युद्ध की अवस्था में समस्त पूर्व बन्धन विलुप्त हो जाते हैं, सब अधिकार समाप्त हो जाते है और सबको आक्रमण-कारी से अपनी रक्षा करने का, तथा उसका विरोध करने का अधिकार हो जाता है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि राजाओं की सत्ता और उसकी पवित्रता का सबसे अधिक दावा करनेवाला स्वयं बार्कले भी इसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ है कि कुछ परि-स्थितियों में जनता द्वारा अपने राजाओं का विरोध वैधानिक है। यह उसने उस अध्याय में स्वीकार किया है जिसमें वह यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि दैवी विधान जनता को किसी प्रकार का विरोध करने की अनुमति नहीं देता। स्वयं उसी के सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कुछ परिस्थितियों में जनता शासकों का न्याय सम्मत विरोध कर सकती है, तब जनता का शासकों के प्रति प्रत्येक विरोध विद्रोह नहीं कहा जा सकता। उसके शब्द हैं---

२३३. [1] "परन्तु यदि कोई पूछे, क्या जनता को सदैव ही अत्याचारी शासक की प्रचण्ड निर्दयता के आगे झुकना चाहिए ? क्या जनता अपने नगरों को लुटता हुआ और विध्वंस होता हुआ देखती रहे और अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को अत्याचारी शासक की कामाग्नि और क्रोध का शिकार होते हुए देखती रहे और अपना तथा अपने परिवार का राजा द्वारा सर्वनाश होता हुआ देखती रहे और कुछ भी न करे ? क्या केवल मनुष्य ही बल का विरोध बल द्वारा करने के उस व्यापक विशेषाधिकार से वंचित है जो प्रकृति ने अन्य सब जीवों को अनिष्ट से अपनी सुरक्षा करने के लिए यथेष्ट मात्रा में प्रदान किया है ? मेरा उत्तर यह है—आत्म सुरक्षा का अधिकार प्राकृतिक विधान का ही एक अंग है, और समाज के सम्बन्ध में यह अधिकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता चाहे इसका प्रयोग राजा के विरोध में ही क्यों न हो। परन्तु प्रत्येक दशा में, समाज को राजा से बदला लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती, क्योंकि, यह प्राकृतिक विधान के प्रतिकूल होगा। अतः यदि राजा में केवल मुट्ठी भर व्यक्तियों के प्रति ही नहीं, वरन् अपने पूरे देश की जनता के प्रति विद्वेष की भावना हो और अपनी सत्ता के असहनीय दुरुपयोग से वह सबके ऊपर, या अधिकांश जनता पर, निर्दयता से अत्याचार करे, तो इस स्थिति में जनता को उसका विरोध करने का और अपनी रक्षा करन का अधिकार होता है। परन्तु इसमें इस सावधानी की आवश्यकता है कि यद्यपि जनता अपनी रक्षा कर सकती है, परन्तु, वह राजा पर आक्रमण नहीं कर सकती। वह अपनी क्षतिपूर्ति कर सकती है, परन्तु किसी भी स्थिति में, राजा के प्रति यथोचित श्रद्धा और आदर की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। वह तात्कालिक अतिक्रमण का विरोध कर सकती है, परन्तु पूर्ववर्त्ती अत्याचारों का बदला नहीं ले सकती। यद्यपि हमें अपने जीवन और शरीर की रक्षा का प्राकृतिक अधिकार है, परन्तु एक निम्न व्यक्ति का श्रेष्ठ व्यक्ति को दण्ड देना प्रकृति के प्रतिकूल है। अनिष्ट की योजना को जनता कार्यान्वित होने के पूर्व ही रोक सकती है, परन्तु अनिष्ट हो जाने पर वह राजा से उसका बदला नहीं ले सकती, चाहे उस अनिष्ट का कारण राजा ही क्यों न हो। सामान्यतया, यही वह जनता का विशेषाधिकार है जो सभी व्यक्तियों को प्राप्त है। स्वयं हमारे विरोधी [बुचानन (Buchanan) के अतिरिक्त] भी मानते हैं कि मुट्ठी भर व्यक्तियों के लिए इस अत्याचार का धैर्य के अतिरिक्त और कोई उपचार नहीं है, परन्तु, जनता असहनीय अत्याचार का आदर सहित विरोध कर सकती है। जब यह अत्याचार थोड़ी मात्रा में

१. मूल लैटिन से लॉक के अंग्रेजी अनुवाद का रूपान्तर।—अनु०

ही हो तो जनता को उसे सहन करना ही उचित है।" (बार्कले) कॉन्ट्रा मोनार्कोमैकॉस, १, ३, अ. ८)

२३४. राजकीय सत्ता का यह घोर समर्थक भी इतनी सीमा तक राजद्रोह की अनुमति देता है।

२३५. यह सच है कि उसने, अकारण, दो प्रतिबन्ध लगा दिये हैं —

प्रथम, वह कहता है कि विरोध आदर सहित होना चाहिए।

द्वितीय यह कि, विरोध प्रतिशोध रहित और दण्डहीन होना चाहिए। और इसके लिए वह यह कारण देता है कि "श्रेष्ठ को निम्न व्यक्ति दण्ड नहीं दे सकता।"

प्रथम तो, बल के बिना बल का निराकरण कैसे किया जा सकता है, या वह विरोध आदर सहित कैसे किया जा सकता है इसे समझने के लिए बड़ी चतुराई और दक्षता की आवश्यकता है। जो अपने ऊपर प्रहार का सामना, बचाव के लिए केवल एक ढाल लेकर, या इससे अधिक किसी और आदरसूचक रीति से करता है, और आक्रमणकारी के साहस और बल का सामना करने के लिए अपने हाथ में तलवार नहीं लेता, उसका विरोध अधिक समय तक न टिक सकेगा। सुरक्षा के ऐसे ढंग से तो आक्रमण की तीव्रता और बढ़ेगी ही। सामना करने का यह ढंग, जैसा जुवेनाल का विचार था, हास्यास्पद है। ऐसे युद्ध का परिणाम तो अनिवार्यतः वही होगा जिसका वर्णन वह इन शब्दों में करता है —

"स्वतन्त्रता का अर्थ निर्धन के लिए यह है कि वह प्रहार होने पर मौखिक विरोध करे, पीड़ित किये जाने पर वह गिड़गिड़ाये कि उसे बहुत त्रस्त न किया जाय।"

ऐसा विरोध, जिसमें कोई व्यक्ति आक्रमणकारी पर प्रहार न कर सके, सदैव कल्पनातीत होगा। अतः स्पष्ट है कि प्रतिरोधी को प्रहार करने का अधिकार होना चाहिए। हमारे लेखक से, या किसी और से कहिए कि वह यथेष्ट श्रद्धा और आदर के साथ किसी के सिर पर लाठी मारे। जिसे एक साथ प्रहार और आदर करने की योग्यता हो, तो, यदि वह चाहे, तो मैं उसे इस योग्यता का पुरस्कार सादर प्रहार के रूप में ही दूंगा।

द्वितीय, लेखक का दूसरा प्रतिबन्ध है कि "श्रेष्ठ को अवर व्यक्ति दण्ड नहीं दे सकता।" यदि वह व्यक्ति वास्तव में श्रेष्ठ हो तो यह प्रतिबन्ध सामान्यतया मान्य भी हो सकता है। परन्तु बल का विरोध बल द्वारा करने से और युद्ध की अवस्था स्थापित हो जाने से, उभय पक्ष समान स्तर पर आ जाते है और उनके मध्य आदर, श्रद्धा और श्रेष्ठता के सब पूर्व सम्बन्ध समाप्त हो जाते है। उस समय स्थिति यह होती है कि

अन्यायपूर्ण आक्रमणकारी का विरोध करनेवाले को, विरोध में सफल हो जाने पर, अपराधी को शान्ति भंग करने और उसके फलस्वरूप हुए अनिष्टकारी कृत्यो के लिए दण्ड देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, और इस दृष्टि से, उसकी स्थिति श्रेष्ठ होती है। आगे चलकर बार्कले, (अपनी दृष्टि से) कुछ अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से कहता है कि किसी भी स्थिति मे राजा का विरोध करना अवैधानिक है। परन्तु वह दो परिस्थितियाँ बतलाता है जिनके वश राजा अपने राजसिंहासन को त्याग दे। उसके शब्द यह है —

२३७. [१] "क्या ऐसा कोई मौका कभी नहीं आ सकता जब जनता को शस्त्र ग्रहण कर, ऐसे राजा के विरुद्ध युद्ध करने का अधिकार हो जो अपनी प्रभुता के मद में उन पर अत्याचार कर रहा हो? जब तक वह राजपद पर आसीन रहता है, तब तक जनता को ऐसा अधिकार कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। 'अपने राजा का आदर कर', और 'जो सत्ता का विरोध करता है, वह परमेश्वर के आदेश का विरोध करता है'—यह परमेश्वर के वचन हैं जो ऐसे विरोध की कभी अनुमति नहीं देते। अतः जब तक राजा कोई ऐसा कार्य न करे जिससे वह राजा न रह जाये, तब तक जनता को कभी राजा के विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अपदस्थ होने पर राजा राजसिंहासन की प्रतिष्ठा से वंचित हो जाता है और एक साधारण व्यक्ति की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में, जनता स्वतन्त्र और उससे श्रेष्ठ हो जाती है। राजपद स्थापित करने के पूर्व, राजत्व से पूर्वकाल में, जनता को जो सत्ता प्राप्त थी, वह उसे पुनः प्राप्त हो जाती है। परन्तु ऐसी स्थिति लानेवाली परिस्थितियाँ बहुत कम उपस्थित होती हैं। सब दृष्टिकोणों से विचार करने पर, मैं ऐसी दो परिस्थितियाँ ढूंढ़ पाया हूँ—जब राजा स्वतः ही राजा नहीं रह जाता और जनता पर उसके राजकीय अधिकार और सत्ता का अन्त हो जाता है। विन्ज़ेरिस (Winseris) ने भी इन पर विचार किया है। इनमें से एक परिस्थिति वह है जब राजा स्वयं ही शासन को समाप्त करने का प्रयास करे, अर्थात् जब उसका उद्देश्य, और उसकी चेष्टा, राज्य का सर्वनाश करना हो, जैसे नीरो के लिए कहा जाता है कि उसने सिनेट और रोम की जनता को नष्ट करने का संकल्प किया था और सारा नगर अग्नि तथा खड्ग को समर्पित कर किसी अन्य स्थान को चले जाने का निश्चय किया था। केलीग्यूला (Caligula) ने भी स्पष्ट घोषणा की थी कि वह जनता या सिनेट का प्रधान नहीं रहेगा और उसका विचार उनके योग्यतम सदस्यों को मौत के घाट उतार, एलिक्जांड्रिया (Alexandia) जाकर वहाँ बसने

१. मूल लैटिन से लॉक के अंग्रेजी अनुवाद का रूपान्तर।—अनु०

का था। उसकी अभिलाषा थी कि यदि समस्त जनता की एक ही गर्दन होती तो वह एक ही बार में सबका काम तमाम कर देता। जब किसी राजा के ऐसे विचार हों और वह उन्हें सचमुच कार्यान्वित करना चाहता हो, तो यह मानना उचित होगा कि उसने राज्य का हित त्याग दिया है, और, फलस्वरूप, उसने अपनी प्रजा पर शासन करने का अधिकार उसी प्रकार खो दिया है, जैसे स्वामी अपने दासों का परित्याग करने पर उन पर अपना स्वामित्व खो देता है।

२३८. दूसरी परिस्थिति यह है—जब राजा स्वयं किसी अन्य के अधीन हो जाय और उसे जो राज्य अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था तथा जनता ने जिसे स्वतन्त्र स्थिति में राजा को दिया था, उसे वह किसी अन्य के अधीन कर दे। उसका अभिप्राय चाहे जनता के हित के प्रतिकूल न हो, किन्तु, इस कार्य से वह अपनी राजकीय सत्ता का मुख्य अंश गवाँ बैठता है—अर्थात् वह अंश जिसके अन्तर्गत राज्य में, केवल परमेश्वर को छोड़कर, उसकी ही सर्वोच्च सत्ता होती है। वह अपनी जनता के साथ विश्वासघात करता है और जिस स्वतन्त्रता की सावधानी से रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था उसे वह वैदेशिक सत्ता के हाथ सौंप देता है। इस प्रकार, अपने राज्य को अन्य को सौंप देने से वह स्वयं उस सत्ता को गवाँ देता है जो उसे अपने राज्य पर प्राप्त थी साथ ही, वह अपने राज्य पर कोई भी अधिकार दूसरे को हस्तान्तरित नहीं करता। अतः अपने ऐसे कर्म से वह जनता को अपनी व्यवस्था स्वयं करने के लिए स्वतन्त्र कर देता है। इसका एक उदाहरण स्कॉटलैण्ड के इतिहास में मिलता है।" (बार्कले, कौन्ट्रा मोनारकोमेकोस, १, ३, अध्या० १६)

२३९. निरंकुश राजतन्त्र का महान् समर्थक बार्कले यह स्वीकार करने को बाध्य होता है कि इन दो परिस्थितियों में राजा का विरोध किया जा सकता है और राजपद का अन्त हो जाता है। संक्षेप में, जहाँ राजा की सत्ता नहीं होती, वहाँ राजपद नहीं होता और राजा का विरोध किया जा सकता है। जब राजा की सत्ता का अन्त हो जाता है, राजपद भी समाप्त हो जाता है, और राजा तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं रह जाता जिनके पास कोई सत्ता न हो। बार्कले के यह दोनों तर्क, शासनों के विघटन के सन्दर्भ में उल्लिखित मेरे तर्कों से भिन्न नहीं है, अन्तर केवल यह है कि बार्कले न उस मूलभूत सिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया है जिस पर उसका मत आधारित है। वह सिद्धान्त यह है कि स्थापित शासन का विध्वंस विश्वासघात के कारण होता है। शासन के उचित उद्देश्य—जन कल्याण और सम्पत्ति की सुरक्षा—की अवहेलना से शासन पर आघात होता है। जब राजा स्वयं अपने को सिंहासनच्युत करके, जनता के प्रति युद्ध

की अवस्था ला खड़ी करे, तो उसे, जो अब राजा नहीं रहा, ऐसा दण्ड क्यों नहीं दिया जा सकता जैसा जनता के प्रति युद्ध की अवस्था स्थापित करनेवाले अन्य किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है ? मैं उपर्युक्त प्रश्न बार्कले और उसके सिद्धान्त के समर्थकों से पूछता हूँ। बिलसन (Bilson) जो हमारे चर्च का एक बिशप है और राजाओं की सत्ता और विशेषाधिकारों का महान् समर्थक है, अपने निबन्ध "ईसाई धर्म की अधीनता" (Christian Subjection) में यह स्वीकार करता है कि राजा अपने अधिकारों और प्रजा द्वारा उसके आज्ञापालन के स्वामित्व से वंचित हो सकता है। यदि इस स्पष्ट युक्तिपूर्ण तथ्य के लिए अन्य प्रमाण पुस्तकों की आवश्यकता हो तो मैं अपने पाठकों के समक्ष ब्रैक्टन (Bracton), फोर्टेस्क्यू (Fortescue), और मिरर (Mirror) के लेखक की तथा अन्य वे पुस्तकें प्रस्तुत कर सकता हूँ जिनके लेखक हमारी शासन प्रणाली से अनभिज्ञ या उसके शत्रु नहीं कहे जा सकते। परन्तु मेरा विचार है कि केवल हुकर के लेखों से ही ऐसे मतावलम्बियों का समाधान हो जायगा जो उसकी धर्माधारित समाज व्यवस्था से तो सहमत हैं, परन्तु जिस आधार पर वह इस व्यवस्था की स्थापना करता है, उससे असहमत है। इसे तो वे ही जान सकते हैं जिन्होंने स्वयं अपने तर्कों का खण्डन अन्य चतुर तर्कों से प्रभावित होकर किया है। इतना मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका राजसिद्धान्त इतना नवीन और आपत्तिजनक है तथा राजा और प्रजा दोनों के लिए इतना विनाशकारी है कि पूर्ववर्त्ती शताब्दियों में इसकी विवेचना तक सहन नहीं की जा सकती थी। हमें आशा है कि भविष्य में भी, जनता ऐसे विचारों से मुक्त हो, दासत्व के इन पुजारियों को जिन्होंने अपने स्वार्थसाधन के लिए इस सिद्धान्त से निरंकुश अत्याचारी शासन का और मनुष्य की दासता का समर्थन किया है घृणा की दृष्टि से देखेगी। ऐसी दासता के उपयुक्त पात्र तो वे स्वयं हैं।

२४०. यहाँ शायद यह प्रश्न पूछा जाय कि इसका निर्णय कौन करेगा कि राजा या व्यवस्थापक सत्ता अपने विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है? हो सकता है कि जब राजा केवल अपने न्यायोचित विशेषाधिकार का प्रयोग कर रहा हो, दुष्ट और उपद्रवी व्यक्ति जनता में दुर्भावनाएँ फैलायें। मेरा उत्तर है कि इसका निर्णय जनता ही करेगी। न्यासधारी या प्रतिनिधि, उचित रूप से, अपने ऊपर किये गये विश्वास निक्षेप के अनुकूल कार्य कर रहे हैं या नहीं, इसका निर्णय उन्हें प्रतिनियुक्त करनेवालों के अतिरिक्त और कौन कर सकता है? जिन्होंने नियुक्त किया है, वे ही इस आधारभूत विश्वास का भंग होने पर उन्हें पदच्युत भी कर सकते हैं। यदि यह तर्क सामान्य व्यक्तियों के लिए युक्ति संगत है तो ऐसे सर्वाधिक महाबलशाली शासन के लिए वही तर्क क्यों न

लागू हो, जिस पर करोड़ों के कल्याण का भार होता है और जिस पर नियंत्रण न होने से कहीं ऐसे अधिक अनिष्ट की सम्भावना होती है जिसका उपचार कठिन, व्ययसाध्य और आशंकापूर्ण होता है।

२४१. परन्तु "कौन निर्णय करे ?"—इस प्रश्न का अर्थ यह नहीं है कि कोई निर्णयकर्त्ता उपलब्ध ही नहीं है। जहाँ मनुष्यों के मध्य मतभेदों का निर्णय करने के लिए पृथ्वी पर कोई न्यायाधीश उपलब्ध नहीं होता, वहाँ परलोक में परमेश्वर न्याय करता है। यह सच है कि परमेश्वर ही उचित और अनुचित का एकमात्र निर्णायक है। परन्तु, अन्य सब मामलों की तरह इस प्रश्न पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्णय स्वयं करता है कि किसी ने उसके प्रति युद्ध की अवस्था स्थापित की है या नहीं और क्या उसे सर्वोच्च न्यायाधीश के समक्ष अपील प्रस्तुत करनी चाहिए, जैसे जैफ़ेथा ने की थी, या नहीं।

२४२. यदि राजा और प्रजा के कुछ व्यक्तियों के मध्य कोई ऐसा विवादास्पद विषय उठ खड़ा हो जिस पर विधानों की कोई व्यवस्था न हो, या व्यवस्था अस्पष्ट हो और विवाद का विषय अति महत्त्वपूर्ण हो, तो मेरे विचार से ऐसी स्थिति में उचित निर्णायक प्रजा ही होनी चाहिए; क्योंकि राजा प्रजा के विश्वास का भाजन होता है और समाज के प्रचलित सामान्य विधानों से ऊपर भी। ऐसी स्थिति में यदि प्रजा में असंतोष हो और उसमें यह भावना हो कि राजा अपने उत्तरदायित्व के प्रतिकूल और जनता के विश्वास की सीमा के बाहर कार्य कर रहा है, या वह सीमा क्या है तो इसका निर्णय करने के लिए उस प्रजा से जिसने उसे अपना विश्वास भाजन बनाया था अधिक उपयुक्त और कौन हो सकता। परन्तु यदि राजा, या जो भी प्रशासन कर रहा हो, वह प्रजा का निर्णय अस्वीकार कर दे, तो उसकी अपील फिर परमेश्वर के समक्ष ही हो सकती है। जिनके मध्य अपने से श्रेष्ठतर सत्ता संसार में उपलब्ध न हो, या जिनके लिए संसार में कोई ऐसा सर्वमान्य न्यायकर्त्ता न हो, जिसके समक्ष वे अपील कर सकें उनके मध्य बलप्रयोग होने पर युद्ध की अवस्था स्थापित होती है, और उसके विरुद्ध अपील परमेश्वर के समक्ष ही होती है। ऐसी अवस्था में क्षतिग्रस्त व्यक्ति को स्वयं निर्णय करना पड़ेगा कि वह ऐसी अपील कब करे।

२४३. **उपसंहार**—जो सत्ता प्रत्येक व्यक्ति ने, समाज में प्रवेश करते समय, समाज को सौंपी थी, वह जब तक समाज बना रहेगा, तब तक पुनः उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं हो सकती। वह सदैव समाज के हाथों में बनी रहेगी, क्योंकि इसके बिना किसी समाज, या किसी राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। सत्ता का ऐसा विघटन मूलभूत

अनुबन्ध के विपरीत होगा। इसी प्रकार समाज वह व्यवस्थापिका सत्ता व्यक्तियों की किसी सभा को सौंपता है जो उन व्यक्तियों तथा उनके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है। ऐसे उत्तराधिकारियों को निर्धारित करने के लिए वह निर्देश और अधिकार भी निर्धारित करता है। ऐसी स्थिति में, जब तक वह शासन बना रहेगा, तब तक व्यवस्थापिका सत्ता भी जनता को पुनः प्राप्त नहीं हो सकती। चिरस्थायी व्यवस्थापक सत्ता स्थापित करने से जनता अपनी राजनीतिक सत्ता उसको सौंप देती है और जनता उसे पुनः हस्तगत नहीं कर सकती। परन्तु यदि जनता ने व्यवस्थापिका सत्ता की अवधि सीमित की हो, और इस सर्वोच्चसत्ता प्राप्त व्यक्ति या सभा को अस्थायी काल के लिए नियुक्त किया हो, या जब सत्ताधारी अपनी सत्ता के दुरुपयोग के कारण अधिकार खो दें, तब शासकों द्वारा सत्ता पर अधिकार खो देने के कारण, या नियत अवधि समाप्त हो जाने पर, यह सत्ता पुनः समाज को प्राप्त हो जाती है और जनता को सर्वोच्च सत्ता की भाँति स्वयं कार्य करने तथा विधिनिर्माण करने का, या नयी व्यवस्थापक सत्ता स्थापित करने का या उसे अन्य व्यक्तियों को सौपने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

अनुक्रमणिका